हिन्दू-मुस्लिम साँस्कृतिक एकता का इतिहास

(इस्लाम के अभ्युदय से 1526 ई० तक)

प्रकाशक
राज पब्लिशिंग हाउस
9/5123, पुराना सीलमपुर पूर्व, दिल्ली-110031
दूरभाष : 2203781

हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता का इतिहास

प्रथम भाग

(संशोधित तथा परिवर्द्धित)

रामफल सिंह

● हिन्दी अकादमी द्वारा पुरस्कृत

PUB... Y
SL. ... NO
MR. ... 32,711

हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता का इतिहास : प्रथम भाग : रामफल सिंह /
प्रकाशक : राज पब्लिशिंग हाउस, 9/5123, पुराना सीलमपुर पूर्व,
दिल्ली-110031, मुद्रक : अशोक कम्पोजिंग एजेन्सी,
द्वारा, आज़ाद प्रिंटर्स, पुराना सीलमपुर पूर्व, दिल्ली-110031

मूल्य : दो सौ रुपये मात्र

Hindu-Muslim Sanskritik Ekta ka Itihas. (Part First)
By
Ramphal Singh

Rs. 200/- Only



मानव एकता वादियों को
सादर समर्पित



FOREWORD

I congratulate Mr. R. P. Singh for producing such a nice book. This is a work of very hard nature. Author has completed the work by burning midnight oil. It would be better if some light may be thrown on Bhakti and Sufi movements and on its pioneers. They were the real founders and crusaders of Hindu-Muslim unity. Kabir, Guru Nanak, Khwaja Muijuddin Chisti, Nizamuddin Auliya etc, did a lot of work for communal harmony among the masses.

It is irony of the fate that communalists proved more powerful than reformers. India has been divided and Islamic Republic of Pakistan is preaching communal fanaticism. How communal dragon can be tamed is a million dollar question. This book has attempted to remove historical bias and prejudices. As such Mr. R. P. Singh deserve our gratitude for his endevour.

Rajdhani College,
University of Delhi
New Delhi-15

Dr. R. S. Chaurasia
M.A., L.L.B, Ph.D

FOREWARD

Shri R. P. Singh opend his eyes in a village of western U. P. where he found a beautiful intermingling of the pople of various castes and religions. This left a deep impact on his mind. While studying history his mind always went back to the sweet memories of his early childhood and he wondored why the people fight on religious issues ? There is no doubt that inspite of close contacts of the two communities pepole generally are not aware of the basic historical processes and traditons of the two communities. This unawareness hasted to so many problems as well as to more pressing need to bring the people of various castes and communities closer. Shri R. P. Singh is the right person who has taken up the project. He rightly claims to find the most beautiful glimpses of national integration in the villa-ges of India. It is hoped that his sincere efforts will bear fruit as in the words of Dr Iqbal.

Dil se jab baat nikaltee hai asar rakhti hai,
Par Nahih taaqat-i-parwaz magar rakhti hai

The work of Shri R. P. Singh is an outcome of his sincere efforts for a noble cause.

If his book the "The cultural History of Hindu-Muslim-Unity is received warmly his efforts will be amply rewarded.

Dr. Qamaruddin
Reader
National Council of Educational
Research And Trianig (NCERT)

Shri Aurobindo Marg
New Delhi-110047

दो शब्द

मेरा जन्म एक गाँव मे हुआ। मैं अपने बचपन में देखता था कि गांव की हिन्दू स्त्रियां देवी-देवताओं की पूजा करती थीं। गांव की पूर्वी सीमा पर पीर का मजार भी बना हुआ था, वह उस मजार पर भी पूजा करने जाया करती थीं। इन बातों को जब मैं स्वयं न समझ सका तो मैंने कुछ स्त्रियों से पूछा कि आप इस पीर की पूजा करने इतनी दूर क्यों आती हैं जबकि इसे अपने धर्म का भी नहीं बताती हैं। मुझे बताया गया कि ईश्वर को किसी भी रूप में याद किया जा सकता है, इसको एक ही धर्म से क्यों जोड़ा जाये ? हमारा उद्देश्य केवल उसकी पूजा करके अच्छा फल प्राप्त करना है। साथ ही उन्होंने दिखाया कि मुस्लिम स्त्रियां हिन्दुओं की देवी माता की पूजा कर रही थीं। जब इस विषय में जानकारी प्राप्त की तो पता चला कि चेचक के निकलने के समय हिन्दुओं की भांति देवी माता की पूजा मुसलमानों द्वारा भी की जाती है। अर्थात् अपने लाभ के लिए हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के देवी-देवताओं अथवा फकीरों की पूजा करने मे नहीं झिझकते। इतिहास विषय के अध्ययन में मेरी रूचि प्रारम्भ से ही है। मैं अपने विद्यार्थी जीवन से ही ऐसा सोचा करता था कि अगर मुझे कभी समय मिला तो मैं एक ऐसी पुस्तक अवश्य लिखूंगा जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता के पहलुओं पर अधिक प्रकाश डाला जा सके और जिसमें यह दिखाया जा सके कि इन दोनों धर्मों के मानने वाले एक-दूसरे के कितने निकट हैं। लड़ने को तो महाभारत काल में क्या हिन्दू से हिन्दू नही लड़ा ? प्राचीन भारत के इतिहास का जब अध्ययन किया जाता है तो उसमें भी हमें लड़ाईयां ही लड़ाईयां दिखाई देती हैं। अगर मुस्लिम देशों के इतिहास का अध्ययन किया जाये तो उनमें भी आपस में अनेक लड़ाईयां देखने को मिलती हैं। शायद इतनी लड़ाईयां हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच नहीं हुई होंगी।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के विषय में पुस्तक लिखने के लिए मैंने श्री बृजलाल गुप्ता, प्रधानाचार्य, रा० उ० मा०बा०वि० ब्रह्मपुरी, शाहदरा, दिल्ली से विचार-विमर्श किया और उन्होंने इस विषय पर न केवल अमूल सुझाव ही दिये बल्कि इसके लिये प्रेरणा भी दी तथा साथ ही उन्होंने संदर्भ पुस्तकों के नाम तथा

इनकी प्राप्ति में भी सहायता की। इसके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ। श्री आर० एस० चौरासिया, प्रोफेसर राजधानी कालिज, दिल्ली को मैंने अपना कार्य दिखाया और उन्होंने उसकी भली-भांति जांच करने के लिए बहुमूल्य सुझाव ही नहीं दिये बल्कि इस कार्य को भली-भांति सम्पन्न करने के लिए प्रेरित भी किया और संदर्भ पुस्तकों को भी बताया जिनकी सहायता से मैं अपने विषय में आगे बढ़ सका तथा भक्ति और सूफी आंदोलन आदि पर लिख सका। इसके लिये मैं अपनी आभार प्रकट करता हूं। डा० चौरासिया जी के साथ ही मैं डा० कमरुद्दीन रीडर, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली से भी अमूल्य सुझाव प्राप्त करता रहा और उन्होंने केवल सुझाव तथा पुस्तकें ही नहीं दीं परन्तु पुस्तक की भी भली-भांति जांच की और पुस्तक को प्रस्तुत रूप दिलाने में अमूल्य सहयोग प्रदान किया जिसके लिये मैं उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूं।

मैं श्री आर० पी० सिंह, भूतपूर्व संयुक्त सचिव, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, अब सीनियर रीडर, रा० शै० अनु० एवं प्र० परिषद नई दिल्ली, का भी हार्दिक धन्यवाद करता हूं, जिन्होंने संदर्भ पुस्तकों के विषय में ज्ञान प्राप्त कराया।

डा० ओ० पी० सिंह, उप प्रधानाचार्य, श्याम लाल कॉलेज, जी. टी. रोड शाहदरा-दिल्ली का भी मैं आभारी हूं जिन्होंने पुस्तक की प्रति देखकर अपने विचार प्रेषित करने का कष्ट किया।

अन्त में अपने कर्त्तव्य पालन से विमुख रहूंगा यदि मैं यथार्थवादी लेखक श्री कृष्ण 'मायूस' एवं राज पब्लिशिंग हाऊस-सीलमपुर, जिन्होंने इस पुस्तक के सम्पादन एवं प्रकाशन का भार अपने ऊपर लेकर राष्ट्रीय एकता के लिये एक अनिवर्चनीय पग उठाया है का हृदय से धन्यवाद नहीं करता हूं।

इसी प्रकार कौशिक प्रिंटिंग प्रैस शाहदरा के श्री विनोद कौशिक जी का भी मैं आभारी हू जिन्होंने पुस्तक के ठीक ढंग से प्रकाशन में काफी कठिन परिश्रम कर सहयोग दिया है।

इन सबके साथ ही मैं श्रीमती जसबीर कौर सैनी पुस्तकालयध्यक्ष रा० उ० मा० बा० वि० शकरपुर, दिल्ली-110092 का धन्यवाद करता हूं, उन्होंने मुझे पुस्तकें उपलब्ध कराने में बहुत ही सहयोग दिया।

अन्त मे, श्री ओ० पी० सिंगल का आभार प्रकट करना नहीं भूल सकता जिन्होंने पूरी पुस्तक का अध्ययन करके भाषा शुद्ध करने का कठिन कार्य किया।

आर० पी० सिंह

बिहारी कालोनी
दिल्ली-110032

भूमिका

समूचा भारत सुलग रहा है—पंजाब से त्रिपुरा तक, बंगाल से गोवा तक, कश्मीर से तमिलनाडु तक, गुजरात से नागालैन्ड तक और केरल से मणिपुर तक और किसी को मालूम नहीं कि समस्या का हल कैसे होगा। सरकार कह रही है कि हम आग को आग से दबा देंगे और विरोधी पार्टियों से भी यही आवाज आ रही है कि बन्दूक का उत्तर बन्दूक से दिया जाये। विशेष यह है कि यह उन लोगों की ओर से कहा जा रहा है जो यह दावा करते हैं कि वे किसी न किसी रूप में गांधीजी के अनुयायी हैं। देश का आम आदमी असहायता की इस स्थिति में मूक दर्शक बना है।

धर्म के आधार पर '47 ई० में भारत माता के अंग-छेदन जैसा जघन्य कृत्य स्वीकार किया गया परन्तु क्या धार्मिक वैमन्यस्यता को मिटाया जा सका? क्या इन 40 वर्षों में धार्मिक अन्ध-विश्वासों की सीढ़ी पर चढ़कर स्वार्थ-लोलुप कठ-मुल्ले एवं तथा कथित पंडित लगभग 400 बार भारत की शांति को साम्प्रदा-यिकता की अग्नि में झोंक देने में सफल नहीं हुए? 1951 ई० में आन्ध्र के श्री पोट्टू श्री रामलु की आत्माहुति के पश्चात् भाषा के आधार पर राज्यों के गठन के बाद भी क्या हरियाणा, पंजाव, गोवा, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक आदि राज्यों में मानव-रक्त की पिपासा से भारत-धरा स्वतंत्र हो पाई? क्या आरक्षण विरोध तथा आरक्षण पक्ष के रूप में ऊंच-नीच के दैत्य ने भारत-भू को लीलना बन्द कर दिया? क्या नस्ल के आधार पर स्वतंत्र राज्यों की स्थापना के लिये, नागालैंड, त्रिपुरा, मणिपुर, गोरखालैंड तथा खालिस्तान आदि के समर्थकों द्वारा अहर्निश की जा रही नृशस हत्याओं, लूट-पाट आदि की घटनाओं को रोका जा सका?

भारत के कानून की अवहेलना कर जब ये आन्दोलनकारी संविधान की प्रतियां जलाते हैं, भारत के राष्ट्र-ध्वज को जलाने व फाड़ने की बात करते हैं तो उस समय ये स्वयं को भारत का नागरिक नही मानते और इनके मन में भारत के संविधान तथा इसकी एकता के प्रति निष्ठा नहीं होती। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या शेष राष्ट्र भी इनको भारत का नागारिक मानना बन्द कर दे या इनको भारत की क्रोधी और बहकी हुई सन्तान मानकर इनके साथ बातचीत का रास्ता

अपनाये और इनकी समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने व सुलझाने का प्रयत्न करे ?

मार्ग से भटके हुए ये विद्रोही जिस रास्ते पर चलते हैं यदि भारत सरकार, भारत के राजनीतिज्ञ और भारत की आम जनता भी उसी पर चलती रहे और जड़तापूर्वक यह विश्वास करने लग जाये कि बन्दूक का सामना बन्दूक से ही किया जा सकता है और उससे सफलता मिल सकती है तो मानना होगा कि उन्होंने अपने और दुनिया के इतिहास से कुछ नहीं सीखा और वे लोकतान्त्रिक मान्यताओं के प्रति आस्थावान नहीं है वरन् प्रतिक्रियावादी तथा सामंती आग्रहों से जकड़े हुए हैं। बन्दूक से देश को शमशान तो बनाया जा सकता है, शान्ति नहीं लौटायी जा सकती। शान्ति के लिए तो करुणा के रस की धारा के बहाये जाने की आवश्यकता है।

झगड़े, आगजनी तथा लूटपाट करते समय भारत माता के ये गुमराह बेटे जिस प्रकार अविवेकपूर्वक दूसरे लोगों को मौत के घाट उतार देते हैं क्या उन मृत लोगों के माता-पिता, इनके बन्धु-बान्धव, इनके मित्र, जाति-बन्धु और सम्प्रदाय के लोग कभी इनको भूल पायेंगे ? प्रश्न यह है कि मरने वाले कौन हैं ? कोई किसी को भी मारे दोनों और हैं तो हमारे अपने घर के ही लोग। अतः हम भारत के लोगों को तो इनकी चिता सजानी ही पड़ती है, किसी-न-किसी रूप में हमारी ममता तथा आस्था मरने वाले के साथ हो ही जाती है। क्या इनके दिल आततायियों के प्रति घृणा से नहीं भर जाएँगे और घोर प्रति-हिंसा के लिए उत्प्रेरित नहीं होंगे ? परन्तु परिणाम क्या होगा ? सर्वनाश !

अभी भी समय है। समस्या के हल के लिए भारत के शासक, भारत के राजनीतिज्ञ, भारत के साहित्यकार तथा भारत की जनता को अपने मन-मस्तिष्क का मन्थन करना होगा और यह समझ लेना होगा कि समस्या का हल असन्तोषी को बन्दूक की गोली से भून देने से नहीं होगा बल्कि असन्तोष के कारण को खोजकर उसकी जगह पर कुठाराघात करना होगा। असन्तोष के मूल कारण को सीढ़ी बनाकर अपना नेतृत्व चमकाने के मौके की तलाश में रहने वाले स्वार्थ-लोलुप राजनीतिज्ञों एवं तथाकथित सामाजिक नेताओं द्वारा बताये गये एवं भ्रमित भय के भूत से बहके हुए युवक को सुरक्षा प्रदान करनी होगी। प्यार भरी आवाज देकर उसे बुलाना होगा और उसे बातचीत द्वारा समझाकर पुनः भारतीय समाज की परम्परा में लाना होगा। इस कार्य के लिए गाँधी की आवश्यकता है। राजघाट पर बनी समाधि के आगे माथा टेकने से गाँधी उठकर खड़ा नहीं होगा। गाँधी ने अपने पार्थिव कलेवर को समेट लिया है लेकिन उसने अपने सामने वह रास्ता खुला छोड़ दिया है जो उसने देश की मिट्टी में से ही तैयार किया था और जो वास्तव में किसी एक धर्म का नहीं,

किसी एक जाति का नहीं, किसी एक पीढ़ी का नहीं वरन् मानवता व लोकतन्त्र का रास्ता है।

आधुनिक भारत के निर्माता पंडित जवाहर लाल नेहरू की यह बात हमें याद रखनी होगी कि विरोधी पक्ष से बातचीत का आह्वान कमजोरी की नहीं वरन् एक ऐसे सशक्त हृदय की पहचान है जिसकी तुलना माँ के हृदय से की जा सकती है। भारतीय संस्कृति के लिए यह कोई नई बात भी नहीं है। भारत के ज्ञात इतिहास के अनुसार यूनानी, यूचि, बैक्ट्रीयाई, सीथियन, पार्थियन, शक, हूण आदि अनेक आक्रान्ता जातियों ने इस शस्य-श्यामला धरा को पदाक्रान्त किया हैं। परन्तु कहाँ हैं आज वे सब ? इस देश की हिन्दू विचारधारा को अपनाकर वे सब यहीं की विशालता में विलीन हो गये। कैसे हो पाया यह सम्भव ! संवाद द्वारा; समन्वय द्वारा।

समन्वय भारत की परम्परा रही है। भगवान राम से गाँधी तक को क्या हम भूल सकते हैं ? मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब महर्षि विश्वामित्र के संग जाकर कट्टरता के पक्षधरों द्वारा समाज से बहिष्कृत अहिल्या का उद्धार करते हैं तो उस समय क्या वह कट्टरतावादियों पर हावी होकर समाज के तिरस्कृत अंग को साथ लेकर चलने का मार्ग प्रशस्त नहीं कर रहे हैं। जब वह मिथिला में राजा जनक की दुहिता जानकी को स्वयंवर में जीतते हैं और इन शुद्धता के पक्षपातियों के प्रतिनिधि परशुराम को अपने अकाट्य तर्कों द्वारा शान्त कराकर सभा से वापिस भेजते हैं, जब वह दक्षिणापथ में जाकर अछूत कही जाने वाली शबरी के झूठे बेर तक ग्रहण करते है, जब वह अनार्य 'वानर' जाति के शासक सुग्रीव से समझौता करते हैं और राक्षस जाति के विभीषण की ओर सन्धि का हाथ बढ़ाते हैं तब वह क्या समन्वयबादी विचारधारा के वशीभूत होकर इस क्षेत्र में आर्य-संस्कृति के प्रचार एवं राज्य-विस्तार का कार्य नहीं करते ? जब भगवान राम के राजनैतिक परामर्शदाता महर्षि विश्वामित्र आर्यों से पूर्व भारत में निवास करने वाली दस्यु जाति को आर्य जाति में मिलाने का आन्दोलन चलाते हैं और महर्षि वशिष्ट, जमदग्नि, परशुराम आदि के प्रबल विरोध का सामना करना पडता है तब वह क्या इन लोगों के लिए एक नयी सृष्टि के निर्माण करने के लिए बाध्य नहीं होते ? क्यों ? केवल इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कि यदि भारत को सुख व शान्ति से रहना है, तो इसे संगठित व शक्तिशाली बनकर रहना होगा। 'कूटनीति के महापंडित चाणक्य' क्या इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर मुरा नामक शुद्रा दासी-पुत्र चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत के सम्राट-पद पर आसीन नहीं कराते ? क्या हिन्दू धर्म से विद्रोह करने वाले महात्मा बुद्ध को हिन्दुओं में गिनाये गये भगवान विष्णु के दस अवतारों में इसीलिए सम्मिलित नहीं किया गया ? यह तभी सम्भव है जब धर्म, वर्ग सभी से इसके लिए सहयोग मिले। सह-

योग किसी वर्ग विशेष को घृणा की दृष्टि से देखने, हेय समझकर दूर रहने से नहीं मिलेगा। सहयोग तो सभी के साथ बराबर के स्तर पर परस्पर वार्तालाप द्वारा मतभेद दूर करने से ही मिलना सम्भव है।

इतिहास साक्षी है कि जब तक हिन्दू 'अगस्त मुनि' के मार्ग पर चलकर न केवल भारत में ही निवास करने वाली अनार्य जातियों में संवाद बनाये रहा बल्कि अफगानिस्तान, शीस्तान, खोतान, यारकन्द, उजबेगिस्तान, बर्मा, श्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली तथा बोर्नियो आदि में फैलता रहा तब तक यह देश महानता की सीढ़ियाँ पार करता चला गया और जब लगभग 600 ई० के पश्चात् धार्मिक कट्टरता की लहरों पर तैर कर इस देश के निवासियों ने दूसरी जातियों को हेय समझकर उनसे संवाद बन्द कर दिया, समन्वय का मार्ग छोड दिया तब विधर्मियों को पचा लेने की इसकी शक्ति समाप्त हो गई और यह देश अपनी महानता का दिवास्वप्न देखता हुआ सीढ़ियों से नीचे उतरता चला गया– उतरता चला गया और गुलामी की जंजीरों में भी जकड गया।

मध्य काल में फिर एक बार रामानन्द, कबीर, दादू, धन्ना, सेना, चैतन्य महाप्रभु, रैदास, नानक, मियाँ मीर, बाबा फरीद, गेसूदराज, शेखसलीम चिश्ती तथा निजामुद्दीन औलिया आदि सन्तों ने ऊँच-नीच, धर्म, नस्ल तथा भाषा की ऊँची दीवारों को तोड़कर मनुष्य मात्र को एकत्रित करने तथा समाज में व्याप्त जड़ता को तोड़ने का प्रयास किया। काफी हद तक इनको सफलता भी मिली। हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे के निकट आये। एक ने दूसरे को समझा; अच्छी बातों को ग्रहण किया। देश में नयी भाषा 'हिन्दी' का जन्म हुआ और आम जनता की बोल-चाल की भाषाओं का विकास हुआ। सामान्य परम्पराएँ प्रचलन में आईं। धार्मिक कट्टरता कम हुई और हिन्दुओं और मुसलमानों में मिलकर सामान्य शत्रु से दो-दो हाथ करने की भावना जाग्रत हुई। परन्तु निहित स्वार्थ वाले व्यक्ति फिर आड़े आए। संघर्ष में किसकी विजय हुई और किसकी हार? भारत स्वतन्त्र हुआ दोनों जातियों के संगठित प्रयत्नों से लगा कि साम्प्रदायिकता की ज्वाला सदैव के लिए शान्त हो गई। परन्तु नहीं—भारत माँ का अंग-विच्छेद जैसा घृणित कार्य करने में कट्टरतावाद सफल हुआ। समन्वयवाद तथा मानवता के महान पुजारी बापू की हत्या गोली द्वारा हुई। साम्प्रदायिक शक्तियाँ फिर हावी– लाखों निरपराध लोगों का खून बहा पानी की तरह बहा, लाखों माताओं की गोद सूनी हो गई, लाखों बहनों के भाई छुरे की धार पर रख दिए गए। लाखों ललनाओं की माँग का सिंदूर पोंछ दिया गया। अनेक युवतियों की इज्जत धूल में मिला दी गई। लाखों ही बच्चे भाले की नोक और कृपाण की किरच पर टाँग दिए गए। करोड़ों व्यक्ति बेघर बार कर दिए गए— इनकी रोटी छीन ली गई; और छीन लिया गया इनके शरीर का कपड़ा और

सिर का साया। आप स्वयं ही निर्णय लें हार और जीत का।

इस देश को बनाने में पिछली कुछ शताब्दियों में मुसलमानों का काफी योगदान रहा है। इस देश में आप आम मुसलमान की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय निष्ठाएँ वैसी ही रही हैं जैसी दूसरे सभी समुदायों की। आज निहित स्वार्थ वाले राजनीतिज्ञ सत्ता प्राप्ति के लिए हो रही दौड़ में आगे निकलने के लिए मुसलमानों की इस राष्ट्रीय निष्ठा को खत्म कर देने पर उतारू हैं। वह आम मुसलमानों को अपने भीतर सिकुड़े रहने और दूसरे देश-वासियों से अपने सम्पर्क कमजोर करने के लिए मजबूर कर रहे हैं। इसीलिए वे मुसलमानों को उनके देसी संस्कारों से काटकर कट्टरतावादी आग्रह की तरफ ले जाने की कोशिश में लगे हैं। मुस्लिम नेताओं के भटकाव का यह रास्ता एक ओर हमें जहाँ उस खाई की ओर ले जाएगा जो हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाई के मैदान में खड़े दो वर्गों में बाँटकर देश की एकता व शक्ति को कमजोर करेगा वहीं दूसरी ओर मुस्लिम समाज को भी आधुनिक युग के वैज्ञानिक व तकनीकी ज्ञान का पूर्ण लाभ उठाकर उन्नति की ओर अग्रसर होने में बाधक होगा। इसमें निहित स्वार्थों वाले हिन्दू नेताओं का भी भरपूर योगदान दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार न हिन्दू न मुसलमान कहकर भक्ति एवं करुण रस की धारा बहाने वाले 'गुरु नानक' के कुछ बेटे भी दिग्भ्रांत होकर मानव-रक्त के प्यासे हो रहे हैं और भारत की एकता को तोड़ने के लिए कटिबद्ध दिखाई पड़ते हैं।

भारत का उज्जवल भविष्य साम्प्रदायिकता के इस पृष्ठ-पोषण से उज्जवल नहीं हो सकता। इसके लिए तो इस विषधर का जड़-मूल से उच्छेदन करना होगा। इस महान कार्य के लिए संगठित प्रयत्न करना होगा और समाप्त करना होगा उस आधार को जिसका सहारा लेकर स्वार्थी तत्व साम्प्रदायिकता का विष-वमन करते हैं। इस उद्देश्य को लेकर हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता तथा सहयोग के क्षेत्र का विस्तार करना होगा और साथ ही आम आदमी के मन से इस भ्रान्ति को भी हटाना होगा कि हिन्दू तथा मुसलमानों में सदैव वैर-विरोध ही चलता रहा है। वास्तव में हिन्दू-धर्म बहुत सीमा तक इस्लाम से प्रभावित हुआ है और इसी प्रकार इस्लाम की अनेक मान्यताएँ तथा परम्पराएँ भारत में आकर हिन्दू-धर्म के प्रभाव से बदल गई हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने भारतीय इतिहास का मन्थन कर ऐसे बहुत से उदाहरण खोज निकाले हैं जहाँ दोनों धर्मावलम्बी एक-दूसरे के कन्धे से कन्धा मिलाकर सहयोग करते हैं। आशा है कि श्री सिंह का यह प्रयास भारत की आम जनता को स्वार्थी राजनीतिज्ञों के आह्वान को नजर अंदाज कर उसी मार्ग पर चलते रहने के लिए प्रेरित करने में सफल होगा।

ब्रजलाल गुप्ता

मकर संक्रांति -- सम्वत् 2046
आजाद नगर -- दिल्ली-110051

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का विश्वविद्यालयों तथा कालेजों के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने जो स्वागत किया है उससे लेखक को इस द्वितीय संस्करण के संशोधन तथा परिवर्द्धन में बड़ा सहयोग मिला है। साथ ही हिन्दी अकादमी दिल्ली ने इस पुस्तक को पुरस्कृत करके मेरे हिन्दू-मुस्लिम एकता के विषय में पुस्तक लिखने के विचार को आगे बढ़ाया ही नहीं बल्कि इस विचार पर भविष्य में लगातार कार्य करने को दृढ़ किया और साथ ही यह भी सिद्ध किया कि गुरु नानक देव के विचार 'न कोई हिन्दू, न कोई मुसलमान, एक मिट्टी के सब भांडे' के मानने वाले भी भारत में रहने वालों की संख्या आज भी भारत में बहुत अधिक है।

रामफल सिंह

विषय-सूची

अध्याय **पृष्ठ संख्या**

अध्याय-1

प्रारम्भिक काल

जिस उत्साह, लगन और तीव्र गति से अल्पकाल में इस्लाम का प्रसार हुआ उतना विश्व में किसी अन्य धर्म का प्रसार नहीं हुआ। इसमें युद्ध, विजय, शक्ति और संतो के प्रदर्शन की मुख्य भूमिका है।

भारत में भी इस्लाम का आगमन और प्रसार युद्ध, विजय, शक्ति और व्यापार के प्रयोग की कहानी है। खलीफाओं के शासन काल में अरब के कुछ व्यापारी भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर बस गये थे। इनके अतिरिक्त अनेक अरब व्यापारी अरब से व्यापार के हेतु भारतीय राज्यों में आते-जाते रहते थे। भारतीय नरेशों ने इन व्यापारियों को खूब प्रोत्साहन दिया। इन नरेशों की धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का लाभ उठाकर इन व्यापारियों ने इस्लाम का प्रचार किया, मस्जिदें बनवाई और इस्लाम के सन्तों द्वारा इस्लाम का प्रचार करवाया। दक्षिण भारत में और पश्चिमी समुद्र तट पर इस शान्ति-नीति द्वारा इस्लाम धर्म का प्रचार होता रहा।

श्री एस०आर० शर्मा के अनुसार श्री टाइटस 'इण्डियन इस्लाम' नामक अपनी पुस्तक में लिखते है, "अरब व्यापारियों को हिन्दू राजाओं का संरक्षण प्राप्त था, क्योंकि उनके राज्यों को इस प्रकार स्थापित व्यापारिक सम्बन्धों से बहुत लाभ होता था, इसी का परिणाम था कि अरबों के द्वारा भारतीयों को मुसलमान बनाने के मार्ग में बाधाएँ नहीं डाली जाती थीं। वास्तव में भारतीय मुसलमानों के साथ भी वैसा ही सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाता था जैसा कि विदेशियों के साथ चाहे वे समाज के निम्नतम वर्गों में से ही क्यों न आये हों।" हिन्दू राजा मुसलमानों के साथ जैसा व्यवहार करते थे उसकी पुष्टि के लिए दो उदाहरण

यहाँ दिये जा सकते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में इद्रोसी ने लिखा था कि जो अरब व्यापारी बड़ी संख्या में अन्हिलवाड़ जाते हैं "उनका राजा तथा उसके मन्त्री सम्मानपूर्वक स्वागत करते हैं और उन्हें समाज में संरक्षण मिलता है।" मुहम्मद ऊफी लिखता है कि जब खम्बात के मुसलमानों पर हिन्दुओं ने आक्रमण किया, तो सिद्धराज (1094-1143 ई०) ने अपने ही अपराधी प्रजाजनों को दण्ड दिया और मुआवज़े के रूप में मुसलमानों को एक मास्जिद बनाने के लिए आर्थिक सहायता दी।[1]

मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् खलीफाओं ने बड़े उत्साह के साथ इस्लाम धर्म के प्रचार तथा मुस्लिम साम्राज्य के विस्तार का कार्य आरम्भ किया। थोड़े ही समय में सीरिया, फिलस्तीन, मिश्र तथा फारस पर उन्होंने अपना अधिकार कर लिया। भारत की अपार सम्पत्ति तथा मूर्ति-पूजा के विषय में यह लोग अरब व्यापारियों से पहले ही सुन चुके थे। अतएव अब अपनी महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर भारत की सम्पत्ति को लूटने तथा इस्लाम धर्म का प्रचार कर मूर्ति-पूजा को समाप्त करने का इन्होंने दृढ़ संकल्प किया। फलतः 636, 37 ई० में खलीफा उमर के शासन काल में उमान से एक सेना भारत के समुद्र तट को लूटने के लिए भेजी गई। परन्तु यह अभियान अससफल रहा। इसके बाद 643, 44 ई० में अब्दुल्ला ने किरमन पर आक्रमण किया तथा विजय प्राप्त की। परन्तु खलीफा की नीति में परिवर्तन के कारण वह आगे न बढ़ सका।

711 ई० में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में अरब वालों ने सिन्ध पर फिर आक्रमण किया। 712 ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध के प्रमुख शासक दाहिर को परास्त करके अपना अधिकार स्थापित कर लिया। दाहिर तथा अनेक सैनिक मारे गये। दाहिर की रानी रानीबाई तथा अन्य स्त्रियों ने अपने को अग्नि को समर्पण करके अपने सतीत्व की रक्षा की।[2]

मुहम्मद बिन कासिम ने मुल्तान पर भी विजय प्राप्त की तथा वहाँ लगभग 4000 सैनिकों की हत्या कराकर उनकी स्त्रियों तथा बच्चों को गुलाम बना दिया।[3]

यहाँ तक हम यह जान रहे हैं कि उसने हिन्दुओं को ही मौत के घाट उतारा परन्तु इसके साथ ही हिन्दू-मुस्लिम एकता भी प्रारम्भ हो गई। मुसलमानों के ऐकेश्वरवाद का ज्ञान हिन्दुओं को पहले ही था। जब अरब-आक्रमणकारी भारतीयों के निकट आये तब वे भारतीयों की उत्कृष्ट संस्कृति से आकृष्ट हुए और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयों से शिक्षाएँ ग्रहण कीं। ललित-कलाओं में हिन्दू मुसलमानों से कहीं अधिक योग्य थे इसलिए हिन्दू विद्वानों, दार्शनिकों तथा कलाकारों सभी ने अरब वालों को आकृष्ट किया। भारतीय राजगीरों, चित्रकारों तथा संगीतज्ञों को अरब वालों ने बड़े आदर की दृष्टि से

देखा ।

अरब के विद्वान भारतीय साहित्य और विज्ञान से भी अत्याधिक प्रभावित हुए । उन्होंने भारतीय ज्योतिष, चिकित्सा, रसायन शास्त्र, गणित, दर्शन आदि को सीखने के प्रयत्न किये । इसके लिए उन्होंने तत्कालीन बौद्ध सन्तों, ब्राह्मण पंडितों तथा विद्वानों के चरणों में बैठकर इन विषयों का अध्ययन किया । अनेक अरब विद्वान भारत में विविध विषयों का अध्ययन करने के लिए आए । उन्होंने भारतीय विद्वानों, लेखकों और साहित्यकारों का बड़ा सम्मान किया । बग़दाद के खलीफाओं और विशेषकर खलीफा हारून रशीद ने इस कार्य में बड़ी रुचि ली । एक बार खलीफा हारून रशीद ने अपने असाध्य रोग की चिकित्सा के लिए एक भारतीय वैद्य को बग़दाद बुलवाया और जब उसे (मनका) चिकित्सा में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई तब उस वैद्य का राजकीय सम्मान किया और उसे ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित भी किया ।

इसके बाद अनेक भारतीय विद्वानों और लेखकों को बगदाद आमंत्रित किया गया और उनकी सहायता और सहयोग से अनेक भारतीय ग्रन्थों और शास्त्रों का अनुवाद अरबी भाषा में करवाया गया । उनका यह कार्य खलीफा मंसूर (753-77 ई०) और खलीफा हारूंन रशीद (789-808 ई०) के शासन काल में बड़े उत्साह तथा अभिरुचि से हुआ । इन खलीफाओं के प्रधानमंत्री बरमका थे, जो पहले भारतीय बौद्ध थे इस्लाम से प्रभावित होकर उन्होंने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था । इससे पहले वे मध्य एशिया में बल्ख के बौद्धों के नवविहार के प्रधान रह चुके थे । इन्होंने भारत से अनेक विद्वान और लेखक भी अनुवाद करने के लिए आमंत्रित किये । यद्यपि इनके भारतीय नाम तो प्राप्त नहीं होते हैं पर इनके प्राप्त होने वाले अरबी नाम हैं—बहला, मनका, बाजीगर, कलवरकल, सिन्दबाद, बारबर, राजा, अनकू, अरीकल आदि ।

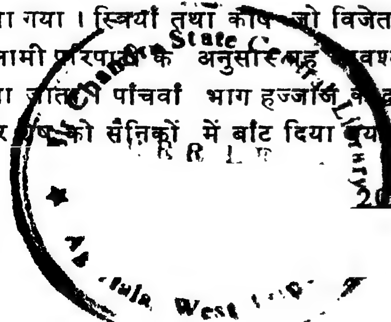
अनुवाद किये गये ग्रन्थों में महत्वपूर्ण ग्रन्थ भारतीय विद्वान-वैज्ञानिक ब्रह्मगुप्त के "ब्रह्म सिद्धान्त" और "खण्ड खाद्य" हैं । अलबरूनी के कथनानुसार इन ग्रन्थों और अनुवाद के कार्यों से अरबों को वैज्ञानिक ज्योतिष के प्रारम्भिक मूल सिद्धान्तों का ज्ञान हुआ । अनुवाद किये हुए अनेक ग्रन्थों से अरबी भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि हुई । प्रसिद्ध अरब ज्योतिषी अबूम शहर ने भारत आकर वाराणसी में दस बर्ष तक विद्याध्ययन किया ।

अरबों को गणित के अंकों का ज्ञान भारतीयों से प्राप्त हुआ । अंक विद्या, शून्य से नौ तक के अंक और दशमलव प्रणाली को, जिसका आविष्कार और प्रचार भारत में हुआ था; अरबों ने भारतीयों से सीखकर यूरोप और मध्य एशिया के प्रदेशों में इसका प्रचार किया । भारतीय अंक प्रणाली को अरबों ने 'हिन्द-सा' कहा । भारतीय चिकित्सा शास्त्र और औषधि विज्ञान की भी अनेक

बातें और सिद्धान्त अरबों ने भारतीयों से सीखीं। भारतीय दर्शन का भी अध्ययन कर अरबों ने उसके तत्वों को अपनाने का प्रयास किया। हैवेल के अनुसार "भारत ने अरबों को अनेक विद्याओं का ज्ञान कराया तथा उनके साहित्य और कला को विशेष रूप से प्रभावित किया।[4]

श्री एस० आर० शर्मा के अनुसार सिन्ध में अरब प्रशासन-व्यवस्था जैसी किसी चीज के स्थापित करने के लिए तीन वर्ष का समय (711-13 ई०) बहुत कम था। वे वर्ष निरन्तर युद्ध काल के थे। फिर भी नष्ट हुई पुरानी प्रशासन-प्रणाली के स्थान पर इमादुद्दीन मुहम्मद बिन कासिम ने एक भद्दी-भौंड़ी व्यवस्था खड़ी कर दी; विजय का फल भोगने के लिए वह एक आवश्यक साधन भी थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि वह अपने साथ 15,000 आदमी लाया था और 5000 के लगभग उसे कुमुक के रूप में मिल गये होंगे। तीन वर्ष के अन्त में युद्ध तथा बीमारी से मरे हुए लोगों को छोड़कर सैनिकों तथा पिछलगों को मिलाकर भी कदाचित आधे से अधिक आदमी शेष नहीं रहे होंगे। इसके अतिरिक्त वे अपने साथ स्त्रियाँ नहीं लाए थे और लाए भी होंगे तो पर्याप्त संख्या में नहीं। इसलिए इमादुद्दीन ने जो भी व्यवस्था स्थापित की उसका रूप एक समझौते जैसा होना अनिवार्य था।

देवल में प्रथम विजय के उत्साह में उसने वैसा ही आचरण किया जैसा एक मुस्लिम विजेता को काफिरों के देश में करना विहित है। इस सम्बन्ध में इस्लाम का विधान स्पष्ट था। सच्चे धर्म (इस्लाम) के अनुयायियों को छोड़कर अन्य सब को दो वर्गों में विभक्त किया गया था। पहले वे जो ईश्वरीय ज्ञान के साझीदार समझे जाते थे, जैसे यहूदी और ईसाई और दूसरे वे जो असह्य काफिर और मूर्तिपूजक थे। पहली कोटि के लोगों को जज़िया देने पर अपने धर्म का पालन करने की आज्ञा मिल सकती थी। किन्तु दूसरों के लिए एक ही मार्ग था—मृत्यु अथवा इस्लाम। हज्जाज, जिसकी आज्ञाओं के अधीन इमादुद्दीन कार्य कर रहा था, बहुत ही कठोर और धर्मान्ध था और किसी प्रकार का समझौता करने के लिए उद्यत नहीं था। ऐसी परिस्थिति में समझौते की कोई गुंजाइश न होना स्वाभाविक ही था। इसलिए पूर्व-परिपाटी के अनुसार देवल में भी विजित लोगों से इस्लाम अंगीकार करने को कहा गया और जैसा कि फरिश्ता लिखता है कि उनके इन्कार करने पर सत्रह वर्ष से अधिक अवस्था के सभी पुरुषों को तलवार के घाट उतार दिया गया; जो बच रहे उन्हें दास बना लिया गया। स्त्रियाँ तथा कोष जो विजेताओं के हाथ लगे, वे हड़प लिए गये। इस्लामी परिपाटी के अनुसार यह आवश्यक था कि उन्हें मुसलमानों में बाँट दिया जाता। पाँचवां भाग हज्जाज के द्वारा खलीफा के पास भेज दिया गया और शेष को सैनिकों में बाँट दिया गया। सेनापति के पास जो सीमित सेना


State Central Library
West
22 c.m
Page. 350
B. 205

थी उसमें से उसे 4,000 सैनिक देवल पर अधिकार रखने के लिए छोड़ने पड़े और शेष को लेकर उसने शत्रु के देश में युद्ध जारी रखा। यहाँ पर ऐसे देश-वासी भी थे जो आक्रमणकारी को सहायता देने के लिए उद्यत थे, किन्तु यह आशा नहीं की जा सकती थी कि बलपूर्वक मुसलमान बनाए जाने पर भी वे उसकी सेवा करेगें। इन विचित्र परिस्थितियों में इमादुद्दीन की व्यवहार-बुद्धि की विजय हुई। अन्त में काफिरों के साथ भी आंशिक रूप से सहिष्णुता का व्यवहार करना पड़ा। जो अधिकार जिम्मियों (यहूदियों तथा ईसाईयों) को मिले हुए थे वे सिन्ध के हिन्दुओं और बौद्धों को भी दे दिये गये। सर विलियम म्योर का मत है कि सिन्ध विजय ने इस्लामी नीति में एक नये युग का आरम्भ किया।

कुछ समय तक युद्धबन्दियों को दास बनाने तथा ध्वस्त मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें खड़ी करने की नीति बरती गई। तदुपरान्त विजेता ने अनुभव किया कि सिन्ध पर स्थाई अधिकार रखने की दृष्टि से समझौता तथा प्रसन्न करने की नीति अधिक लाभदायक है। काफिरों के लिए सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार की नौकरियों के द्वार खोल दिये गये; उनकी स्त्रियों से विवाह कर लिया गया, कुछ देशी सामन्तों को मुसलमान होने की शर्त के बिना ही उनकी भूमि लौटा दी गई. मूर्ति-पूजा की ओर भी ध्यान नही दिया गया, यहाँ तक कि कुछ चतुर्भुजी मूर्तियों को तोड़ा न जाकर विचित्र वस्तुओं के रूप में भेंट की अन्य सामग्री के साथ हज्जाज के पास भेज दिया गया। राजस्व-व्यवस्था के सगठन के सम्बन्ध में इमादुद्दीन ने विशेष रूप से यह अनुभव किया कि हिन्दुओं की सेवाओं के बिना काम चलना असम्भव है। नई नीति की इन शब्दों में घोषणा की गई: 'जज़िया तथा अन्य करों के अदा करने पर हिन्दुओं के मन्दिर भी उसी प्रकार अनुल्लंघनीय होंगे जिस प्रकार ईसाईयों के गिरजाघर, यहूदियों के सिनद और मागियों की वेदियाँ।"

सर बूल्ज़ले हेग हज्जाज के विषय में लिखते है कि वह 'कट्टर अत्याचारी' था और इस्लामी नियमों की उस ढीली व्याख्या से परिचित नही था जिसके जज़िया अदा कर देने पर मूर्ति-पूजा सहन की जा सकती। किन्तु यदि छछनामा का विश्वास किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसे भी इस विषय में कुछ झुकना पड़ा था। ब्राह्मणावाद के निवासियो ने सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार के लिए जो प्रार्थना की उसके सम्बन्ध में इमादुद्दीन ने हज्जाज को लिखा। हज्जाज ने उसके उत्तर में कहा "चूंकि उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया है और खलीफा को कर देना स्वीकार कर लिया है इसलिए अब उनसे इससे अधिक कुछ माँगना उचित नहीं है। वे हमारे संरक्षण में आ गये हैं, इसलिए हम किसी प्रकार से उनके जीवन अथवा सम्पत्ति पर हाथ नहीं डाल सकते। उन्हें अपने देवताओं

की पूजा करने की आज्ञा दी जाती है। किसी को अपने धर्म का पालन करने से रोका अथवा मना न किया जाये। वे अपने घरों में जिस प्रकार चाहें रहें।" प्रत्युत्तर में इमादुद्दीन ने घोषणा कि "सुल्तान तथा जनता के बीच ईमानदारी का व्यवहार करो और यदि वितरण का प्रश्न उठे तो उसे न्याय पूर्वक करो और अदा करने की योग्यता को ध्यान में रखते हुए राजस्व निर्धारित करो। परस्पर मेल से रहो और एक दूसरे का विरोध मत करो जिससे देश को दुखी न होना पड़े।"[5]

"आरम्भ में आक्रमणकारियों ने हिन्दुओं के साथ घोर असहिष्णुता की नीति का व्यवहार किया था। देवल विजय करते समय हिन्दुओं के साथ बड़ा अत्याचारपूर्ण व्यवहार किया गया। कुरान का नियम बड़ा स्पष्ट था। मुसलमानों के अतिरिक्त दो वर्ण के और लोग थे जैसे प्रथम ईसाई, यहूदी आदि और दूसरे मूर्ति पूजक। पहली श्रेणी के लोगों की प्राण-रक्षा जज़िया देने पर हो सकती थी परन्तु दूसरी श्रेणी के लोगों की प्राण-रक्षा केवल इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर ही हो सकती थी। इस नियम के अनुसार देवल में सत्रह वर्ष तथा ऊपर की आयु वाले सभी पुरुषों की हत्या करा दी गई और उनकी स्त्रियों तथा बच्चों को गुलाम बना लिया गया परन्तु मुहम्मद बिन कासिम ने यह अनुभव किया कि सभी हिन्दुओं को मुसलमान बनाना कठिन है और यदि हत्याएँ कर देने के स्थान पर उनसे सेवाएँ ले ली जायें तो बड़ा लाभ होगा। संभवत: धीरे-धीरे सहिष्णुता आरम्भ हुई और सिंध के हिन्दुओं और बौद्धों को ईसाइयों तथा यहूदियों का स्थान प्रदान कर दिया गया अर्थात् उनका मुसलमान बनना आवश्यक नहीं रहा। अब जज़िया देने पर उनके प्राणों की रक्षा हो सकती थी। इस्लाम धर्म के इतिहास में यह एक नई घटना थी क्योंकि इससे पहले हिन्दुओं को कभी 'जिम्मस' का स्थान प्रदान नहीं किया गया था। यह भावी मुसलमानों के लिए एक मौलिक नियम सा बन गया। ऐसा करने के लिए परिस्थितियों ने भी मुसलमानों को बाध्य किया क्योंकि यदि उन्हें स्थाई रूप से सिन्ध के पास अपनी सत्ता स्थापित करनी है तो हिन्दुओं के साथ सहयोग तथा उनके साथ धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार करना नितान्त आवश्यक है। अतएव हिन्दू लोग सेना तथा शासन दोनों मे स्थान पाने लगे और हिन्दू स्त्रियों के साथ मुसलमानों ने विवाह करना भी प्रारम्भ कर दिया। दाहिर की एक पत्नी लादी से स्वयं मुसलमान मुहम्मद बिन कासिम ने विवाह किया। कुछ व्यक्तियों को बिना मुसलमान बने ही उनकी भूमि लौटा दी गई और मूर्ति-पूजा की भी छूट दे दी गई। धीरे-धीरे मन्दिर आदि पूजा-स्थानों का तोड़ना बन्द कर दिया गया।[6]

डा० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार बाद में आने वाले तुर्कों की भाँति अरब

निवासियों में कट्टरता न थी। वे हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु थे। इसका कारण यह नहीं था कि वे दूसरे धर्मों का आदर करते थे वरन् वे यह समझते थे कि विजित जातियों को अपने धर्म में परिवर्तित करना सम्भव नहीं है। प्रारम्भ में अवश्य भयानक धार्मिक असहिष्णुता तथा कट्टरता के दर्शन हुए। परन्तु बाद में विजित प्रजा के साथ सहनशीलता का व्यवहार हुआ और उसे धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई।

अरबों ने अनुभव किया कि मनुष्यत्व को बढ़ाने वाली उच्च कोटि की कलाओं में भारतवासी उनसे कहीं अधिक बढ़े-चढ़े हैं। अरबवासियों ने जितना आदर यहाँ के तत्वज्ञानियों तथा अन्य विद्वानों का किया उतना ही यहाँ के संगीतज्ञों, वास्तुकारों तथा चित्रकारों का भी किया। शासन-प्रबन्ध के व्यवहारिक काम में अरब वासियों ने हिन्दुओं से बहुत कुछ सीखा। सिन्ध के अरब शासन में बहुत अधिक परिमाण में ब्राह्मण पदाधिकारियों के नियुक्त होने का कारण उनका ज्ञानाधिक्य, व्यापक अनुभव और राज्य प्रबन्ध के कर्तव्यों का योग्यता के साथ पालन करना ही है। भारत की सभ्यता का अरब पर जो ऋण है उसे मुसलमान इतिहासकार प्राय: भूल ही जाते हैं अथवा बहुत कुछ कम कर देते हैं। अरब सभ्यता की वे बहुत-सी बातें जिन्होंने बाद में यूरोपियन सभ्यता पर इतना अधिक प्रभाव डाला था उसे भारत से ही मिली थी। मंसूर की खिलाफत में (753-774 ई०) बगदाद के दरबार में भारतीय विद्वानों का आदर होता था जो अरब विद्वान भारत से बगदाद जाते थे, वे अपने साथ प्राय: दो पुस्तकें ले जाते थे—ब्रह्मगुप्त द्वारा रचित "ब्रह्म-सिद्धान्त तथा खण्डखाद्य"। भारतीय विद्वानों की सहायता से इनका अरबी में अनुवाद भी हो चुका था। यहीं से अरबों ने वैज्ञानिक खगोल के प्रारम्भिक सिद्धान्त सीखे। हारून की खिलाफत (786-808 ई०) में बरमक वंश के मन्त्रियों ने हिन्दू शास्त्रों के अध्ययन को बड़ा प्रोत्साहन दिया।

उन्होंने हिन्दू विद्वानों को बगदाद बुलाया, उन्हें अपने औषधालयों का अध्यक्ष नियुक्त किया और आयुर्वेद, दर्शन, ज्योतिष तथा अन्य अनेक विषयों के ग्रन्थ संस्कृत से अनुदित कराये। जब हलाकू द्वारा अब्बासिया वंश का अन्त कर दिए जाने पर बगदाद के खलीफाओं का महत्व घट गया, तो सिन्ध के अरब शासक एक प्रकार से स्वतन्त्र ही हो गये और अरब तथा भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध टूट गया। इस प्रकार भारतीय विद्वानों से सम्पर्क टूट जाने के कारण अरब विद्वान यूनानी कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान का अध्ययन करने लगे। हम स्टेनली लेनपूल के इस कथन से सहमत हैं कि सिन्ध विजय का कोई स्थायी राजनीतिक परिणाम नहीं हुआ परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि हिन्दुओं की संस्कृति और विद्वता से अरबवासियों ने बहुत लाभ उठाया।[7]

महमूद गज़नवी और हिन्दू-मुस्लिम एकता

सन् 1000 ई० के आसपास अफगानिस्तान में ग़ज़नी के सुल्तान महमूद ग़ज़नवी ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण शुरू किए। उसके आक्रमण रक्तपातपूर्ण और क्रूर थे और हर अवसर पर महमूद अपने साथ लूट का बड़ा खजाना ले गया। अलबरूनी ने इन आक्रमणों का वर्णन इस प्रकार किया है : 'हिन्दू धूल के कणों की तरह चारों तरफ तित्तर-बित्तर हो गये और लोगों के मुंह से सुने हुए पुराने किस्सों की तरह उसकी याद रह गयी। जो तित्तर-बित्तर होकर बचे रहे, वे सभी मुसलमानों की तरफ हद दर्जे की घृणा से देखते हैं।"

श्री एस०आर० शर्मा के अनुसार महमूद के आक्रमणों का एक अन्य पहलू भी था। सिन्ध तथा मुल्तान पहले से ही मुस्लिम प्रान्त थे। वे हर प्रकार के धर्म-द्रोहियों के लिए शरण-स्थान बन गये थे। इनमें हमदान करमत द्वारा स्थापित एक सम्प्रदाय विशेष था जो कट्टर इस्लाम को घृणा की दृष्टि से देखता था। उन्होंने मक्का पर आक्रमण करके काबा के काले पत्थर तथा अन्य धार्मिक अवशेषों पर भी अपना अधिकार कर लिया था। इनका अनुयाई मुल्तान का शासक अब्दुल फतेह दाऊद भी अन्य मूर्तिपूजक काफिरों की भांति महमूद की आँखों में खटकता था। अतएव 1004-5 ई० में भीरा पर आक्रमण करते समय महमूद ने मुल्तान को विजय करने का संकल्प किया। जयपाल के पुत्र आनन्द-पाल ने उसका विरोध किया परन्तु उसकी सेना के पैर उखड़ गये और मुल्तान के शासक को 20,000 दिरहम जुर्माने के देकर अपना पीछा छुड़ाना पड़ा। फिर महमूद विजित प्रदेशों को नौशाशाह (सेवकपाल) नामक एक इस्लाम धर्म में दीक्षित हिन्दू को सौंपकर वापस चला गया।

किन्तु महमूद का यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। नौशाशाह स्वामी भक्त सिद्ध नहीं हुआ और महमूद को 1008 ई० में फिर आना पड़ा। उस समय तक मुल्तान के दाऊद तथा आनन्दपाल ने संयुक्त मोर्चा बना लिया। परन्तु मध्ययुगीन भारत का विदेशियों के विरुद्ध किया गया वह सबसे अधिक संगठित, आश्चर्यजनक तथा संकल्पयुक्त प्रयत्न असफल रहा।

अलबरूनी से हमें पता चलता है कि आनन्दपाल ने अपनी पराजय के बाद महमूद को इस आशय का पत्र लिखा, "मुझे ज्ञात हुआ है कि तुर्कों ने आपके विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। यदि आपकी इच्छा हो तो मैं आपकी सहायता के लिए आऊँ अथवा अपने पुत्र को 500 घोड़ों, 1000 सैनिकों और 100 हाथियों के साथ आपकी सेवा में भेज दूं ? आपने मुझे जीत लिया है इसलिए मैं नहीं चाहता कि आप पर कोई अन्य व्यक्ति विजय प्राप्त कर सके।"[8]

महमूद ने और बहुत से विजेताओं की तरह अपनी विजयों में भी धर्म के

नाम से लाभ उठाया। उसके लिए हिन्दुस्तान केवल एक ऐसा देश था, जहां से वह माल और खज़ाना लूटकर अपने देश को माला-माल करता रहा। इसके बावजूद महमूद के काल में भी हिन्दू-मुस्लिम एकीकरण जारी रहा। "हिन्दुस्तान में महमूद ने एक फौज भरती की और उसका सेनापति एक हिन्दू जिसका नाम तिलक था, को बनाया।[9] इस फौज का प्रयोग उसने स्वयं अपने धर्मवालों के विरुद्ध मध्य एशिया में किया। इससे यह स्पष्ट है कि धर्म, परिवर्तन सेवा के लिए एक शर्त न थी।[10]

कुछ इतिहासकारों के विचार में महमूद गजनवी हठधर्मी नहीं था। यद्यपि उसमें उच्च कोटि की धार्मिकता थी। उसने हिन्दुओं का विनाश लूटमार के लिए किया था न कि मूर्ति-पूजा के विनाश अथवा इस्लाम धर्म के प्रचार के लिए। युद्ध को छोड़कर अन्य स्थानों में हम हिन्दुओं के हत्याकाण्ड अथवा बलात् मुसलमान बनाए जाने के विषय में नहीं सुनते हैं। उसने फारस में अपने सहधर्मियों को भी उसी प्रकार लूटा था और हत्याएं की थीं जिस प्रकार भारत में मूर्ति-पूजकों की। उसकी दृष्टि में मूर्ति-पूजक तभी दण्ड के भागी थे, जब उन्हें दण्ड देने से पर्याप्त धन प्राप्त हो।[11]

यह इतिहासकारों द्वारा स्वीकार किया जाता है कि महमूद गजनवी के आक्रमण धार्मिक भावना से प्रेरित न होकर धन की लिप्सा से प्रभावित थे।

महमूद की यह बड़ी इच्छा थी कि अपनी राजधानी ग़जनी को वह मध्य एशिया और पश्चिम एशिया के बड़े शहरों के मुकाबले बना दे और इसलिए वह हिन्दुस्तान से कारीगर और मेमार ले गया था। इमारतों के बनवाने में उसकी दिलचस्पी थी, इसलिए उसने हिन्दू कारीगरों से गजनी में अनेक भवन बनवाए।[12]

एक ओर जहां भारत और महमूद के बीच लड़ाइयां चल रही थीं और हिन्दुओं का रक्त-पात हो रहा था दूसरी ओर हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की एकता का बीजारोपण भी चल रहा था। महमूद का समकालीन अलबरूनी जिनका जन्म खीवा में हुआ था वह फारसी खानदान का था, हिन्दुस्तान आया था और यहां उसने अनेक यात्राएं की थीं। उसने काश्मीर में संस्कृत सीखी और हिन्दुस्तान के धर्म, दर्शन, विज्ञान और कलाओं की जानकारी प्राप्त की। उसने भारत के विषय में एक पुस्तक भी लिखी। उसकी पुस्तक न केवल ज्ञान का भण्डार है, बल्कि उससे यह भी पता चलता है कि लड़ाई लूटमार और कत्ल के ज़माने में भी सब्र के साथ लोग ज्ञान (इल्म) हासिल करने में लगे रहते थे और किस तरह एक देश के लोग दूसरे देश वालों की बातों को उस समय भी समझने की कोशिश में लगे हुए थे जबकि जोश और गुस्से ने उनके आपसी सम्बन्धों को कटु बना दिया था।[13]

महमूद महान विजेता की हैसियत से आया और पंजाब उसकी सल्तनत का एक सूबा (प्रान्त) बन गया फिर भी जब वह यहां का शासक बन गया तो उसने पहले के तरीकों को दूर कर कुछ हद तक सूबे के लोगों की खुशी हासिल करने की कोशिश की। उनके रहन-सहन में अब इतना दखल नहीं दिया जाता था और फौज में और हुकूमत में ऊंचे पदों पर हिन्दू नियुक्त किए जाते थे। महमूद के समय में इस प्रवृति का प्रारम्भ ही हो पाया था, बाद में इसने और तरक्की की।[14]

श्री एस०आर० शर्मा के अनुसार मूर्ति-भंजक महमूद ने अपनी सेना में हिन्दू सैनिकों की भर्ती करने में कभी भी आपत्ति नहीं की थी। गजनवियों के शासन-काल में हमें सदैव ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि हिन्दू लोग खुलकर अपने विजेताओ के युद्धों में भाग लेते थे। उनमें से बहुत कम को मुसलमान बनाया गया था। फरिश्ता लिखता है कि महमूद ने सिवन्दराय जैसे अनेक सरदारों को/जिन्होंने इस्लाम स्वीकार नहीं किया था, उनकी अश्वारोही सैनिक टुकड़ियों सहित अपनी सेना में नौकर रख लिया था। नीच जाति के हिन्दुओं के लिए, जिन्हें अपने जाति-मूलक समाज में उच्च पद नहीं मिल सकते थे, विशेषकर नये स्वामियों की अधीनता में उन्नति के अगणित मार्ग खुले हुए थे। तिलक ऐसे ही हिन्दुओं में से एक था। वह नाई की सन्तान था फिर भी उसकी आकृति सुन्दर थी और बातचीत में वह प्रत्युत्पन्नमति था। इसके अतिरिक्त वह हिन्दी तथा फारसी दोनों में सुलेख लिख सकता था। मसूद उसे एक गुण ग्राहक स्वामी मिल गया जिसने उसे अपना निजी सचिव नियुक्त किया; हिन्दुओं से व्यवहार करते समय सुल्तान उससे सरकारी दुभाषिये अथवा व्याख्याकार का काम लिया करता था, "शाही अनुग्रह के चिन्ह स्वरूप उसे सोने से कढ़ा हुआ एक वस्त्र, एक रत्नजटित सोने का हार, एक शामियाना और एक छत्र प्रदान किया गया था; उसके उच्च सरकारी पद पर प्रतिष्ठित होने की घोषणा करने के लिए हिन्दू परिपाटी के अनुसार उसके निवास-स्थान पर नगाड़े बजाये गये और सुनहारी शिखरों वाले ध्वज फहराये गये थे।"[15]

मसूद—महमूद गजनवी की मृत्यु (1030 ई०) के पश्चात् उसका पुत्र मसूद गद्दी पर बैठा। उसने भी तिलक को उच्च पद प्रदान किया जिसका वर्णन एस० आर० शर्मा ने इस प्रकार किया है—तिलक के इस उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने का मुख्य कारण मसूद की स्वार्थपरता तथा ओछापन था, न कि उसकी विचारपूर्ण तथा उदार नीति। फिर भी स्मरण रखने की बात है कि यह पहला उदाहरण था जब गाजी महमूद के—जिसने मूर्ति-पूजक हिन्दुओं के विरुद्ध जिहाद का व्रत लिया था— पुत्र ने एक ऐसे काफिर के साथ जिसने इस्लाम अंगीकार नहीं किया था, इस प्रकार का व्यवहार किया। अब उसे

विद्रोही ईश्वर-मित्र के विरुद्ध युद्ध में प्रयोग किया जा रहा था ।

सन् 1033 ई० के मध्य में—जिस वर्ष एक नाशकारी अकाल पड़ा और भयंकर ताऊन फैला, जिसका प्रकोप फरिश्ता के अनुसार मैसोपोटामिया से भारत तक था और जिसके कारण अनेक जिले उजड़ गये थे—तिलक ने सेना लेकर हिन्दुस्तान के लिए कूच किया, जहां पहले से ही काज़ी शिराज और नियाल्तगीन नामक गजनी के दो पदाधिकारियों के समर्थकों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया था । हिन्दू सेनापति ने पहली ही झपट में नियाल्तगीन को परास्त कर दिया और विद्रोही सूबेदार युद्धक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ । तिलक ने उसके सिर के लिए 500,000 दिरहम का पुरस्कार घोषित किया, जाट शीघ्र ही उसे काटकर ले आये ।[16]

मुहम्मद गौरी और हिन्दू-मुस्लिम एकता

अनहिलवाड़ा और तराईन की पहली पराजय के पश्चात मुइजुद्दीन की सामरिक चालें सफल हुई और राय पिथौरा की भयंकर पराजय हुई । वह अपने हाथी से उतर पड़ा और घोड़े पर सवार होकर युद्ध-स्थल से भाग निकला, किन्तु सुरसुती (आधुनिक सिरसा हरियाणा प्रान्त में) के निकट बन्दी बनाया गया । मिनहाज का कथन है कि उसे तुरन्त मार डाला गया परन्तु हसन निज़ामी के अनुसार उसे अजमेर ले जाया गया और कुछ समय तक उसे राज्य करने दिया गया, किन्तु विश्वासघात का अपराध पाये जाने पर मरवा दिया गया । यह तथ्य कि उसे शासन करने दिया गया; सिक्कों में उपलब्ध प्रमाणों से सिद्ध होता है । राय पिथौरा के कुछ सिक्को में उल्टी ओर यह शब्द लिखे हैं : "श्री मुहम्मद साम" । यह इस बात का प्रमाण है कि उसने मुईजुद्दीन की सत्ता स्वीकार कर ली थी । राय पिथौरा की मृत्यु के पश्चात् भी अजमेर के शासन प्रबन्ध को अपने हाथ में तुरन्त नहीं लिया गया । राय पिथौरा के पुत्र को कुछ समय तक एक अधीनस्थ शासक की भाँति शासन करने दिया गया ।

वूल्जे हेग ने बताया है कि तराइन के दूसरे युद्ध के बाद मुहम्मद गौरी ने अजमेर पर आक्रमण किया और उसको विजय कर लिया परन्तु उस नगर के आसपास में अधिक रेत होने के कारण उसका प्रबन्ध पृथ्वीराज चौहान के एक पुत्र गोविन्दराज को कर देने की शर्त के साथ सौंप दिया गया और उसे ही वहां का गवर्नर बना दिया ।[17]

दिल्ली का शासक गोविन्द राय युद्ध-स्थल में मारा गया । जो नीति अजमेर के विषय में अपनायी गयी वही दिल्ली में भी कार्यान्वित की गई । गोविन्द राय के उत्तराधिकारी ने मुईजुद्दीन की सत्ता स्वीकार कर ली । हसन निजामी

का कथन है कि उस क्षेत्र के रायों और मुकद्दमों ने जब मालगुजारी देना और स्वामिभक्ति के समस्त कर्तव्य (मरासिमें खिदमती) स्वीकार कर लिए तो उन्हें शासक बना रहने दिया गया। किन्तु ईदपत में एक 'लश्करगाह' अर्थात् सैनिक केन्द्र स्थापित किया गया।[18]

जैसा कि पहले जिक्र हो चुका है अजमेर के शासक राय पिथौरा की तराइन की पराजय के पश्चात तुरन्त हत्या नहीं की गयी। उसे अजमेर में पुन: प्रतिष्ठित किया गया। किन्तु वह अपनी निष्ठा पर स्थिर नहीं रहा और जब उसे विश्वासघाती पाया गया तो उसकी हत्या करवा दी गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके बाद भी ऐबक पृथ्वीराज (राय पिथौरा) के वंश को देश के राजनीतिक जीवन से अलग करना नही चाहता था। उसके पुत्र को इस शर्त पर अजमेर प्रदान किया गया कि वह अधीनस्थ शासक होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि चौहानों ने यह व्यवस्था स्वीकार नहीं की। उन्होंने पृथ्वीराज के पुत्र को मार भगाया और अजमेर पर अधिकार कर लिया।

श्री एस० आर० शर्मा के अनुसार "उसने (ऐबक ने) अजमेर का प्रदेश पृथ्वीराज के पुत्र गोला को इस शर्त पर दे दिया कि वह नियम पूर्वक भारी कर अदा किया करेगा।"[19]

वह प्रमुख व्यक्ति जिसने अजमेर पर अधिकार कर लेने में तुर्कों के विरुद्ध विरोध का संगठन किया, हरि राय था। हरि राय पृथ्वीराज का भाई था। उसने रणथम्भौर को घेर लिया जिसे ऐबक ने किवामुलमुल्क के अधिकार में रखा था। ऐबक उसका सामना करने के लिए बढ़ा और हरिराय प्रतिकूल परिस्थितियाँ देखकर रणथम्भौर से हट गया। उसने अजमेर पर भी अपना अधिकार त्याग दिया और ऐबक ने पुन: पृथ्वीराज के पुत्र को वहाँ प्रतिष्ठित किया।

ऐबक ने हरिराय के विरुद्ध बड़ा सैनिक दबाव डाला था और उसे इन स्थानों पर अधिकार छोड़ने के लिए विवश किया था किन्तु उसे पूर्ण रूप से कुचला नहीं जा सका था। अभी स्थिति पूर्ण रूप से नियन्त्रण में नहीं आयी थी कि मुईजुद्दीन ने अकस्मात ऐबक को 1193 ई० में ग़ज़नी बुला लिया। अब हरिराय इस क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक अपने साधन एकत्रित कर सकता था और तुर्कों के साथ फैसला कर सकता था। जब ऐबक लौटकर आया (दिल्ली में) तो उसे अजमेर में पनप रही नयी मुसीबतों का समाचार मिला। हरिराय ने पुन: पृथ्वीराज के पुत्र को मार भगाया था और दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। उस नियोजित आक्रमण का नेतृत्व क्षतराय कर रहा था। ऐबक तुरन्त उसकी प्रगति को रोकने के लिए आगे बढ़ा। दिल्ली की इस अकस्मात सैनिक गतिविधि से हरिराय और साहसी सेनापति क्षतराय भयभीत

हो गये। क्षतराय ने अजमेर में शरण ली और हरिराय ने आत्महत्या कर ली।

अब ऐबक ने राजपूताना में तुर्क साम्राज्य के प्रशासकीय पुनर्गठन का निश्चय किया। अजमेर में मुसलमान अधिकारी नियुक्त किया गया और पृथ्वीराज के पुत्र को रणथम्भोर भेज दिया गया वहाँ उसे दुर्ग का अधिकारी बनाया गया।[20]

प्राय: गौरियों के अभियानों का उद्देश्य धार्मिक बताया जाता है। उपलब्ध विवरणों के बारीक विश्लेषण से यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि सैनिक मुसलमान थे किन्तु वे इस्लाम के प्रतिनिधि नहीं थे। सम्भव है कि कभी-कभी इनके कार्य धार्मिक प्रवृतियों से प्रेरित होते थे। गौरियों ने भारतवर्ष में अपनी सत्ता का प्रसार किया जिस प्रकार फारस या मध्य एशिया में उन्होंने साम्राज्य-प्रसार का प्रयत्न किया था। वे हिन्दुओं और मुसलमानों—दोनों से समान रूप से लड़े: इसकी अधिक सम्भावना है कि ख्वारिज़मों की भांति गौरियों की सेना का संगठन भी किराये के सैनिकों से हुआ था। विख्यात कवि सादी ने यह स्पष्ट किया है कि लश्करी (व्यवसायिक सैनिक) अपने वेतन के लिए लड़ता है न कि किसी राजा, देश या धर्म के लिए। मुईजुद्दीन तथा दिल्ली के प्रारम्भिक तुर्क शासकों के व्यवहार से यह बात भली-भांति स्पष्ट हो जाती है। कुतबुद्दीन ऐबक द्वारा अस्नी की विजय और उसकी व्यवस्था का उल्लेख करते हुए हसन निजामी ने इसके द्वारा प्रत्येक दिशा में प्रदेशों और जनता पर शासन करने के लिए हिन्दू राजाओं की नियुक्ति का उल्लेख किया है। दिल्ली और अजमेर के शासन प्रबन्ध में तत्काल कोई परिवर्तन नहीं किया गया। धार्मिक कट्टरता और जोश के विपरीत राजनीतिक दूरदर्शिता ने उनका पथ-प्रदर्शन किया। इब्ने असीर के अनुसार अन्हिलवाडा हिन्दू शासकों को वापस कर दिया गया था।

गौरियों की सफलता के फलस्वरूप धार्मिक जोश या कट्टरता से प्रेरित होकर प्रतिशोधात्मक कार्य नहीं किए गये। औचित्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने स्थिति संभाली और बिना किसी धार्मिक पक्षपात या द्वेष के अनेक समझौते किए, अजमेर विजय के उपरान्त मुईजुद्दीन ने शासन प्रवन्ध अपने हाथ में नहीं लिया अपितु उसे पृथ्वीराज के पुत्र के अधिकार में इस शर्त पर रहने दिया कि वह उसकी सत्ता स्वीकार करे। जब दिल्ली पर विजय प्राप्त हुई तो खांडेराय के उत्तराधिकारी को शासन करने दिया गया। जब चौहानों ने पृथ्वीराज के पुत्र को आतंकित किया तो ऐबक ने उस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया किन्तु उस राजकुमार को (अजमेर के शासक को) रथथम्भौर का शासक बना कर सन्तुष्ट किया।"[21]

मोहम्मद गौरी ने चन्द्रसैन के एक सम्बन्धी अजयपाल को बरान को जीतने

के लिए इनाम दिया था।

इससे यह सिद्ध होता है कि राजनीतिक लड़ाई के समय की कूटनीति तथा परिस्थितियों के कारण हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की एकता का सिलसिला जारी रहा था।

मोहम्मद गौरी ने भारत में अपने जीते हुए क्षेत्र का शासन प्रबन्ध सैनिक जमींदारों (Military fief holders) को सौंप दिया परन्तु सरकार के साधारण कार्यों और राजस्व इकट्ठा करने के लिए हिन्दू अधिकारियों को नियुक्त किया। हिन्दुओं के झगड़ों के आपसी फैसलों के लिए हिन्दुओं की ही अदालतें (Tribunals) बनायी गयी।[22] निष्कर्ष यह है कि हिन्दुओं को शासन का भागीदार बनाना परिस्थितियों वश आवश्यक था। इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम समन्वय जहाँ राजनीति व कूटनीति के कारण प्रारम्भ हुआ, वहां परिस्थितियां भी इस कार्य में एक सहयोगी अंग बन गयीं।

सन्दर्भ —

1. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 40-41।
2. बी० एन० लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० सं० 46
3. श्री नेत्र पाण्डे : भारत का बृहत इतिहास (द्वितीय भाग-मध्यकालीन) पृ० सं० 39-43
4. बी० एन० लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० सं० 73-74
5. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 35- 7
6. श्री नेत्र पाण्डे : भारत का वृहत इतिहास पृ० सं० 48
7. डा० ईश्वरी प्रसाद : मध्यकालीन भारत का संक्षिप्त इतिहास पृ० 44,47, 48
8. पं० जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी सक्षिप्त पृ० सं० 176
9. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 51-53, 56।
10. वूल्जे हेग : दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग 3 पृ० सं० 27
11. श्री नेत्र पाण्डे : भारत का वृहत इतिहास पृ० सं० 70
12. प० जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी : संक्षिप्त पृ० सं० 177
13. वही ,, ,, ,, पृ० सं० 177
14. वही ,, ,, ,, पृ० सं० 178

15. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 67 ।
16. वही, पृ० 67-68
17. वूल्जे हेग : दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० सं० 41
18. मो० हबीब एवं खलीक अहमद निजामी : दिल्ली सल्तनत पृ० सं० 141
19. वही „ „ „ पृ० सं० 141-42 एवं
भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 73
20. मो० हबीब एवं खलीक अहमद निजामी : दिल्ली सल्तनत, पृ० सं० 154
21. ए० बी० एम० हबीबुल्ला : फाउन्डेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृ० सं० 62
22. वूल्जे हेग : दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० सं० 45

अध्याय-2

गुलाम वंश

कुतबुद्दीन ऐबक और हिन्दू-मुस्लिम एकता

कुतबुद्दीन ऐबक का शासन काल भारत में अल्पकाल अथवा चार वर्ष का काल था। इस समय वह अधिकतर युद्धों में ही उलझा रहा परन्तु उसके काल में भी राजनीति के कारण हिन्दू शासकों से मैत्री-सम्बन्ध बनाने के उदाहरण मिलते हैं। बंगाल में इख्तयारुद्दीन ने अपने शासन को सुदृढ़ बनाकर तिब्बत की ओर प्रस्थान करने की कोशिश की तो इसने कामरूप के हिन्दू शासक से भी सन्धि की जिससे कि जब उसकी सेना तिब्बत जाये तो वह उसके साथ छेड़खानी न करे।[1]

डा० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार कुतबुद्दीन बड़ा उत्साही और उदार शासक था। उसका शासन प्रबन्ध उत्तम था। उसका न्याय सबके लिए समान होता था। वह राज्य में सुख और समृद्धि की चेष्टा करता था। सड़कों पर डाकुओं का भय न था। हिन्दुओं के साथ दया का बर्ताव होता था। यद्यपि ईश्वर के नाम पर युद्ध करने वाले सुल्तान ने इन युद्धों में सहस्रों हिन्दुओं को दास बना लिया था।[2]

इल्तुतमिश और हिन्दू-मुस्लिम एकता—इल्तुतमिश के समय में भी एकता का क्रम जारी रहा और मालिक सीनान-उद-दीन चलीसर, जो सुमेर वंश का ग्यारहवाँ शासक था और जिसने इस्लाम स्वीकार कर लिया था, को इल्तुतमिश ने अपना राज्य करते रहने की अनुमति दे दी थी, इसका राज्य निचले सिन्ध से समुद्र तक जाता था।[3]

इल्तुतमिश ने राजपूताने को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न किए। उसने रणथम्भौर को जीतने के बाद मंडोर को जीता और फिर जालौर को जीता परन्तु जालौर के शासक उदय सेन के समर्पण के बाद उसे राज्य करते रहने की स्वीकृति दे दी।[4]

रज़िया और हिन्दू-मुस्लिम एकता

रज़िया ने भारत में हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था। इस विषय पर रज़िया और बलबन के बीच हुए वार्तालाप का वर्णन रफीक ज़कारिया ने इस प्रकार किया है—

एक दिन रज़िया ने अपने अमीरों को सुझाव दिया कि मेरे मुसविक पर लगा जज़िया अर्थात् धार्मिक कर समाप्त कर दिया जाय, जो धर्म के कारण लगाया गया है। अमीरों ने इस सुझाव का दृढ़ता से विरोध किया। उनके कार्य का ग्यासुद्दीन बलबन ने भी जोरदार समर्थन किया। वह यह नहीं चाहता था कि रज़िया के इस कदम से हमारी जाति को हानि पहुँचे या इससे भारत में हमारी सत्ता कमजोर हो जाये और राजस्व को हानि पहुँचे। रज़िया ने बलबन से पूछा कि इससे हमारी सत्ता कैसे कमजोर होगी ? बलबन ने कहा कि यह कर हिन्दुओं को याद दिलाता है कि हम उनके शासक हैं। रज़िया ने कहा कि मैं इससे प्रभावित नहीं हूँ। इस प्रकार का अपमान किसी बात की याद नही दिलाता, यह उनके लिए एक उत्तेजनात्मक बात है। यह उनमें किसी प्रकार भी राज्य के प्रति स्वामिभक्ति की भावना नहीं भरेगा। इसके विपरीत उनमें अधिक से अधिक अवहेलना की बात पैदा होगी। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मेरे पास बहुत से मुसविक हैं, जो विरोध करते हैं, क्या उन्हें यह याद नही करना चाहिए कि मैं उनकी शासक हूँ।

बलबन ने कहा कि आपकी मुसविक प्रजा आपकी सहायता के लिए सदैव हथियार लेकर तैयार रहती है, हिन्दू प्रजा ऐसा नहीं करती। इस कारण वे यह कर देते हैं। इस कर लेने के बदले में उनके जीवन और सम्पत्ति की रक्षा की जाती है।

रज़िया ने पूछा—मान लो कोई हिन्दू हमारी सहायता के लिए हथियार लेकर तैयार रहता है, क्या हम तब ऐसा कर सकते हैं ?

बलबन ने उत्तर दिया. 'नहीं, क्योंकि हम उन पर विश्वास नही करते। क्यों कि वे मुसविक नहीं हैं इसलिए उन पर हम अपमान थोपते हैं। यह उनके लिए एक निमन्त्रण भी है कि वे इस्लाम के क्षेत्र में शामिल हो जायें।'

रज़िया ने बलबन से पूछा कि इसके अलावा इस्लाम का प्रसार करने का अन्य कोई रास्ता नही है। क्या तुम भूल गये हो कि कुरान में इस विषय में क्या लिखा है, कुरान में कोई अनिवार्यता[1] नहीं है।

बलबन ने कहा, 'महामहिम' ! इसमें कोई अनिवार्यता नहीं है। अगर हिन्दू धर्म-परिवर्तन करना नहीं चाहते तो वे हिन्दू बने रह सकते हैं, उन्हें केवल कर

(1) There Shall be no Compulsion in Religion.

(जजिया) देना है।

रज़िया ने पूछा, "क्या तुम इस कर (जज़िया) का इतिहास जानते हो ? यह कर इस्लाम के प्रारम्भिक काल में गैर मुस्लिम प्रजा पर थोपा गया था। क्योंकि उन दिनों अधिकतर युद्ध धर्म के आधार पर लड़े गये थे, और इस तरह के व्यक्ति क्योंकि धर्म में विश्वास नहीं करते थे, इसलिए इस्लाम की सहायता करने से बच जाते थे। दूसरी ओर इस्लाम के अनुयाई सैनिक सेवा करते थे।

बलबन ने तर्क दिया कि इस कर (जज़िया) की यह उत्पत्ति है, परन्तु तब से इस विचारधारा में बहुत परिवर्तन हो गया है और उलेमाओं ने इसको मान्यता दी है।

रजिया ने कहा कि यह उनकी मनोकामना की पूर्ति के लिए अथवा शासकों की इच्छा की पूर्ति के लिए था। उलेमाओं के विषय में मुझसे आप बात न करें। निस्संदेह यहाँ उलेमाओं में कुछ लिखने योग्य अपवाद अवश्य हैं परन्तु उनमें से अधिकतर धर्म के स्थान पर राजनीति में अधिक रुचि रखते हैं। यह हमारी शराफत रही है। क्यों ? नजमुद्दीन सुघरा ने क्या किया ? जिसे मेरे पिता ने सद्र-उल-इस्लाम अथवा इस्लाम का नेता बना दिया। उसने जलालुद्दीन तबरोजी से मिलकर गन्दे से गन्दा कार्य किया।

बलबन ने कहा कि इस्लाम में विश्वास करने वालों और गैर विश्वास करने वालों में अन्तर स्पष्ट है। विश्वास करने वालों को प्राथमिकता दी गई है और हमें उसका समन्वय करना चाहिए।

रजिया ने कहा कि धर्म भागों में नहीं समझा जा सकता है और हमें इसे सम्पूर्ण रूप में ही लेना चाहिए। इसकी आत्मा इसके धर्म-ग्रन्थों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। क्या तुम जानते हो कि एक बार मुहम्मद साहब ने चेतावनी दी थी सावधान रहो ! अन्तिम फैसले के दिन मैं स्वयं उसके लिए आपत्ति करूंगा जो जिम्मी के साथ गलत कार्य करेगा अथवा उस पर उससे अधिक जिम्मेदारी डालेगा जितना वह सहन कर सकता है अथवा उसकी किसी वस्तु को उससे छीनेगा।'[5]

बलबन ने कहा, 'महामहिम ! मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है, लेकिन इस भूमि पर हम हिन्दुओं से घिरे हुए हैं, इसलिए हमें सतर्क रहना चाहिए।'

सुल्ताना ने कहा कि खतरा हमें हिन्दू प्रजा से नहीं है। बल्कि अपने धर्म के कट्टरपंथियों से है जिन्होंने धर्म का उपहास किया है। उसने कहा, 'बलबन ! मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे जैसा ज्ञानी और योग्य व्यक्ति भी जज़िया के विषय मे ऐसे तुच्छ विचार रखता है। क्या तुम सोचते हो जज़िया का हिन्दुओं पर थोपना इस्लाम के प्रसार में सहायक सिद्ध होगा ? क्या तुम सोचते हो कि यह उनके लिए हमारा शासन स्वीकार करने में सहायक सिद्ध होगा ? मुझे डर

है कि हम इस्लाम की सेवा नहीं कर रहे हैं। अथवा अपने साम्राज्य की भी सेवा नहीं कर रहे हैं।

बलबन ने कहा कि कर (जज़िया) नया नहीं है, यह यहाँ मुसलमानों के आगमन के साथ थोपा गया था। महामहिम ! क्या तुम नहीं सोचते हो कि इसने इस्लाम के प्रसार में किस प्रकार सहायता की ? उनमें से कितने व्यक्तियों ने इस्लाम स्वीकार कर लिया है।

रजिया ने स्वीकार किया कि हो सकता है कि बहुत से व्यक्तियों ने डर के कारण इस्लाम स्वीकार किया हो। परन्तु बहुत अधिक ने सन्तों और सूफियों के कारण इस्लाम स्वीकार किया, उनके जीवन की पवित्रता और सरलता ने उन्हें बहुत अधिक प्रभावित किया और उनके विशाल मानवतावाद के सन्देश ने भारत के अच्छे साधारण व्यक्तियों पर बहुत अधिक प्रभाव डाला। वे सन्तों की ओर दौड़े और उनके शब्दों से ही उन्हें सान्त्वना मिली।

बलबन ने पूछा, 'निस्सन्देह वे महान् आध्यात्मिक नेता थे परन्तु क्या आप यह नहीं जानतीं कि उनका रास्ता पवित्र इस्लाम से हटकर था।'

रजिया जोर से चिल्लाई, बलबन ! तुम यह कैसे कह सकते हो ? पवित्रतावाद प्यार में निवास करता है—अनिवार्यता में नहीं। उसने यह भी कहा कि क्या तुम यह नहीं जानते हो कि हजारों हिन्दू स्वेच्छा से शेख अली बिन उसमान अलजुजवरी के पास आये, जो दत्ता गंज बख्श के नाम से प्रसिद्ध थे और जिनकी दरगाह लाहौर में है जो हमारी सल्तनत की सबसे प्रसिद्ध स्मृति है जो भारत में सूफीमत की नींव रखने वाला था। अजमेर के ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के पास व्यक्ति पास तथा दूर से इस प्रकार आते हैं जैसे हिरन पानी के झरने के पास आता है। वे आज इस दुनिया में नहीं हैं, किन्तु उनकी शिक्षा का प्रभाव इतना है कि वे आज भी उनकी कब्र की यात्रा करके सान्त्वना और शान्ति का अनुभव करते है। इन सूफियों का स्नेह, भक्ति और प्यार का प्रभाव इतना हुआ कि बहुत से हिन्दुओं ने इस्लाम स्वीकार कर लिया और जिन्होंने इस्लाम स्वीकार नही किया वे भी हमारे कार्य का सम्मान करते हैं। अल्लाह का प्रचार स्नेह और सेवा से हो सकता है, शक्ति से नहीं। शक्ति का प्रयोग हृदय को नष्ट करता है।

बलबन ने तर्क दिया कि हम सन्त नहीं हैं। महामहिम ! हमें शासन करना है और हम शक्ति का प्रयोग किए बिना शासन नहीं कर सकते।

रज़िया ने कहा कि यह सत्य है, परन्तु जो तलवार के बल पर प्राप्त किया जाता है, वह तलवार द्वारा नष्ट हो जाता है, परन्तु जो काम प्यार से होता है वह स्थायी होता है। मैं चाहती हूँ कि मेरी प्रजा के दिलों में सिंहासन के प्रति प्यार हो जिससे कि वे आवश्यकता के समय जान की बाज़ी लगाकर उसक

रक्षा कर सकें। इसलिए मैं इस कर (जज़िया) को समाप्त करना चाहती हूँ और हिन्दुओं को अपने साम्राज्य का अंग बनना चाहती हूँ।

बलबन क्षमा माँगते हुए बोला कि महामहिम यह संभव नहीं है। आप मुझे गलत न समझें, लेकिन हिन्दू हमारे साम्राज्य का अंग कभी नहीं बन सकते। वे हमारे शासन के साथ कभी सन्धि नहीं करेंगे।

रजिया ने धीरे से उत्तर दिया कि बलबन तुम गलती पर हो, गलती हम में है, उनमें नहीं (हिन्दुओं में नहीं)। उनके प्रति हमारा तरीका निष्ठुरता का है। उनके साथ हम मिलते-जुलते नहीं, उनके सुख-दु:ख में हम भागीदार नहीं बनते। हम भिन्न जाति के हैं और पृथक रहने में हम गर्व महसूस करते हैं। हम शासक हैं, हिन्दू प्रजा है, परन्तु हम उनमें भय क्यों उत्पन्न करें? हमें उनको अपने समीप लाने की चेष्ठा क्यों नहीं करनी चाहिए।

बलबन ने कहा कि हम उनसे भिन्न हैं। हम तुर्क हैं, वे भारतीय हैं; हम मुस्लिम हैं, वे हिन्दू हैं। दोनों एक कैसे हो सकते हैं? यह मानव प्रकृत्ति के विपरीत है।

रजिया के बोलने में थोड़ा कड़वापन था, वह बोली, 'काश! आप मानव स्वभाव को समझ सकते। यदि सब लोग मानव स्वभाव को समझते तो संसार में इतना दु:ख कभी न होता।'

इस तरह के विचार रखने वालों में बलबन अकेला नहीं था। अधिक शक्तिशाली अमीर अधिक प्रतिक्रियावादी थे। रज़िया उस स्थिति से अवगत थी, जो कर की समाप्ति से उत्पन्न होगी, परन्तु वह यह विश्वास करती थी कि कर की समाप्ति करने के बाद उसकी हिन्दू प्रजा पर गहरा प्रभाव पड़ेगा और उनमें सिंहासन के प्रति सहानुभूति पैदा होगी इसलिए वह योजना में आगे बढ़ी।

ठीक इसी समय रजिया को एक बुरी खबर मिली कि रणथम्भौर के मलिक सैफुद्दीन ऐबक की मृत्यु हो गयी है, यहाँ इल्तुतमिश के समय से ही राजपूत सल्तनत की सत्ता की समाप्ति की कोशिश कर रहे थे। अन्त में वे दबा दिए गये थे, लेकिन उन्होंने न किले को छोड़ा था न शान्ति स्थापित होने दी थी। प्रारम्भ मे सेना नायक ने किले का प्रबन्ध ले लिया था परन्तु जैसे ही चौहानों ने उसकी मृत्यु का समाचार सुना उन्होंने अपनी सेना को उसकी ओर चलने का आदेश दिया तथा किले की घेराबन्दी कर ली।

जब रजिया कर समाप्त करने की सोच ही रही थी, तो चौहानों द्वारा की गई कार्यवाही उसके लिए सहायक सिद्ध नहीं हुई। केवल बलबन ही नहीं बल्कि अयाज निजामुल मुल्क ने भी रजिया को हिन्दुओं के विरुद्ध कठोर कदम उठाने की चेतावनी दी। रजिया ने उनसे अनुरोध किया कि वे घबराये नहीं

और उसने तुरन्त मलिक कुतबुद्दीन हुसैन को रणथम्भौर की ओर रवाना किया, जो उसका विश्वसनीय सेनानायक था।

सेनानायक का पद सम्भालते ही मलिक ने रणथम्भौर का घेरा तोड़ दिया और सेना को छुटकारा दिलाया। इस खुशी की खबर को सुनकर रज़िया ने मलिक को शाही सेनाओं को किले से हटाने के लिए कहा और दिल्ली आने का आदेश दिया।

इस कार्यवाही से अमीर घबरा गये। एक विजयी सेना से इस तरह का व्यवहार कैसे किया? इससे हिन्दुओं का प्रत्येक स्थान पर गड़बड़ करने का हौसला बढ़ेगा। निजामुल मुल्क ने भी दुःख प्रकट किया और रजिया से कहा कि यह सल्तनत को नष्ट कर देगा।

रजिया ने कहा कि क्या तुम यह अनुभव नहीं करते हो कि चौहानों के प्रतिरोध होते हुए किले पर नियन्त्रण रखना असम्भव है। मेरे पिता ने वर्षों तक इसे नियन्त्रण में रखने की कोशिश की, परन्तु क्या हुआ?

निजामुल मुल्क ने क्रोध मे पूछा कि, क्या हुआ और साथ ही कहा कि उन्हें (चौहानों को) अपने अधीन किया।

रजिया ने पूछा कि कितने समय के लिए? क्या उन्होंने बार-बार स्वतन्त्र होने की कोशिश नही की? उस विजय का क्या उपयोग है जो हमें बार-बार विस्मय में डाल देती है? नहीं, निजामुल मुल्क, जनता पर राज्य करने का मेरा यह ढंग नही है, मैं उन्हें जीतना चाहती हूँ परन्तु मैं उन्हें सभ्य ढंग से जीतना चाहती हूँ।

निजामुल मुल्ल ने पूछा कि वास्तव में आप विश्वास करती हैं कि इस प्रकार समर्पण करना एक सभ्य ढंग होगा?

रजिया ने कहा कि मेरे पितामह कुतबुद्दीन ऐबक ने भी ऐसा ही किया था। क्या उसने दिल्ली, अजमेर और ग्वालियर पर राजपूत राजकुमारों को शासन करने की अनुमति नही दी? इनको विजय करने के बाद भी नहीं दी?

निजामुल मुल्क ने कहा कि वे दिन भिन्न थे, वह समय दिल्ली सल्तनत का प्रारम्भ काल था।

रजिया ने कहा कि मैं इससे सहमत नहीं हूँ। मैं सोचती हूँ कि हिन्दुओं को जीतने का यह ही ढंग उचित नहीं है, वे संख्या में हमसे अधिक हैं। मेरी सल्तनत की शक्ति एक रणथम्भौर पर निर्भर नहीं करती, यह शान्ति और सुरक्षा पर निर्भर करती है और मैं यह अपनी प्रजा को देने में सक्षम हूँ। हिन्दू राजा जो इस समय संगठित नहीं हैं, जब हमारे शक्तिशाली हथियारों को जान जायेंगे तो संगठित होकर हमारे बैरी हो जायेंगे कि यदि हम अब उनसे सम्मान और सत्कार के साथ व्यवहार करेंगे, तो वे आत्मसमर्पण कर देंगे। आप किसी

व्यक्ति को अपमानित नहीं कर सकते और अपमानित कर देने के बाद आप किसी व्यक्ति को अपना नहीं सकते और आशा नहीं कर सकते कि वे तुम्हारे प्रति वफादार होंगे।

बलबन जो निजामुल मुल्क का साथ दे रहा था, ने कहा कि मुझे डर है कि आपका यह ढंग साम्राज्य को नष्ट कर देगा और यह हिन्दुओं को राज्य के प्रति कार्यवाही करने का साहस देगा और वे हमारे विरुद्ध विद्रोह करेंगे, यह सल्तनत में अलगाववादी आन्दोलन पैदा करेगा।

रजिया ने कहा कि तुम दूरदर्शी नही हो और अनावश्यक रूप से घबरा रहे हो। हम उदारवादी दृष्टिकोण से ही अपना साम्राज्य सुरक्षित रख सकते हैं। जब उमर के सामने जेरूसलम ने आत्मसमर्पण कर दिया था तब इस्लाम के दूसरे खलीफा ने जिम्मीयो को जीवन और सम्पत्ति की रक्षा की गारण्टी दी थी, उनके क्रास, चर्च और उनके मान सम्मान की सुरक्षा की। जब वह हत्यारे के हाथों मारे जा रहे थे तो वह चिल्लाए 'जो मेरे बाद खलीफा होगा, उसके लिए मैं अपनी इच्छा तथा मृत्यु लेख जारी करता हूँ : जिम्मी अल्लाह और पैगम्बर की धरोहर (Protected) हैं। उनके साथ किये गये समझौतों का सम्मान करो और जब आवश्यकता हो तो उनके हितों के लिए लड़ो भी।' यह एक दूरदर्शी व्यक्ति का ढंग था, बलबन और न ही निजामुल मुल्क तथा तुर्की वंशावली के अन्य साथी इस ढंग में विश्वास करते थे। रजिया जो सल्तनत के तरीकों में फेर-बदल करने का दृढ़ निश्चय कर चुकी थी, और जो अपने हृदय की आवाज़ के अनुसार कार्य करना चाहती थी, उससे सहमत नही थी, क्योंकि वे सत्ता तथा शक्ति के लालची थे।

बहुधा, वह स्वयं ही अपनी मधुर आवाज से अपने कानों के लिए सादी की निम्न कविता का उच्चारण किया करती थी।

निर्धन और असहाय व्यक्तियों की देखभाल करो।
और याद रखो कि राजा को सिंहासन जनता द्वारा प्राप्त होता है।
जनता सत्ता की जड़ एवं राजा राज्य का पेड़ होता है।
और पेड़ जड़ पर ही निर्भर होता है।
जनता की आकांक्षाओं की अवहेलना मत करो।
यदि आप ऐसा करते हो, तो अपनी जड़ स्वयं उखाड़ते हो।

रजिया के समय में नरवर के राय ने विद्रोह किया। यह राय बहुत ही शक्तिशाली था। इसके विद्रोह का दमन बड़ी कठिनाई से किया जा सका। दमन के पश्चात् हिन्दुओं के प्रति अपनी सहिष्णुता की घोषित नीति के अनुसार ग्वालियर के किले को छोड़ दिया और वहां से सेना को वापिस बुला लिया गया।

ज्ञानवर्धित और उदारवादी रजिया ने सल्तनत में बहुत से परिवर्तन किये। अमीरों की अपेक्षा, विद्वानों का आदर करना, सैनिकों की अपेक्षा छात्रों को मान्यता देना और उससे भी अधिक हिन्दुओं को राज्य का एक अंग माना जाने लगना।

एक नया आदेश जारी किया गया जिसके अनुसार बिना जाति और धर्म के पक्षपात के सभी को समान अधिकार दिये गये। भेद-भाव को समाप्त किया गया। मुसलमान रजिया के उन कार्यों का विरोध कर रहे थे। रजिया ने उनकी परीक्षा लेने के लिए एक हिन्दू परिवर्तित मुसलमान इमामुद्दीन रेहन को दरबार के एक महत्त्वपूर्ण पद 'वाकीफ-इ-दर' पर नियुक्त किया।

इस पद पर पहले तुर्क ही नियुक्त किये जाते थे। इससे चालीस अमीरो के दल में बहुत अधिक खलबली मच गई। अब हब्शी (याकूत) के बाद एक भारतीय को सम्मानित पद दिया गया, यही उनके लिए बहुत कुछ था। वे आपस में गुप्त रूप से मिले और इसके लिए रजिया से विरोध करने का निश्चय किया।

बलबन ने उनके प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किया। रजिया उनको महल में आता देखकर ही उनकी भावना को समझ गई।

बलबन ने कहा, 'महामहिम ! हमें क्षमा कीजिए। अमीर बहुत परेशान हैं। वे अनुभव करते है कि आप हम में कोई विश्वास नहीं रखती।'

सुल्ताना ने उत्तर दिया, 'बलबन ! यह निरर्थक विचार है। अमीरों की अपेक्षा मेरे राज्य के प्रति कौन वफादार हो सकता है ? उनकी सहायता के बिना मैं कहाँ रहूगी ? वे मेरे राज्य की रीढ़ की हड्डी हैं। मैं उनमें पूर्ण विश्वास करती हूँ। कोई ऐसी चीज हो सकती है जो उनकी पसन्द की न हो। परन्तु इससे कोई अविश्वास की बात नहीं हो सकती।'

बलबन ने कहा, 'महामहिम ! हम आपके प्रगतिशील नेतृत्व की प्रशंसा करते हैं, आपके दृढ़ विश्वास का सम्मान करते हैं, सुधारों के प्रति आपके उत्साह की प्रशंसा करते हैं, हम आपकी इच्छा के प्रति जागरूक हैं कि आपकी इच्छा अपनी प्रजा के भाग्य को सुधारना है। परन्तु एक भारतीय को 'वाकीफ-इ-दर' के पद पर नियुक्ति से क्या समस्या पैदा हो गई ? क्या अमीरों में से कोई तुर्क इस पद को भरने योग्य नही है ?'

रज़िया ने कहा, 'निस्संदेह मेरे अमीरों में से इस पद को भरने के लिए अनेक अमीर हैं। परन्तु मैं सोचती हूँ कि रेहन इस पद के लिए उसी समान योग्य है तथा हमारे विश्वास के योग्य है। उसने सल्तनत की भली-भाँति सेवा की है और हमारी कुछ मान्यता के सक्षम है।'

बलबन ने कहा, 'परन्तु वह भारतीय है, इस भूमि में पैदा हुआ है और

उसकी धमनियों में तुर्की रक्त नहीं बहता है ।'

रजिया ने कहा, 'ऐसा हो सकता है परन्तु वह मुसलमान है । कुरान कहती है कि सभी मुसलमान भाई हैं और मेरे अमीरों ने मुझे इस बात की याद अनेक बार दिलाई है ।'

बलबन ने कहा, महामहिम ! यह सत्य है । परन्तु यह राज्य के मामलों पर लागू नहीं हो सकता । उन उच्च पदों को प्राप्त करना हमारा विशेषाधिकार है। ये भारतीयों को नहीं दिये जा सकते ।'

रजिया ने कहा, 'मैं देखती हूँ । जब यह अमीरों को ठीक अनुभव नहीं होता तो वे कुरान के आदेश को भूल जाते हैं । मैं सोचती हूँ कि हिन्दू प्रजा के प्रति व्यवहार के लिए की गई आपत्ति इसलिए है कि वे मुसलमान नहीं है । अब मुसलमान भी, जो तुर्क नहीं है, विश्वास के योग्य नहीं रहे ।'

उन्होंने कहा, 'महामहिम ! हम विश्वास करते हैं कि सब मुसलमान भाई हैं, परन्तु यह कुरान में कहाँ कहा गया है, कि सब मुसलमान समान हैं ?'

रजिया ने कहा कि मैं सोचती हूँ कि सारे इस्लाम का आधार भाई-चारे की समानता है ।

उन्होंने कहा है कि पैगम्बर के परिवार कुरेश को अरब में उच्चतम स्थान क्यों दिया गया ?

रजिया ने कहा कि यह इस्लाम के उद्भव से पहले था । पैगम्बर ने इन विभिन्नताओं को समाप्त किया ।

उन्होंने कहा कि परन्तु पैगम्बर के शीघ्र बाद ही वे फिर आगे आये क्योंकि यह मानव स्वभाव में मिश्रित है । महामहिम जैसे कि आप जानती हैं कि पैगम्बर के परिवार के सदस्य, जो सैयद के नाम से विख्यात हैं, सबसे ऊँचा स्तर बनाए हुए हैं, वास्तव में वे मुसलमानों की दृष्टि में नए कुलीन हैं ।

रजिया ने कहा कि यह आध्यात्मिक और धार्मिक आधार पर था । रेहन की नियुक्ति पर आपकी आपत्ति धार्मिक तथा जातीय आधार पर है ।

उन्होंने कहा कि आपके साम्राज्य का आधार जातीय है ।

रजिया ने कहा कि क्या तुम सोचते हो कि एक भारतीय मुस्लिम की साम्राज्य के विभिन्न पदों में से एक पर नियुक्ति कर देने से साम्राज्य डगमगा जायेगा ?

उन्होंने कहा कि महामहिम अगर हमारी सलाई से बारीकी से बुने गये घेरे में से एक पन्चर हो जाता है अर्थात् धागा ढीला हो जाता है, तो इस प्रक्रिया को रोकना कठिन हो सकता है । इसलिए हम सतर्क हैं ।

रजिया ने कहा, 'ठीक है, बलबन ! मैं आपकी इच्छा स्वीकार करती हूँ । मैंने सोचा था कि इमामुद्दीन रेहन की नियुक्ति से इस्लाम मजबूत होगा । इससे

हमारा साम्राज्य मजबूत होगा। लेकिन अन्धविश्वास कठिनाई से समाप्त होता है, हम सब आत्म-केन्द्रित हैं और अपनी नाक से आगे नहीं देखते हैं। मैं अपने ही हित में रेहन की नियुक्ति रद्द करती हूँ परन्तु इसके बाद भी रेहन अमीरों के साथ ही कार्य करेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि रजिया ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया था, परन्तु अमीरों के दबाव के कारण वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुई।

सुलताना ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अप्रत्यक्ष रूप से भी कार्य किया। संगीतकारों और चित्रकारों के ऊपर भी उसका दृष्टिकोण उदार था। उसने उनको खुले रूप में संरक्षण प्रदान किया। कभी-कभी अमीर उसके इन कार्यों से नाराज होते थे। ऐसा कहा जाता है कि उस समय की एक चित्रकारी है जिनमें रजिया अपने प्रिय घोड़े पर चढ़ती दिखाई गई है। वह इस कार्य को बहुत पसन्द करती थी, और वह चित्रकारों को दिल खोलकर इनाम देती थी। जब तक उसने राज्य किया, यह चित्र उसके दरबार में लगा रहा।

रजिया खुले स्थान पर संगीत कार्यक्रम देखना, जुलूस के समय और सैनिक अभियान के समय बहुत पसन्द करती थी। उसके दरबार में सैनिक बाजा एक मुख्य भूमिका अदा करता था। उसने अमीरों को अपने बाजे रखने की अनुमति दे दी थी, उनका आकार उनकी श्रेणी पर निर्भर करता था। कुछ उलेमा रजिया द्वारा संगीत को दिये जाने वाले प्रोत्साहन को पसन्द नहीं करते थे। अपने आलोचकों को रजिया ने मुस्लिम दार्शनिक अलगज़ाली के शब्दों में उत्तर दिया।

"अति आनन्द का अर्थ ऐसी स्थिति है जो संगीत को सुनने से आती है।"(i)

रजिया को जब गद्दी से हटा दिया गया तो उसने तथा उसके पति अल्तुनिया ने पंजाब में खोखर और जाटों की एक सेना बनाई और दिल्ली की ओर प्रस्थान किया।

रफीक ज़कारिया के अनुसार रज़िया की आवश्यकता के समय हिन्दू प्रजा हजारों की संख्या में उसके साथ थी। विशेषकर खोखर, जाट और राजपूत उसके साथ थे और दिल्ली के सिंहासन पर उसके अधिकार को जमाने के लिए हथियार उठाए हुए थे।

विदेशी भूमि पर राज्य करने के लिए जहाँ वह धर्मांध और कट्टरपंथियों से घिरी हुई थी, उसने अपने आधीन हिन्दू प्रजा को अपने राज्य का अंग बनाने के लिए संघर्ष किया। अपनी शक्ति की गति से उसने भारत में एक नई शक्ति पैदा करने की कोशिश की जिसने भारत में मुस्लिम शासन को एक उदार और

(i) 'Ecstasy means a state that comes from Listening to music."

दयालु स्पर्श दिया। प्रारम्भ से उसे आपत्तियों का सामना करना पड़ा। अपने साहस और कल्पना से उसने कुछ को आशा में परिवर्तित कर दिया और भविष्य को आश्वासन दिया, परन्तु समय की संकीर्णता और साम्प्रदायिकता ने उस पर विजय प्राप्त की। अपने युवा काल में ही रजिया ने भारतीय दृश्य को छोड़ दिया। अगर वह कुछ और दिन जीवित रहती और राज्य करती तो वह मुगल सम्राट अकबर के स्थान पर राष्ट्रीय एकता के आन्दोलन के इतिहास में मार्ग-दर्शक होती।'[6]

उपर्युक्त विवरण से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में रज़िया पहली भारतीय मुस्लिम शासिका थी जिसने हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने की भरसक कोशिश की परन्तु वह उसे कार्य रूप में न ला सकी। परन्तु भविष्य यह बताएगा कि रज़िया के द्वारा किये जाने वाले कार्यों को कोई अन्तिम रूप से न रोक सका।

इमामुद्दीन रेहन नसीरूद्दीन महमूद के काल में नायब के पद पर आसीन हुआ। साथ ही जजिया को हटाने का कार्य अकबर के काल में प्रारम्भ हुआ तथा भारत की हिन्दू प्रजा को मुसलमानों के समान अधिकार दिये गये तथा उन्हें भी अपनी प्रजा माना गया और उसके राज्य को सुदृढ़ करने के लिए मुसलमानों के साथ हिन्दूओं ने भी अपना खून बहाया जिसे रजिया पहले करना चाहती थी।

□ नसीरूद्दीन महमूद और हिन्दू-मुस्लिम-एकता

पूर्व शासकों के काल में हिन्दू-मुस्लिम-एकता का जो क्रम प्रारम्भ हुआ था, उससे कोई-न-कोई परिणाम अवश्य निकलना था और वह रेहन का उच्च पद प्राप्त करना। रेहन जन्म से हिन्दू था परन्तु बाद में वह मुसलमान बन गया। अपने कार्यों तथा गुणों के आधार पर वह बहुत शक्तिशाली बन गया था और दिल्ली की राजनीति में सक्रिय तथा खुलकर भाग लेने लगा था। कूटनीति के कारण उसे हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों के कुछ सरदार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग दे रहे थे। वह भारतीय मुसलमानों का नेता बन गया था। जब नसीरूद्दीन महमूद के काल में शासन की बागडोर ढीली होती जा रही थी तो इमामुद्दीन रेहन ने नसीरूद्दीन महमूद के कान बलबन के विरुद्ध भरे तथा उसे नायब के पद से हटा दिया गया था और इमामुद्दीन रेहन ने यह पद संभाला। इस प्रकार वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक के रूप में पहला व्यक्ति था जिसे दिल्ली का शासन सम्भालने का अवसर प्राप्त हुआ और वह भी भारत की मुस्लिम विजय के लगभग 40 वर्ष के पश्चात ही; जिसकी कल्पना शायद किसी ने भी कभी नहीं की होगी। विदेशी मुसलमान उसके शासन मे इतने बड़े प्रभाव को सहन नहीं कर सके। बलबन के नेतृत्व में उन्होंने स्वयं को संगठित

किया और 30 दिसम्बर 1254 ई० को रेहन को पद से हटवा दिया गया और उसे बदायूँ भेज दिया गया। इसके बाद उसे बहराइच भेजा गया तथा बाद में उसकी हत्या करवा दी गई। नसीरूद्दीन महमूद की माता, जो रेहन की प्रमुख सहायक थी, का भी अन्त करवा दिया गया।

इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम-एकता के परिणाम-स्वरूप जो व्यक्ति भारत का शासन संभालने में सफल हुआ था, का अन्त हो गया, परन्तु यह क्रम कभी समाप्त नहीं हुआ। भविष्य में इस तरह के अनेक व्यक्ति भारत की राजनीति में पैदा हुए, जिन्होंने जन्म से हिन्दू होते हुए भी बाद में इस्लाम धर्म स्वीकार करके शासन की बागडोर अपने हाथों मे संभाली। उनमें प्रमुख व्यक्ति काफूर, खुसरो शाह परवानी तथा मलिक मकबूल थे जिनका विवरण अगले अध्यायों में है।

☐ **बलवन और हिन्दू-मुस्लिम-एकता**—जैसा कि पहले बताया गया है कि महमूद गजनवी ने तिलक के नेतृत्व में एक हिन्दू सेना का गठन किया था और उसके पुत्र ने तिलक की सेना का प्रयोग मुस्लिम विद्रोही अहमद नियालतगीन के विरुद्ध किया था। वूल्जे हेग के अनुसार उसे मुस्लिम सेना नायकों के समान स्तर दिया गया था। मुइनुद्दीन मुहम्मद ने कश्मीर के हिन्दू राजा से समझौता किया था।[7] भारत के सभी मुसलमान शासकों ने अर्थात् महमूद से प्रारम्भ करके हिन्दू शासकों और भूमिपतियों से समझौता किया था। अब उन्हें इस प्रकार के समझौतों की आवश्यकता हुई थी। उन्हें इस समय अपना सामन्त भी मान लिया जाता था। तैमूर लंग के आक्रमण का एक बहाना यह भी था कि मुसलमान हिन्दू-धर्म को सहन कर रहे थे।

बलबन जब तुगरिल बेग का विद्रोह दबाने बंगाल गया था तो उसने विक्रमपुर (ढाका) के स्वतन्त्र हिन्दू शासक दनुजमाधव की सहायता तुगरिल बेग को पकड़ने में ली थी और उसका दरबार में पूर्ण स्वतन्त्र शासक की तरह सम्मान भी किया था।[8]

बलबन द्वारा तुगरिल बेग का दमन करने के बाद वापसी में उसे हिन्दू राय (Rais) चौधरी और मुकद्दम मिले थे। बलबन के काल में कर्म की गलती (Error) कोई पाप (Sin) नहीं था परन्तु विद्रोह एक पाप माना जाता था।

यह भी निश्चित रूप से स्पष्ट था कि हिन्दू मुसलमानों के साथ झगड़ों में भी उचित न्याय प्राप्त कर लेते थे। जियाउद्दीन बरनी के अनुसार मारवाड़ी (मुल्तानी) दिल्ली सरकार को ऋण देने वाले बलबन के दरबार के सम्मानित व्यक्ति थे। बलबन ने उनकी लूटमार न करने के आदेश अपने कर्मचारियों को दे रखे थे।

बलबन के काल में हिन्दू और मुसलमानों में सहानुभूति पूर्वक मेल-मिलाप प्रारम्भ हो गया था और कुछ सरदारों को हिन्दी के बनावटी नाम (Nick-

neames) से पुकारा जाना प्रारम्भ हो गया था। दो अतिमार में से एक को कच्छन (Kachhan) के नाम से जाना जाता था और बलबन का भतीजा अब्दुलाह मलिक छज्जू के नाम से पुकारा जाता था।[9]

जैसा कि प्रचलित है कि बलबन निम्न वर्ग के गैर तुर्कों को उच्च पदों पर नियुक्त करने के विरुद्ध था परन्तु फिर भी उसने आरिज के पद पर इमादुल मुल्क रावत, जिसके माता-पिता हिन्दू थे, को नियुक्त किया। इससे भी अधिक महत्त्व की बात है कि बरनी के अनुसार मंगोल परिवर्तित मुसलमान जो दिल्ली में बसाये गये थे, उनके तुर्की अमीरों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध थे और केकुआ—बाद के समय में राज्य के उच्च पदों पर पहुँच गये थे, आपसी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे और शुद्ध तुर्की रक्त में मिश्रित हो गये थे।[10]

बलबन ने धर्म को राजनीति से अलग रखा था। वह स्वयं को हिन्दू तथा मुसलमान दोनों का शासक समझता था और दोनों की ही रक्षा तथा उन्नति करना वह अपना धर्म समझता था।[11]

बलबन के काल में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क का सामाजिक क्षेत्र में भी प्रभाव पड़ा। अधिक समय तक साथ-साथ रहने के कारण दोनों समाज के व्यक्तियों में सहनशीलता आती गई और सामाजिक आचार-व्यवहार में वे एक दूसरे का अनुकरण करने लगे।[12]

सन्दर्भ

1. वूल्जे हेग : दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया पृ० 491
2. डा० ईश्वरी प्रसाद : मध्य कालीन भारत का संक्षिप्त इतिहास पृ० सं० 77
3. वूल्जे हेग : दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 54
4. ए० बी० एम० हबीमुल्ला : दि फाउन्डेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृ० 102
5. वही पृ० 265 एवं रजिया : क्वीन आफ इण्डिया पृ० 66-75
6 वही 83-86, 90-92, 127-171।
7. दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 15, 18,
8. ए० बी० एम० हबीबुल्लाह : दि फाउन्डेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृ० 174
9. वूल्जे हेग ? दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 89, 90
10. ए० बी० एम० हबीबुल्ला : दि फाउन्डेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृ० 296।
11. श्री नेत्र पाण्डे : भारत का वृहत इतिहास पृ० 169।
12. वही पृ० 184।

अध्याय-3

खिल्जी वंश

जलालुद्दीन खिल्जी और हिन्दू-मुस्लिम एकता

जलालुद्दीन खिल्जी के शासन काल में कोई विशेष गतिविधि इस ओर नहीं हुई परन्तु फिर भी कुछ घटनाओं ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के क्रम को जारी रखा और यह घटना मलिक छज्जू का विद्रोह था। कड़ा में मलिक छज्जू ने अपनी योजना बनाई। अवध का राज्यपाल अमीर अली हातिम खाँ उससे उत्साहपूर्वक मिल गया। बलबन के वंश को गंगा के तटवर्ती प्रदेश के हिन्दू सरदारों की व्यापक निष्ठा भी प्राप्त थी क्योंकि भारी सख्या मे राणा और रावत अपनी विख्यात पैदल सेना और धनुर्धरो सहित मलिक छज्जू से मिल गये। रावतों ने मलिक छज्जू से पान के बीड़े स्वीकार किये जो निष्ठा और मित्रता का प्रतीक होता है।

जब सुल्तान फर्रुखाबाद के निकट भोजपुर पर गंगा नदी पार कर रुहेल-खण्ड की ओर बढ़ा तो सिहासन के दावेदार ने हिन्दू-मुस्लिम समर्थकों से युद्ध किया, उसी समय राजकुमार की शत्रु से राम-गंगा नदी के घाट पर मुठभेड़ हो गई। छज्जू बड़े दृढ़ निश्चय से सारे दिन युद्ध करता रहा और संध्या तक युद्ध का निश्चय न हो पाया। रात्रि में उसके हिन्दू समर्थकों में राय भीमदेव के एक प्रतिनिधि ने सुल्तान के पीछे से असंभावित आगमन की सूचना दी। इस समाचार से वह घबरा गया और अनुयाईयों सहित चुपचाप शिविर छोड़कर भाग गया। प्रातःकाल अर्कली खाँ ने नदी पार की और बड़ी सरलता से युद्ध में विजयी हुआ जिसमें भीमदेव तथा अलप गाजी मारे गये और मलिक मसूद तथा बलबन बन्दी बनाये गये। नेताविहीन विद्रोहियों ने आत्मसम्पर्ण कर दिया। कुछ समय पश्चात् एक दीवार से घिरे गांव में मलिक छज्जू भी बन्दी बना लिया गया जहां के मुखिया ने उसे पीछा करने वालों के हवाले कर दिया।

अलाउद्दीन खिल्जी और हिन्दू-मुस्लिम एकता

अलाउद्दीन खिल्जी के शासन काल में कुछ ऐसी बातें हुई जिनसे अप्रत्यक्ष रूप मे हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम जारी रहा। श्री एस० आर० शर्मा के अनुसार अलाउद्दीन खिल्जी ने सन् 1302-3 ई० में अपना ध्यान चित्तौड़ की ओर आकृष्ट किया और चित्तौड़ पर अपना अधिकार करके उसे अपने पुत्र खिज्रखाँ के सुपुर्द कर दिया और किले का नाम बदलकर खिज्राबाद रख दिया गया। किन्तु इन्द्रिय विषयों में लिप्त रहने वाला राजकुमार खिज्रखाँ 1311 ई० के बाद चित्तौड़ पर अधिकार न रख सका, इसलिए बाध्य होकर अलाउद्दीन ने उसके स्थान पर सोनिग्र वंशी राजपूत सरदार मालदेव को नियुक्त किया।[1] अलाउद्दीन ने 1295 ई० में देवगिरी के राजा रामचन्द्र देव पर आक्रमण कर उसे हरा दिया और उससे सन्धि की तथा बहुत सा धन-दौलत आदि प्राप्त किया। परन्तु किसी भी लेखक ने यह कहीं संकेत नहीं किया कि अलाउद्दीन ने उसे धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया है। इसका मुख्य उद्देश्य रामचन्द्र देव की धन-दौलत प्राप्त करना था जिससे कि वह अपने जीवन के स्वप्न पूरे कर सके।

1299 ई० में अलाउद्दीन खिल्जी ने गुजरात को लूटने की योजना बनाई और वहाँ उलुग खाँ और नुसरत खाँ को भेजा। उन्होंने गुजरात के शासक राजा कर्ण को परास्त किया तथा उसको लूटा। लूट में राजा कर्ण की पत्नी कमलादेवी मुसलमानों के हाथ पड़ी और उसको अलाउद्दीन के पास दिल्ली भेज दिया गया था। लूट में उसे एक और अमूल्य चीज मिली। वह एक कैदी था मलिक काफूर। वह जन्म से हिन्दू था और हिन्दुओं में भी नीच जाति से था। उसने बाद में इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और अलाउद्दीन का एक महान् सेनापति सिद्ध हुआ। इसी मलिक काफूर ने अलाउद्दीन के लिए सम्पूर्ण दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त की जिसमें देवगिरी, वारंगल, द्वारसमुद्र तथा मदुरा शामिल थे और अलाउद्दीन अपने जीवन के अन्तिम दिनों में मलिक काफूर की बात सबसे अधिक मानता था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार वह उसके चंगुल में पूरी तरह फंस गया था। मलिक काफूर की बातों में आकर ही अलाउद्दीन ने अपने पुत्र खिज्रखाँ तथा मुबारक को ग्वालियर में कैद करवा दिया था तथा अपनी बेगम मलिकजहाँ पर भी कड़ी निगरानी करवा दी थी। इसको ध्यान से देखने से पता चलता है कि अलाउद्दीन अपने धार्मिक विचारों में बलबन के विचारों के काफी विपरीत था। बलबन हिन्दू परिवर्तित मुसलमानों को राजदरबार तथा सेना में उच्च पदों को देने के विपरीत था और रक्त की शुद्धता में पूर्ण विश्वास करता था। परन्तु अलाउद्दीन खिल्जी

न हिन्दू परिवर्तित मुसलमानों को राजदरबार तथा सेना में उच्चतम पदों पर आसीन किया और उन्हें उचित सम्मान भी दिया तथा रक्त की शुद्धता में वह उतना अधिक विश्वास भी नहीं करता था क्योंकि उसने गुजरात के शासक की पत्नी कमलादेवी के साथ स्वयं विवाह किया था और बाद में 1306 ई० में उसकी पुत्री को अपने पास लाने के लिए देवगिरी पर पुनः आक्रमण किया और जब उसको पकड़वाकर दिल्ली भेज दिया गया तो देवल देवी का विवाह अपने सबसे बड़े पुत्र खिज्रखां के साथ कर दिया।[2]

किसी भी पुस्तक में ऐसा वर्णन नही मिलता है कि कमलादेवी और देवल देवी को अपना नाम हिन्दू से बदलकर मुस्लिम करना पड़ा हो क्योंकि जब मुबारक शाह शासक बना तो उसने भी देवलदेवी से विवाह किया और इसी नाम का वर्णन अन्त तक आता है।

दूसरे जब 1306, 7 ई० से देवगिरी आक्रमण में राजा रामचन्द्र देव हार गया तो उसको सन्धि करनी पड़ी। काफूर ने रामचन्द्र को दिल्ली भेज दिया। अलाउद्दीन ने उसे ,'राय रय्यन" की उपाधि प्रदान कर तथा उसका आदर सत्कार किया। 'खजाएनुल फुतूह" से हमें पता चलता है कि सुल्तान ने यह आज्ञा दी थी कि राय और उसके परिवार के किसी व्यक्ति को कोई हानि न पहुंचाई जाए। इन आदेशों का वास्तव में पालन किया गया। काफूर ने अपने सैनिक तिलपत में एकत्रित किये जो सामान्यतः प्रथम मन्जिल होती थी, तत्पश्चात् घाट और घाटी सागोन के मार्ग से देवगिरी के लिए प्रस्थान किया। खुसरों के अनुसार देवगिरी की सेना ने साधारण विरोध किया और फिर दो भागों में विभाजित हो गई। रामदेव ने आत्मसमर्पण कर दिया किन्तु उसका पुत्र कुछ सेना सहित भाग गया। भागे हुए व्यक्तियों की साज-सज्जा सरकार और विजयी सैनिकों ने बांट ली। किन्तु फरिश्ता का कथन है: "जब काफूर ने दक्षिण में प्रवेश किया तो उसने जनता को अपनी कृपालु सुरक्षा में ले लिया और एक चींटी को भी हानि नहीं पहुँचने दी। वह आगे लिखता है कि 'रामदेव ने युद्ध करना व्यर्थ समझा। उसने अपने पुत्र सिहंन को देवगिरी में छोड़ा और स्वयं काफूर से मिलने आया। काफूर उसे दिल्ली ले गया और मार्ग में उसने काफूर का हृदय पूरी तरह मोह लिया। जब रामदेव ने दरबार में प्रवेश किया तो अलाउद्दीन ने उसके सिर पर मोतियों और बहुमूल्य रत्नों की वर्षा करवाई तथा उसे दिल्ली में अपने अतिथि की भांति छः मास तक रखा। खूसरो कहता है "रामदेव को ऐसा सम्मान दिया गया कि दरबार के लोग उसमें और सुल्तान में कोई भेद न कर सके। वह यह भी लिखता है कि यह सब नीतिवश नहीं किया गया। अलाउद्दीन को यह विश्वास हो गया था कि उसे देवगिरी के खजाने से राज्य-प्राप्ति हुई थी। अन्त में रामदेव को एक लाख

सोने के टके प्रदान किए गये और उसे सफेद छत्र देकर दवगिरी वापस जाने की अनुमति दे दी गई। गुजरात का नौसारी जिला उसे उपहार में दिया गया। सम्भवत: इसी यात्रा में उसने अपनी पुत्री क्षत्यपाली का विवाह अलाउद्दीन से किया।

दिल्ली से वापस होने के कुछ समय पश्चात् रामदेव की मृत्यु हो गई और उसके पुत्र भिल्लम ने दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। काफूर को जिसे सम्भवत: 'मलिक-नायब (रीजेण्ट या वैयक्तिक प्रतिनिधि) की उपाधि दे दी गई थी, माबर-अभियान के कुछ समय पश्चात् विद्रोह का दमन करने और प्रदेश पर स्थाई अधिकार करने के लिए भेजा गया। जब मलिक काफूर घाटी सागौन दर्रा पार कर चुका तो भिल्लम भाग गया और काफूर ने बिना युद्ध किए देवगिरी पर अधिकार कर लिया। इसामी ने जो उन दिनों थोड़े लोगों से मिला होगा जिन्होंने काफूर का शासनकाल देखा था, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। काफूर की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि वह मराठा सरदारों को किस प्रकार अपने अनुकूल बनाये और इस कार्य में वह सफल हुआ। उसने किसी व्यक्ति का न तो वध किया और न ही किसी को बन्दी बनाया। नगर वासियों ने उसके संरक्षण में स्वतन्त्रता का अनुभव किया···। जो लोग उसके विरोधी हो गये थे उन्हें शान्ति का आश्वासन देते हुए उसने पत्र लिखे और समस्त मराठी जनता उसकी ओर हो गई···। शासक का किसी प्रदेश पर न्याय ऐसा प्रतीत होता है जैसे बगीचे पर मानसून की वर्षा। कपिला में एक सप्ताह निवास करने के अतिरिक्त साधारणत: काफूर देवगिरी में रहता था। फिर उसे दिल्ली से तुरन्त आने का आदेश प्राप्त हुआ ताकि वह अलप खाँ की दूसरी पुत्री से सुल्तान के दूसरे पुत्र शादी खाँ के वैवाहिक समारोह में उपस्थित हो सके और वह एक सप्ताह में दिल्ली पहुंच गया।[3]

अलाउद्दीन के चरित्र तथा उसके कार्यों को ध्यान में रखकर देखा जाय तो यह कार्य आश्चर्य जनक-सा लगता है। परन्तु यह राजनीति के कारण किया गया कार्य हिन्दू-मुस्लिम एकता के अध्याय में एक कड़ी बन गया और आगे आने वाले समय में अन्य मुस्लिम शासक भी ऐसा करने लगे जैसा कि अकबर ने किया।

"1311 ई० में मदुरा के आक्रमण के बाद जब काफूर दिल्ली लौटा तो वह अपने साथ द्वार समुद्र के शासक वीर बल्लाल III को ले आया। वीर बल्लाल III ने इस विजय में उसकी बड़ी सहायता की थी। वह उसे सुल्तान द्वारा उससे प्राप्त सहायता के बदले में पुरस्कार दिलवाना चाहता था। सुल्तान ने वीर बल्लाल III के साथ भी उसी प्रकार उदारता का व्यवहार किया जिस प्रकार राजा रामचन्द्र देव के साथ किया था।[4]

"1312 ई० जब काफूर ने देवगिरी के शासक शंकरदेव को परास्त कर अपना स्वयं का शासन वहाँ स्थापित करने का स्वप्न देखा तो अलाउद्दीन ने उसे वहां का शासन वहां के राजवंश के किसी व्यक्ति को सौंपकर दिल्ली वापिस आने के लिए आदेश भेजा। इस आदेश के अनुसार मलिक काफूर ने 1314 ई० में हरपाल देव को शासन सौंप कर स्वयं दिल्ली के लिए प्रस्थान किया।[5] इससे निष्कर्ष निकलता है कि उस काल की परिस्थितियों के वशीभूत भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम चलता रहा।

1312 ई० में अलाउद्दीन का स्वास्थ्य बिगड़ना प्रारम्भ हो गया। सैनिक शक्ति धीरे-धीरे मलिक काफूर के हाथ में चली गई और वह सेना का अधिनायक बन गया। सुल्तान मलिक काफूर की बातों पर इतना अधिक विश्वास करने लगा कि वह अपने पुत्र, पत्नी तथा रक्त सम्बन्धियों की बात भी नहीं मानता था। एक प्रकार से शासन की पूरी बाग-डोर उसी के हाथ में थी। अलाउद्दीन भली-भाँति जानता था कि काफूर एक हिन्दू परिवर्तित मुसलमान है, फिर परिस्थितियों वश वह उसे शासन से अलग न कर सका। ऐसी परिस्थितियाँ ही हिन्दुओं और मुसलमानों की कटुता को दूर कर एकीकरण के अध्याय को जोड़ती चली गई और आने वाले वर्षों में एक हिन्दू परिवर्तित मुसलमान अलाउद्दीन की सहायता से भारत का शासक बन गया। शासन पर मलिक काफूर की नजर भी थी और 1316 ई० में अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसने कोशिश भी की थी, परन्तु वह सफल न हो सका और उसकी हत्या कर दी गई। अलाउद्दीन की हिन्दू रानियाँ कमलादेवी और क्षत्यपाली थी। अलाउद्दीन ने अपने छोटे पुत्र को जो क्षत्यपाली से उत्पन्न हुआ था, अपना उत्तराधिकारी चुना था। इस प्रकार उसने हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ाया।

डा० किशोरी शरण लाल के विचार में अलाउद्दीन खिलजी ने धर्मान्धता तथा असहिष्णुता की भावना के कारण हिन्दुओं का दमन नहीं किया था। "कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिससे यह सिद्ध हो कि कुछ लोगों को अलाउद्दीन ने इसलिए कष्ट पहुँचाया कि वे हिन्दू थे और कुछ लोगों के साथ इसलिए कृपा की कि वे मुसलमान थे।[6]

भारतवर्ष की भू-राजस्व प्रणाली तब तक नहीं समझी जा सकती जब तक मुसलमानों के धार्मिक साहित्य की उपेक्षा न की जाय। अरब एक ऐसा मरुस्थल है जहाँ दैवी कृपा से कहीं-कहीं नखलिस्तान पाये जाते हैं। केस्पियन सागर के दक्षिण में ईरान के चार-पाँच जिलों में प्रतिवर्ष लगभग 80 इन्च वर्षा होती है। किन्तु इसके अतिरिक्त ईराक से चीन की सीमा तक विशाल प्रदेश में वर्ष में लगभग चार इन्च तूफानी वर्षा (अर्थात मानसून से नहीं) होती है। वह सिंचाई के लिए पूर्णरूपेण नहरों तथा सिंचाई के कृत्रिम साधनों जैसे

"कनाता" और "करीजों" पर निर्भर करता है। इन अन्तिम दो शब्दों से अर्थ भूमि के नीचे बहने वाली नालियों से है। इस विशाल प्रदेश में खेती पर नियन्त्रण उतना महत्व नहीं रखता जितना सिंचाई के साधनो पर अधिकार। इसलिए स्पष्टतः जो सिद्धान्त वहाँ प्रचलित हैं वे हमारे जैसे देश पर लागू नहीं होते जहाँ खेती मानसून पर निर्भर है। यह विचारधारा सर्वप्रथम श्री मोरलैंड द्वारा प्रस्तुत की गई जिन्होंने इमाम युसूफ द्वारा रचित प्रसिद्ध पुस्तक "किताबुल-खिराज", अपने उद्देश्य के लिए उपयुक्त न पाकर इस पर आगे ध्यान नहीं दिया। हमें हिन्दू प्रणाली को अपना आधार बनाकर इस ओर बढ़ना है।

श्री मोरलैंड कहते हैं कि "मैंने मध्यस्थ शब्द उन विभिन्न लोगों के लिये चुना है जिन्हें सुल्तान से उपज में उसका भाग वसूल करने और पूर्ण भाग में एक हिस्सा या सम्पूर्ण भाग स्वयं प्राप्त करने का अधिकार या अनुमति दी जाती थी। मध्यस्थ का वर्गीकरण, शासक प्रतिनिधि, अधिन्यासी, अनुदान भोगी और कृषक आदि श्रेणियों में किया जा सकता है। मध्यकालीन भारत में स्वतन्त्र शासक राय कहलाता था। किन्तु चूंकि राय की उपाधि अधीनस्थ शासक भी धारण करते थे। इसलिए वास्तविक स्वतन्त्र शासक आडम्बर पूर्ण संस्कृत उपाधियाँ ग्रहण कर लेते थे जिनका फारसी विद्वानों ने अनुवाद करने की परवाह नहीं की। डा० इर्फान हबीब ने हिन्दू युग के शासकों का वर्गीकरण सामन्तों, रणको (राणाओं) रोताओं (रावत) ठाकुरों और राजपुत्रों में किया है। सामन्त और राजपुत्र (अर्थात राजपूत) शब्दों का उल्लेख दिल्ली सल्तनत के ऐतिहासिक साहित्य में नहीं मिलता। मोरलैंड के प्रतिनिधियों की पहचान बरनी के खतों, मुकद्दमों और चौधरियों से की जा सकती है। मोरलैंड द्वारा उल्लखित "सामूहिक कर निर्धारण में विशेषतः यही लोग आते हैं। एक गाँव या गाँव के एक समूह का कर निर्धारण एक निश्चित धनराशि में होता था। जो दिल्ली राजस्व मन्त्रालय द्वारा सम्भवतः परम्परानुसार निश्चित किया जाता था और यह धनराशि कृषकों से वसूल करने की जिम्मेदारी "प्रतिनिधि" लेता था। मोरलैंड ने किसान शब्द कृषकों तक ही सीमित रखा है ताकि इसे इजारेदारों अर्थात निरे सट्टेबाजों से जो राज्य से एक विस्तृत क्षेत्र का भू-राजस्व वसूल करने का समझौता कर लेते थे पृथक समझा जा सके। अधिन्यास या अनुदान की चाहे जो लिखित शर्तें होती हों, किन्तु कानून के अनुसार उसे रद्द करने का अधिकार अन्ततः सुल्तान की स्वेच्छा पर निर्भर करता था।

दुर्भाग्य का विषय है कि इतना स्पष्ट प्रभेद करने के पश्चात् भी मोरलैन्ड अलाउद्दीन के भूमि सुधारों के सम्बन्ध में इनका प्रयोग करने में असफल रहे। किसी शासक के प्रदेश में सुल्तान नियमानुसार शासक और कृषकों के बीच तब

तक हस्तक्षेप नहीं कर सकता था जब तक कि निश्चित धनराशि का भुगतान होता रहे। किन्तु सुलतान को विधि-सम्मत वह देखने का अधिकार था कि 'प्रतिनिधि' अपना कार्य उचित रूप से कर रहा है या नहीं। अलाउद्दीन के सुधार पूर्ण रूपेण प्रतिनिधियों अर्थात्, रावतों, चौधरियों और मुकद्दमों तक ही सीमित थे किन्तु अच्छा यह होगा कि पहले समकालीनों द्वारा दिए गये उन दो कथनों का परीक्षण किया जाय जिनका मोरलैंन्ड को ज्ञान नहीं था।

अलाउद्दीन को भेंट करने के लिए 1311 ई० में लिखित एक कृति में अमीर खुसरो 1305 ई० के सन्दर्भ में। लिखते हैं "जब विजयी सेना के भाला चलाने वालों ने निकटवर्ती "रायों" की आँखों में अपने भालों की नोक से सुर्मा लगाया तो कुछ बड़े जमीदारों (जमींदाराने बुजुर्ग) ने जो अधिक दूरदर्शी थे ने अपनी घृष्टता (स्वतन्त्रता) तुर्कों की आँख फोड़ने वाले बाणों के भय से दर-किनार कर दी और आँखें खोलकर भव्य दरबार में उपस्थित हुए। सम्राट ने प्रत्येक पर कृपा प्रदर्शित की और उन पर ऐसे उपहारों की वर्षा की जिनकी उन्हें आशा भी नहीं थी। फलस्वरूप भारतीय साम्राज्य में कोई धूर्त हिन्दू राय शेष न रहा। या तो उन्होंने अपनी आँखें रक्त-रंजित रणभूमि में मूंद लीं या शाही ड्योढ़ी पर अपना मस्तक झुकाने के बाद उन्हें खोल लिया। हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि अलाउद्दीन उन हिन्दू रायों से समझौता करने का इच्छुक था जो उसके दरबार में आये। स्पष्टत: 16 अक्तूबर 1312 को हुए दरबार में उनकी संख्या बहुत थी क्योंकि खुसरो लिखते हैं कि "बड़े-बड़े मालिकों द्वारा सिंहासन के समक्ष, शीश झुकाने से ऐसा प्रतीत होता था कि पृथ्वी उठकर पहाड़ियों में परिवर्तित हो गई है और रायों द्वारा भूमि स्पर्श से उनके माथे पर लगे टीकों से भूमि केसर के रंग की हो गई।"

अनुभव और केवल अनुभव के आधार पर शिक्षा ग्रहण करते हुए और मुल्लाओं के पूर्व निश्चित मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त त्याग कर अलाउद्दीन ने अपनी शक्ति की सीमा का अनुभव किया, वह गैर मुस्लिम देश का मुस्लिम शासक था। वह यह जानता था कि वह उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर शासन कर सकता है जो हिन्दू जनता स्वीकार कर सके। उसके दृष्टिकोण से हिन्दू और मुसलमानों में वास्तविक अन्तर यह था कि हिन्दू जनता और वर्ग-वंश परम्परा तथा जाति में विश्वास रखने वाले थे किन्तु शिक्षित मुसलमान जो जाति रहित थे, एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था चाहते थे जिसमें जीवनचर्या योग्यता पर आधारित हो। फलस्वरूप वह युगयुगीन परम्पराओं के अनुसार राजकीय सेवा के समस्त मुसलमान अधिकारियों को पदच्युत कर सकता था। उसने इस अधिकार का बिना किसी मर्यादा के उपयोग किया किन्तु उसे पुश्तैनी रायों और उनकी प्रजा को उनके परम्परागत जीवन पर छोड़ना पड़ा यद्यपि वह इस शत

पर था कि राय खराज देना स्वीकार कर लें और केन्द्रीय सत्ता को सहयोग देते रहें। यदि कोई स्वतन्त्र राय पराजित हो जाता था तो वही समझौता उन रावतों या सरदारों से करना पड़ता था जो उसके अधीन होते थे। राय के प्रदेश में औसत हिन्दुओं का जीवन आक्रान्त नहीं होता था। दिल्ली सम्राट के बड़े नगरों में जीवन बहुत गिर गया था किन्तु रायों द्वारा शासित भारत वर्ष में परम्परा और वंशानुक्रम के सिद्धान्त पूर्णरूपेण बने रहे।

हमें अनेक स्रोतों से यह सूचना मिली है कि शासन की इस समझौता करने की नीति की मुट्ठी भर किन्तु उग्र स्वभाव वाले कट्टर मुस्लिम मुल्लाओं ने कटु आलोचना की जो इतने अव्यवहारिक थे कि वे भारतवर्ष से हिन्दू-धर्म का विनाश उसी प्रकार कर सकते थे जैसे हजरत मुहम्मद ने अरब से बहुदेव-वाद समाप्त कर दिया था। दृष्टिकोण में अवश्य मतभेद था किन्तु तथ्यों के विषय में कोई मतभेद नहीं था। बरनी की 'फतवाह-जहाँदारी" के निम्न-लिखित अनुच्छेद कट्टर मुल्लाओं की इस रूढ़िवादी धारणा का एक उत्तम उदाहरण हैं...

"मुसलमान शासक ऐकेश्वरवाद (तौहीद) और इस्लाम का प्रभुत्व तब तक स्थापित नहीं कर सकते जब तक वे अपना सम्पूर्ण साहस अधर्म उखाड़ फैंकने में न लगावें और ब्राह्मणों का, जो भारतवर्ष में उनके नेता हैं, संहार नही करते। उसे यह दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि काफिरों (अर्थात् हिन्दुओं) को पराजित कर उन्हें बन्दी अथवा दास बनाकर उनकी प्रतिष्ठा समाप्त कर दें। सुल्तान और इस्लाम के पवित्र सैनिकों की सम्पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य को धार्मिक अभियानों और धर्म-युद्धों में एकाग्र होना चाहिए और उन्हें इस महान् कार्य के लिए स्वयं को खतरे मे डालना चाहिए ताकि सच्चा धर्म (अर्थात् इस्लाम धर्म) झूठे धर्मों का उन्मूलन करे। तब ऐसा प्रतीत होने लगा मानो झूठे धर्मों का अस्तित्व ही नहीं था क्योंकि उनका समस्त आकर्षण नष्ट हो चुका होगा। इसके विपरीत यदि मुसलमान शासक उस शक्ति और स्थिति के होते हुए भी जो उसे अल्लाह ने दी है यदि हिन्दुओं से केवल सामान्य कर (जज़िया) और खराज वसूल कर संतुष्ट हो जाता है और काफिर और उनका अधर्म बना रहने देता है और उनका विनाश करने के लिए अपना सामर्थ्य खतरे में नहीं डालता है तो इस्लाम के शासकों और काफिरों के रायों में क्या अन्तर होगा? कारण कि काफिरों के राय भी हिन्दुओं से जो उन्हीं के झूठे धर्म का पालन करते हैं, खराज और जजिया वसूल करते हैं और इस प्रकार धन प्राप्त कर अपने खज़ाने भरते हैं। वास्तव में वे सौगुना वसूल करते हैं।"

दिल्ली सल्तनत दो सौ वर्षों से कुछ कम समय तक फली-फूली क्योंकि उसने भारत वर्ष को वह चीज़ दी जिसकी उसे आवश्यकता थी। उसे ऐसे धर्म-

युद्ध की आवश्यकता नहीं थी जिसकी बरनी ने कल्पना की। दिल्ली के समस्त सुल्तानों ने "धार्मिक उद्देश्य" का विचार ठुकरा दिया। अन्य लोगों की तुलना में बरनी यह भली-भाँति जानता था। वह आगे लिखता है :

"किन्तु काफिरों का विनाश और मूर्ति पूजकों को नष्ट करने का विचार भारतवर्ष के मुसलमान शासकों के मन में नही आता। इसके विपरीत यह तथ्य ध्यान में रखते हुए कि काफिर और बहुदेववादी खराज देते हैं और संरक्षित व्यक्ति (जिम्मी) हैं, इन काफिरों का सम्मान किया जाता है। उन्हें उन्नति और कृपा-दृष्टि से गौरवशाली बनाया जाता है। सुल्तान उन्हें नगाड़े पताकाएं, आभूषण, खिमखाब के वस्त्र और सुसज्जित घोड़े प्रदान करते हैं। उन्हें राज्यपाल बनाते तथा उच्च पद और सत्ताधिकार प्रदान करते हैं। उनकी राजधानी (दिल्ली) में, जिसकी प्रनिभा के कारण अन्य मुसलमान नगरों की प्रतिभा ऊँची होती है, मुसलमान शासक न केवल अनुमति देते हैं बल्कि इस बात से प्रसन्न होते हैं कि काफिर, बहुदेववादी, मूर्तिपूजक तथा गोबर की पूजा करने वाले महलों के समान भवन बनवाते हैं तथा खिमखाब के वस्त्र पहनकर आभूषणों से सुसज्जित अरबी घोड़ों पर सवार होकर निकलते हैं। वे हजार प्रकार के सामर्थ्य से सशक्त होते है। वे बड़े सुख और सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपनी सेवा में मुसलमान रखते हैं और उन्हें अपने घोड़ों के आगे दौड़ाते हैं। दरिद्र मुसलमान उनके द्वार पर भिक्षा मांगते है। इस्लाम की राजधानी (अर्थात् दिल्ली) में जिससे इस्लाम की इमारत ऊँची होती है, उन्हे "राय" (बड़ा शासक) राणा (छोटा शासक) ठाकुर (सैनिक) साह (पूँजीपति), मेहता (प्रशासक) और पण्डित, पुजारी आदि सम्मानित नामों से पुकारा जाता है।[7]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अलाउद्दीन खिल्जी के शासनकाल में हिन्दू-मुस्लिम एकता के कार्य भी होते रहे जिसमे भविष्य में हिन्दुओं को राजदरबार तथा सरकारी कार्यो में सम्मानपूर्ण स्थान मिलता रहा।

मुबारकशाह खिल्जी और हिन्दू-मुस्लिम एकता

अलाउद्दीन खिल्जी के समय हिन्दू-मुस्लिम एकता के बीज जो अप्रत्यक्ष रूप से बो दिए गए थे, वह मुबारकशाह के काल में अंकुरित हो गये अर्थात् जिस प्रकार अलाउद्दीन ने मलिक काफूर को जो एक हिन्दू परिवर्तित मुसलमान था और हिन्दुओं में भी नीच जाति का था, को अपना विश्वासपात्र अपने जीवनकाल के अन्तिम वर्षों में बनाया था। इसी प्रकार मुबारक ने अपना विश्वासपात्र प्रारम्भ से ही हसन को बनाया और उसे खुसरो खाँ की उपाधि दी, वह हिन्दू परिवर्तित मुसलमान था तथा हिन्दुओं में भी परवारी जाति का था, जो

गुजरात में एक नीच जाति मानी जाती थी । वह बड़ा ही प्रतिभाशाली व्यक्ति था । वह एक कुशल सेनापति था और उसने कई युद्धों में अपनी वीरता का परिचय दे दिया था । सुल्तान ने उसे अपना प्रधानमन्त्री बना दिया । उसी के कारण उसका सौतेला भाई हिसामुद्दीन भी दरबार में उच्च पद प्राप्त कर गया था ।

धीरे-धीरे खुसरो ने दिल्ली में भी अपना प्रभाव बढ़ाया और 14 अप्रैल 1320 ई० में उसने मुबारक शाह की हत्या करवा दी तथा स्वयं दिल्ली का सुल्तान बन बैठा । उसके सुल्तान पद का महान् सूफी संत निजामुद्दीन औलिया ने समर्थन किया । खुसरो ने अपनी जाति के लोगों को बिना धर्म परिवर्तन किए भी उच्च पद शासन में दे दिये थे । उसके पद देने में पक्षपात की नीति से मुसलमान उसके खिलाफ हो गये और गाजी मलिक के नेतृत्व में उसके विरुद्ध एक सेना ने दिल्ली पर आक्रमण किया ।

तुगलक का यह दावा था कि वह इस्लाम के गौरव, अलाउद्दीन खिल्जी के परिवार के प्रति निष्ठा और दिल्ली के अपराधियों को दण्ड देने के लिए लड़ रहा है । जहाँ तक उसके साथी अधिकारियों का सम्बन्ध है ये नारे बहरे कानों पर पड़े किन्तु एक भिन्न दिशा से कुमुक प्राप्त हुई । चार विचित्र पक्तियों में अमीर खुसरो दावे के साथ कहता है कि तुगलक की सेना यद्यपि थोड़ी थी किन्तु उसमें ऊपरी जलवायु की जातियों के लोग थे जिन्होंने प्रायः उसके साथ ताता-रियों से युद्ध किया था और वह उसकी गणना इस प्रकार करता है—'गिल्ज, तुर्क, मंगोल, रूमी (ग्रीस के निवासी), रूसी, ताजीक और खुरासानी जो शुद्ध रक्त के लोग थे किन्तु बाद में जो दो युद्ध हुए उनमें वह केवल एक मंगोल अधि-कारी का उल्लेख करता है । यह जातियाँ उन दो हिन्दू दलों का छद्म रूप हैं जो वास्तव में इस मुहिम में तुगलक की ओर से लड़ीं अर्थात् खोखर जातियाँ जिनका नेतृत्व उनके राजकुमार 'पवित्र दलों वाला शासक' शासक सहिज राय और उनके सरदार गुलचन्द और नीजू तथा मेवाती अर्थात् मेव ने किया था । चूंकि तुगलक इस्लाम के गौरव के लिए लड़ रहा था इसलिए हिन्दुओं की भर्ती करने में उसे कोई संकोच नहीं हुआ । इस समय तक उनका नाम पंजाब में क्षत्रिय जातियों के लिए विजय का पर्याय बन चुका था । इसे उनके सरदारों का अन्तरंग ज्ञान था और उन्होंने उसे सहायता दी थी जिसे साम्राज्य के अधि-कारियों ने देने से इन्कार कर दिया था । इन सरदारों और बहराम आएबा के अतिरिक्त, तुगलक के पास उच्चतम कमान अपने परिवार के सदस्यों को सौंपने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था । इसी समय सिन्ध से दिल्ली जाते हुए एक कारवां को जो खराज तथा बहुतेरे घोड़े लेकर जा रहा था, तुगलक के अधि-कारियों ने जीत लिया और उसने सावधानी से प्राप्त धन आगामी संघर्ष में

तैयार रहने के लिए अपने सैनिकों में बांट दिया।

दिल्ली की सेना सिरसा का दुर्ग छोड़ते हुए आगे बढ़ी। दोनों सेनाएँ फौरन ही मध्यकालीन प्रथानुसार युद्ध-स्थल में व्यूहाकार खड़ी हुईं। दिल्ली सेना में जानेजहाँ छत्र सहित बीच में खड़ा हुआ। कुतलुग ने अग्रिम सेना का नेतृत्व किया किन्तु तलबागा यागदा ने बाईं ओर तीर कमान सँभाली और कजब ब्रहन तथा नाग ने अपने अपने बराद्रू अनुयाइयों सहित दाहिना अंग सँभाला। हिन्दू और मुसलमान सैनिक दल पृथक थे। हिन्दू घुड़सवारों का नेतृत्व कर रहे थे। दिपालपुर की सेना में तुगलक ने बीच में स्थान ग्रहण किया। जौना उनके आगे खड़ा हुआ और खोखर जो अग्रिम दल में थे, का नेतृत्व उनके सरदार-गुलचन्द, नीजू और उनके अनुयायी कर रहे थे। सेना का बामांग बहराम आएबा के अधिकार में था और दायाँ भाग तुगलक के दो भतीजे असदुद्दीन और बहाऊद्दीन सँभाले थे।

सरस्वती का युद्ध—इमामी के अनुसार दिल्ली की सेना की अग्रिम पंक्तियों पर खोखरों का आक्रमण इतना भीषण हुआ कि वह केन्द्रीय दस्ते की ओर भागे। कुतलुग का घोड़ा बाण के प्रहार से मर गया। वह गिर पड़ा। जिन खोखरों ने उसे घेर लिया था उनसे उसने चिल्लाकर कहा कि वह एक वरिष्ठ अधिकारी है और कि उसे तुगलक के पास ले जाना चाहिए। किन्तु उन्होंने उसके कथन की परवाह न की और उसका सर काट डाला। जब खानेजहां के आगे कीसेना केन्द्र की ओर भागी तो खानेजहां ने जिसने कभी किसी सेना का नेतृत्व नहीं किया था भागने का निश्चय किया। इतनी सरल विजय पर खोखरों को आश्चर्य हुआ। गुलचन्द ने अपना घोड़ा सीधे खानेजहां के छत्र की ओर दौड़ाया। उसे मारकर छत्र ले आया और उसे तुगलक के सर पर फैलाया। इस प्रकार तुगलक ने शासन का प्रथम प्रतीक एक खोखर सरदारों के हाथों प्राप्त किया।

लूट की सम्पति का निरीक्षण करने और अपनी सेना पूर्ण व्यवस्थित करने के पश्चात् तुगलक ने युद्ध-स्थल से दिल्ली की ओर कूच किया तथा लहरावट के मैदान में अपने खेमें गाड़ दिये। यह मैदान वर्तमान पालम हवाई अड्डे के पास था। खुसरो खाँ अपनी सेना सहित सीरी के महल से निकला और हौजखास के पास अपना शिविर लगाया। इस मिली-जुली सेना का तुगलकनामा में इस प्रकार विवरण दिया गया है "वह आधी मुसलमान और आधी हिन्दू सेना थी। जैसे काले और सफेद बादल मिल जाते हों। हिन्दुओं की सेना में मुसलमान उनके पास इस प्रकार मित्र बन गए थे जैसे स्वयं उनकी परछाई हों। वे हिन्दुओं से इतने निकट रूप में बंधे थे जैसे मुसलमानों का दान-पुण्य उनके पापों से बंधा रहा है। सेना में हिन्दू और मुसलमान इतनी अधिक संख्या में थे कि स्वयं

हिन्दुओं और मुसलमानों को भी बड़ा आश्चर्य होता था।"

तुगलकनामा में खुसरो के अधिकारियों के स्थापन का वर्णन किया गया है। इस पर विचार करना आवश्यक है। दाहिना पक्ष युसूफ, सूफी खाँ, कमालुद्दीन सूफी, किरंत किमार का पुत्र शाइस्ताखाँ, काफूर, मुहरदार शिहाब, नायबे बारबक, कैसा खास हाजिब, अंबर बुगरा खाँ, अवध का राज्यपाल तिगीन बहाउद्दीन दबीर। बायां पक्ष राय रायां, रणढोल के नेतृत्व में समस्त बरादू, नाग, कजब, ब्रह्म तथा मालदेव, सुबल हाथी खाँ अमीर हाजिब सुरक्षा मन्त्रालय सहित समस्त दीवानों (मन्त्रालयों) के अधिकारी तलवागा यागदा'''दस हजार बरादू घुड़सवार अपने रायों और राणों सहित हथियारों के चारों ओर खड़े थे। सेना के हिन्दू दल गाय की पूँछ तथा भालुओं के दाँत अपनी पताकाओं में बाँधे थे। यथारीति तुगलक ने साम्राज्य की मत्स्य पताकाओं में मार के पंख बाँधने के आदेश दिये थे। तुगलक सेना का गुप्त शब्द 'कूला' था ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों पक्षों के मुसलमानों ने 'अल्लाह हो अकबर' के नारे लगाये तथा दोनों ओर के हिन्दुओं ने 'नारायण' के नारे लगाये।

शुक्रवार के दिन खुसरों खाँ ने तुगलक के शिविर पर आक्रमण कर दिया। उस सुबह तुगलक युद्ध नहीं चाहता था किन्तु खुसरों के आक्रमण से बचने का उसके पास कोई चारा न रहा। इसामी के अनुसार तुगलक ने स्वयं केन्द्रीय स्थान ग्रहण किया। अली हैदर तथा खोखर सरदार सहित राय तुगलक के पीछे खड़े हुए। गुलचन्द के नेतृत्व में समस्त खोखर अग्रिम दल में थे। दाहिने पक्ष की कमान फखरुद्दीन जौना, मगूरी शिहाब और शादी दावर ने सँभाली। बायां पक्ष तुगलक की बहिन के पुत्र बहाउद्दीन बहराम आएवा यूसूफ शहनाएँ 'पील' नूरमर्द अफगान करी, जो मगोल नवमुस्लिम था और तुगलक के भाई सिपहदार दाबर के पुत्र असदुद्दीन को सौंपा गया।

खुसरो खाँ का आक्रमण इतना भयंकर था कि तुगलक की स्थिति बहुत खराब हो गयी। खुसरो के सैनिक विजय की खुशी में लूटपाट मे लग गये। इससे खुसरों की सेना अस्त-व्यस्त हो गयी। तुगलक ने निश्चय किया कि इस समय सबसे नाजुक बिन्दु खुसरो खाँ की स्थिति है। यदि उस पर विजय प्राप्त कर ली जाये तो युद्ध जो हारा जा चुका था, जीता जा सकता था। इसलिए उसने खोखर सरदार गुलचन्द को खुसरों खाँ पर पीछे से आक्रमण करने के लिए भेजा और उसने स्वयं सामने से आक्रमण किया। दो दिशाओं के इस आक्रमण से खुसरों खाँ को यह स्पष्ट हो गया कि उसका जीवन खतरे में है, शेष सेना का कुछ भी हो। इसलिए वह अपने प्राण बचाने के लिए भाग खड़ा हुआ। इससे युद्ध का निर्णय निश्चित हो गया। अपने सरदार को उसके स्थान पर न पाकर खुसरों के सैनिक भाग खड़े हुए। गुलचन्द ने खुसरों का छत्रवाहक मार

डाला और तुगलक के सर पर पुनः छत्र फैलाया।

खुसरों को बाद में पकड़ लिया गया और उसकी हत्या कर दी गयी। इस प्रकार खिल्जी वंश और उसके गुलामों के शासन का अन्त हुआ।[8]

उपर्युक्त विवरण से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि दोनों पक्षों में हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित थी।

इस वंश के शासन का अन्त होने का अर्थ यह नहीं है कि खिल्जी वंश में किए गये शासन में सुधार के सभी उपाय समाप्त हो गये तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता का जो क्रम शुरू हुआ था वह समाप्त हो गया। ऐसा नहीं हुआ जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य भारत का पहला हिन्दू शासक था जिसने भारत को प्रशासन की सुव्यवस्थित प्रणाली दी उसी प्रकार अलाउद्दीन खिल्जी पहला मुसलमान शासक था जिसने भारत को सल्तनत काल में शासन की प्रणाली दी और साथ ही उसके काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता की नीव पड़ी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि उसने हिन्दुओं से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये तथा अपने सम्बन्धियों का बिना धर्म परिवर्तन किए सम्मान किया। इसी हिन्दू-धर्म से सम्बन्धित रानियों को राजमहल की प्रमुख रानी बनाने पर भी उसने कोई पाबन्दी नहीं लगायी। तीसरे अपने पूर्ववर्ती शासकों द्वारा अपनाई गई रक्त की शुद्धता के सिद्धान्त को छोड़कर हिन्दू परिवर्तित मुसलमानों को शासन में सर्वोच्च पद दिये गये तथा अपना उत्तराधिकारी भी हिन्दू रानी से उत्पन्न पुत्र को चुना। मुसलमानों द्वारा हिन्दी में कविताएँ करने (अमीर खुसरो द्वारा) तथा संगीत का प्रचार करने की नींव इसी समय में पड़ी थी। यह नीति आगे के समय में जिस मुसलमान शासक ने अपनाई, सफल रहा और जो इस नीति से भटके, उसका शासन असफल रहा।

सन्दर्भ

1. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 102, 3
   एव मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ० 274,75
2. श्री नेत्र पाण्डे : भारत का बृहत इतिहास पृ० 281।
3. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ० 337,38,349।
4. श्री नेत्र पांडे : भारत का बृहत इतिहास पृ० 230।
5. वही पृ० 231।
6. वही पृ० 264।
7. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत 302, 3, 4, 5।
8. वही पृ० 373, 74, 75, 76।

अध्याय-4

तुगलक वंश और हिन्दू-मुस्लिम एकता

तुगलक मूलतः कौन थे ? इस प्रश्न पर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। डॉ० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार— दिपालपुर का शासक तथा मार्गदर्शक गाजी मलिक गयासुद्दीन के नाम से राजगद्दी पर बैठा। उसका जन्म साधारण परिवार में हुआ था। उसका पिता करौना का तुर्क था और उसकी माता पंजाब की जाट स्त्री थी।[1] इब्नबतूता के अनुसार तुगलक लोग तुर्क थे। 'तारीखे रशीदी' के रचयिता मिर्जा हैदर के कथनानुसार तुगलक लोग मंगोल थे। परन्तु फरिश्ता के कथनानुसार गयासुद्दीन का पिता बलबन का गुलाम था और उसकी माता जाट स्त्री थी। अतएव तुगलक वंश के मूल के विषय में तीन प्रधान मत हैं। 1. वे तुर्क थे, 2. वे मंगोल थे, 3. वे मिश्रित जाति के थे। गयासुद्दीन के चरित्र के विषय में यह कहा जाता है कि उसमें एक तुर्क की शक्ति एवं शौर्य और एक भारतीय की सादगी का सम्मिश्रण पाया जाता है। अतएव फरिश्ता का कथन सत्य प्रतीत होता है। शायद कभी किसी ने नहीं सोचा कि मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के लगभग दो शताब्दी के बाद ही भारत में एक मिश्रित रक्त का शासन होगा और उसे शुद्ध रक्त के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले भी खुशी-खुशी सहनकर सहयोग देंगे। परन्तु परिस्थितियाँ यह चाहती थीं हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित हो।

गयासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली का सारा सिंहासन खोखरों के सहयोग से प्राप्त किया था। अतएव गयासुद्दीन के सिंहासन प्राप्ति के समय से ही हिन्दू-मुस्लिम एकता प्रदर्शित होती है। उसके शासनकाल में हिन्दू-मुस्लिम एकता के अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं। गयासुद्दीन तुगलक ने मनाइच के रास्ते से बंगाल विजय के लिए प्रस्थान किया और इसलिए गवर्नर तातार मलिक जिसे जफर खाँ की उपाधि दी गयी थी, को नियुक्त किया और इसे आदेश दिया गया कि वह स्थानीय राजपूत सरदारों को दबाए। जफर खाँ ने स्थानीय राजपूत सरदारों

को एक सभा में भाग लेने के लिए निमन्त्रण भेजा जिसमें हिन्दू और इस्लाम धम के गुणों पर विवाद किया जा सके। राजपूत सरदारों ने सभा में भाग लिया और इस्लाम के गुणों के आधार पर उसे स्वीकार किया।[2] इससे सिद्ध होता है कि इस्लाम को अब हथियार के बल पर स्वीकार नहीं कराके गुणों के आधार पर स्वीकार कराने के प्रयास प्रारम्भ हुए और यह शायद इस प्रकार का पहला प्रयास था। जो सफल हुआ। वह अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक प्रयास ही था।

गयासुद्दीन तुगलक के वारंगल अभियान के दौरान भी हिन्दू-मुस्लिम एकता प्रदर्शित होती है। दिल्ली तथा उसके आस-पास शासन व्यवस्था सुव्यवस्थित करने के पश्चात् गयासुद्दीन ने सीमावर्ती प्रदेशों पर अपनी सत्ता और प्रतिष्ठा पुनर्स्थापित करने की ओर ध्यान दिया। तेलंगाना के राय प्रताप रुद्रदेव ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता स्थापित कर ली थी और खराज देना बन्द कर दिया था। इस कारण उसका ध्यान तुरन्त उसकी ओर मुड़ा। उद्दंड राय से निपटने के लिए उसने अपने पुत्र उलुग खाँ को नियुक्त किया। 1321 ई० में एक विशाल सेना का नेतृत्व करते हुए वह दिल्ली से निकला। वह विश्राम तथा सैनिक भर्ती के लिए देवगिरि में कुछ समय के लिए रुका और फिर तेलंगाना की राजधानी वारंगल के लिए प्रस्थान किया। वारंगल पहुँचकर उसने दुर्ग की घेराबन्दी आरम्भ कर दी। घेराबन्दी पांच माह तक खिच गई। अन्त में जब सेना भूख और रोग से तंग आ गई तो राय ने आत्मसमर्पण कर दिया। राय अपने सबंधियों और आश्रितों सहित दिल्ली भेजा गया। वहाँ वह मर गया।

तेलंगाना अब दिल्ली साम्राज्य का एक स्थायी भाग बन गया और उलुग खाँ ने उसके शासन का स्थाई प्रवन्ध किया। उसने उसका नाम वारंगल से बदलकर सुल्तानपुर रखा। तेलंगाना राज्य कई प्रशासनिक इकाईयों में विभाजित कर दिया गया। सुविधा की दृष्टि तथा नीति वश उसने स्थानीय योग्यता का जितना उपयोग हो सका, किया। उसने पुराने हिन्दू अधिकारियों को उनके पदों पर रहने दिया। न तो उसने कलाकृतियाँ ध्वंस की और न मन्दिर तोड़कर जनता का शत्रु बना।[3]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गयासुद्दीन तुगलक के शासन काल में भी सैनिक अभियानों के समय हिन्दू-मुस्लिम एकता बनाए रखने में कितनी सावधानी बरती जाती थी।

'अपनी शासन व्यवस्था के पुनर्गठन में उसने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जो दृढ़ता और औचित्य का सम्मिश्रण था। बलबन के समान वह अपने पास योग्य व्यक्ति एकत्रित करने का उत्सुक था किन्तु वह बलबन के समान शुद्ध रक्त का सनकी नहीं था। उसकी दृष्टि में केवल योग्यता का ही महत्त्व

था न कि धन और जन्म का। उसकी सेना में हिन्दू सैनिक तथा अधिकारियों का न्याय संगत प्रतिशत था।[4]

उपर्युक्त घटनाओं से स्पष्ट है कि उसकी सेना में हिन्दू सैनिक तथा अधिकारी भी थे जिससे हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल मिला।

गयासुद्दीन तुगलक के काल में राजनैतिक एकता प्राय: नग्न रही। परन्तु मुस्लिम समाज ने तथा इस्लाम धर्म ने हिन्दुओं के साथ एकता की प्रक्रिया को नहीं छोड़ा। शेख निजामुद्दीन औलिया, जो अपने समय के महानतम सूफी सन्त थे, ने शमा (ज्योति) को अपना लिया और संगीत में विशेष रूचि ली। अन्य लोग भी उसका अनुसरण करने लगे थे। सुल्तान तथा कट्टर पंथी उलेमा शेख के इन कार्यों को इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध समझते थे। शेख के आचरण पर विचार करने के लिए सुल्तान ने विद्वानों का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें देश भर के विख्यात मुस्लिम विद्वान सम्मिलित हुए। बड़े वाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चय किया गया कि यद्यपि सामान्यत: संगीत इस्लाम धर्म के विरूद्ध है परन्तु निजामुद्दीन औलिया जैसे सन्तों के विषय में यह नियम लागू नही होता। चूँकि ऐसे सन्तों के कार्य भगवत् भक्ति से प्रेरित होते है अतएव वे क्षम्य होते हैं।[5]

इस प्रकार इस्लाम के महान् सन्त इस्लाम धर्म की कट्टरता को छोड़ते जा रहे थे और भारत में धर्मों के सम्मिश्रण का प्रयास कर रहे थे।

इस्लाम धर्म के महान सन्त इसी काल में ज्योतिष (Astrology) में भी विश्वास करने लगे थे जो हिन्दू धर्म में प्रचलित थी। शेख निजामुद्दीन औलिया की गयासुद्दीन तुगलक से अनवन होने पर उसके बंगाल से लौटने के समय सन्त ने यह भविष्यवाणी की थी "हिनूज दिल्ली दूर अस्त"।[6] इससे भी सिद्ध होता है कि प्रजा तथा शासक भी हिन्द धर्म की बातें अपनाने लगे थे। मुस्लिम समुदाय शेख निजामुद्दीन औलिया की भविष्यवाणी के पश्चात् ज्योतिष में बहुत अधिक विश्वास करने लगा था और कट्टर पंथी मुसलमान इसे अभिशाप मानने लगे थे।[7]

तुगलक काल के प्रारम्भ होने के साथ-साथ हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय भी प्रारम्भ हुआ। मसालिक-उल-अबसार का लेखक बताता है कि दिल्ली की जनता फारसी भाषा के साथ-साथ हिन्दी में भी पारंगत थी। विद्वान अरबी, फारसी और हिन्दी से पूर्ण रूप से परिचित थे। तत्कालीन साहित्य से पता चलता है कि हिन्दी बोलचाल की भाषा थी। मुसलमानों में भाई को भाई कहा जाने लगा, रोटी को फुलका, चावल खाने को भात कहा जाने लगा। "तारीख-ई-फिरोजशाही के लेखक बरनी के अनुसार लेखक हिन्दी में सोचता था और फारसी में लिखता था। एक विदेशी यात्री इब्नबतूता भी इस वाता-

वरण से अपने को न बचा सका और उसने भी अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जो भारतीय मूल के थे ।[8]

इस काल में कुछ संस्कृत की पुस्तकों को फारसी में अनुवाद करने की कोशिश भी की गई । मौलाना अब्दुल अजीज देहलवी ने ग्रहण (Eclipses) पर संस्कृत से अनुवाद किया। दूसरी संस्कृत की पुस्तक, जो ज्वालामुखी मन्दिर में प्राप्त हुई थी और प्राकृतिक विज्ञान पर थी, का अनुवाद अज-उद्दीन खालिद खानी (Azz-Ud knalid khani) ने किया और उसका नाम दलाल-इ-फिरोज-शाही (Dalal i Firoj Shahi) रखा ।[9] इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों में साहित्य के क्षेत्र में भी इस काल में एकता का क्रम प्रारम्भ हुआ।

अब मुसलमान एक नयी सभ्यता को जन्म देने पर तुले हुए थे और वह सभ्यता हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता के मिश्रण से बनती जा रही थी । मुसलमान काबा की पूजा के अलावा अन्य किसी चीज की पूजा नहीं करते थे परन्तु भारतीय मुसलमान अब पवित्र व्यक्तियों की कब्रों पर इकट्ठे होने लगे । उनका चुम्बन करते, उन पर पुष्प वर्षा करते तथा अनेक प्रकार की क्रियाएँ वहाँ करते । यहाँ तक की स्त्रियाँ भी उनका अनुसरण करने लगी थीं और ये स्थान कुछ हद तक मनोरंजन का स्थान बन गए थे ।[10]

हिन्दू मस्तिष्क भी अब मुस्लिम समुदाय के दो सिद्धान्तों—ईश्वर की एकता तथा मानव का भाई-चारा (Unity of godhead and Brotherhood of man) पर गहराई से सोचने लगा । भक्ति-आन्दोलन के उदय का प्रमुख कारण हिन्दू-धर्म पर इस्लाम का प्रभाव ही था । इस आन्दोलन के बीज लगभग इसी काल में अंकुरित हुए थे ।

जब मुसलमान भारत में आये उस समय भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों में राजनैतिक सत्ता के लिए एक ओर तो संघर्ष प्रारम्भ हो गए थे तो दूसरी ओर इस्लाम धर्म के प्रसार के लिए मुसलमान शासक सत्ता तथा हथियारों के बल पर कोशिश कर रहे थे । हिन्दू समाज में घोर असमानता फैली हुई थी। मजदूर और कारीगर जैसे हदीश, दमाज, चाण्डाल और बधातुस (Hadis, Damas, Chandalas and Badhatus) जो निम्न वर्ग के माने जाते थे, शहरों से बाहर रहते थे और सामाजिक वर्ग में उन्हें निम्नतम स्तर दिया जाता था जिनके लिए पवित्र पुस्तकों का ज्ञान वर्जित था, वे मन्दिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे । उस वर्ग के मध्य ही मुस्लिम सन्त (जैसे निजामुद्दीन औलिया) ने इसी काल में खानकाह स्थापित किए, उन्हें समानता का स्तर दिया, जिसके फलस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम एकता को बहुत बल मिला ।

मुहम्मद बिन तुगलक और हिन्दू-मुस्लिम एकता

सुल्तान ने राजनीति तथा धर्म में सामन्जस्य पैदा करने का प्रशंसनीय कार्य किया जिसका प्रारम्भ अलाउद्दीन खिल्जी ने किया था। अपने धर्म में अपार अनुरक्ति होते हुए भी उसने अन्य धर्म वालों के साथ सदैव सहानुभूति तथा उदारता का व्यवहार किया। सुल्तान ने उस धार्मिक सहिष्णुता की नीति को जन्म दिया जिसका अनुसरण करके उसके बाद में शेरशाह, अकबर आदि ने यश प्राप्त किया।[11]

सुल्तान ने लौकिक (Secular) शासन स्थापित करने का प्रयास किया था। वह उलेमा लोगों का बहुत कम परामर्श लेता था और उनके परामर्श के अनुसार कभी काम नहीं करता था। उसके शासन काल में न तो हिन्दुओं को परधर्मी होने के कारण दण्ड दिया गया और न सरकारी कर्मचारियों द्वारा उन्हें जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया। हिन्दुओं को पूजा-पाठ की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।[12] इसका उदाहरण इब्नबतूता के अनुसार इस प्रकार हैं—एक बार एक हिन्दू ने एक काजी से शिकायत की कि सुल्तान ने बिना किसी कारण के उसके भाई की हत्या करवा दी। इस शिकायत पर सुल्तान बिना किसी हथियार के न्यायालय में उपस्थित हुआ और उसने काजी के न्याय को सुना तथा उसका हरजाना अदा किया।[13]

सुल्तान ने उच्च पदों पर नियुक्ति का आधार धर्म अथवा जाति न रखकर योग्यता ही रखा। इब्नबतूता के अनुसार रतन नामधारी हिन्दू उसका विश्वस्त सेवक था। उसे "अजीमुस्सिंध" की उपाधि दी गई थी। उसे सिहवान का गवर्नर नियुक्त किया था। वह लेखा (Accounts) का विशेषज्ञ था। इस नियुक्ति का कुछ मुसलमान उच्च अधिकारियों ने विरोध किया था और एक रात को आक्रमण करके उसकी हत्या कर दी गई थी। तब सिन्ध के गवर्नर इमादूल-मुल्क-सरयीज ने सिहवान पर आक्रमण किया और हत्यारों तथा उनके समर्थकों की हत्याएँ की गईं।[14] उसने किशन बाजरान (कृष्ण नारायण) को अवध का प्रदेश दिया।

दूसरा व्यक्ति भैरव नामक हिन्दू था जिसे गुलबर्ग का गवर्नर नियुक्त किया गया था। तीसरे कुतलुग खाँ को अर्थ विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था।[15]

मुहम्मद तुगलक के काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक और नया उदाहरण मिलता है। बहाउद्दीन गुर्शस्प जो सागर (गुलबर्ग के निकट) का हाकिम था, ने 1326 ई० में सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सुल्तान ने विद्रोह को दबाने के लिए एक सेना भेजी। जब गुर्शस्प की सेना हारने लगी तो वह जान बचाकर कम्पिला की ओर भागा। जब बहाउद्दीन कम्पिला नरेश की

शरण में पहुँचा तो उसे अभयदान प्राप्त हुआ। कम्पिला के हिन्दू शासक ने सौगन्ध खाकर कहा "तुमने अच्छा किया कि मेरे पास आये। मैं तुम्हारा जीवन बचाने के लिए अपना जीवन न्यौछावर करने के लिए तैयार हूँ। जब तक एक नस भी मेरे शरीर में कार्य करती रहेगी मैं किसी को तुम्हें छूने नहीं दूंगा।" एक मुसलमान शरणार्थी को बचाने के लिए उसने किया भी ऐसा ही। सुल्तान की सेना ने जब उसके दुर्ग को घेर लिया तो वह जान बचाकर हुसदुर्ग को चला गया। कम्पिला नरेश पराजित हुआ परन्तु उसने गुर्शस्प का साथ दिया और उसे होयसल के शासक वीर वल्लाल तृतीय के पास सुरक्षित भेज दिया।

कम्पिला का राय स्वयं अन्त तक युद्ध के लिए दृढ़ संकल्प था। उसने जौहर किया। अपनी समस्त सम्पत्ति, स्त्रियों और पुत्रियों को जला दिया और तत्पश्चात शाही सेना से बड़ा भयंकर युद्ध किया तथा रणभूमि में लड़ते-लड़ते वीर-गति प्राप्त की। जब मुहम्मद अयाज ने अनेगुन्डी पर अधिकार किया तो उसने वहाँ के एक विशेष निवासी मरे हुए व्यक्तियों जिनके शव रणभूमि में पड़े थे को पहचानने के लिए नियुक्त किया। अब उस व्यक्ति ने "फूल के समान बाणों से बिधा हुआ एक सर देखा तो वह ऐसे चिल्लाया जैसे वह बड़े कष्ट में हो। उत्सुक पूछने वालों को उसने बताया कि "यह हमारे राय का सर है।" दिवंगत राय के ग्यारह पुत्र पकड़कर सुल्तान के पास लाए गए जिसने उत्तम वंश तथा उनके पिता का महान आचरण ध्यान में रखकर उनसे अत्यन्त सद-व्यवहार किया।

गुर्शस्प के विरुद्ध की गई कार्यवाही में केवल एक अच्छाई थी कि सुल्तान के अधिकारियों ने धार्मिक सहिष्णुता तथा उदारता की भावना प्रदर्शित की। उस समय कुछ सैनिकों ने कल्याण में शिवलिंग तथा मधुकेश्वर का मंदिर नष्ट किया। मंदिर के एक संरक्षक ठक्कुरमल ने अहमद अयाज से भेंट की और मूर्ति पुनर्स्थापना की उससे प्रार्थना की। उसने अहमद अयाज ने यह कहकर आदेश दिया : "चूंकि मंदिर में उपासना प्रार्थी का धार्मिक कर्तव्य है इसलिए उन्हें उसका पालन करना चाहिए।" कल्याण शिलालेख से अमुस्लिम प्रजा के प्रति सुल्तान की धार्मिक स्वतन्त्रता की नीति प्रदर्शित होतीं है।[16]

इस संघर्ष में हिन्दू मुसलमानों में किस सीमा तक एकता कायम थी यह अनुमान उपर्युक्त उदाहरण से लगाया जा सकता है।

कोन्धाना की विजय में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लक्षण प्रदर्शित होते है। कोंधाना अर्थात् सिहंढ देवगिरी के निकट स्थित था और नाग नायक के अधिकार में था। मुहम्मद तुगलक ने देवगिरी से उस दुर्ग के विरुद्ध कूच किया। राणा आठ मास तक अवरोध का सामना करता रहा और तत्पश्चात् विवश होकर आत्म-समर्पण कर दिया। सुल्तान ने उसके समर्पण की प्रशंसा

की तथा एक "कबा" (वस्त्र) कुलाहा (टोपी) उसे प्रदान कर उसे सम्मानित किया।[17]

एक बार 1335 ई० में यह खबर फैल गई थी कि सुल्तान की मृत्यु हो गई है। दौलताबाद में मलिक हुशंग ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। परन्तु जब उसे यह खबर मिली कि सुल्तान जिन्दा है तो वह दौलताबाद से भाग गया और पश्चिमी घाट के एक हिन्दू राजा बरबरा के यहां शरण ली।[18] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अब मुसलमान हिन्दुओं से मेल रखने को कोई बुराई नहीं मानते थे।

मुहम्मद बिन तुगलक के काल में एकीकरण के नए-नए ढंग मिलते हैं। उनमें से एक यह था कि उसने हिन्दू धर्म की प्रमुख भाषा के शब्दों को अपनाने में भी कोई झिझक अनुभव नहीं की। दोआब के अकाल के बाद जब सुल्तान ने वहाँ राहत कार्य चलाया तो एक प्रबन्ध यह था कि वहाँ की जनता को अनाज बाँटा जाये। इसके लिए उसने गंगा के पश्चिमी किनारे पर प्राचीन शहर खोर (khor) (दिल्ली से लगभग 165 मील) में एक स्वर्ग द्वारा (Swarga Dwara) (The Gate of Paradise) 1337-38 ई० में बनवाया और इसी स्थान पर अवध का गवर्नर एनुलमुल्क लगभग 6 वर्ष तक रहा।[19]

लगभग 1337 ई० में सुल्तान ने नगरकोट विजय प्राप्त करने का प्रयास किया और एक लाख सेना के साथ किले पर आक्रमण कर उसको अपने अधीन कर लिया। नगरकोट के नरेश ने सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली तथा सुल्तान ने नगरकोट के नरेश को संतुष्ट रखने के लिए किला उसे वापिस कर दिया। सुल्तान ने नगरकोट में स्थित ज्वालामुखी मंदिर को ध्वंस नही किया।[20] इससे यह सिद्ध होता है कि मुहम्मद-बिन-तुगलक ने हिन्दू-मुस्लिम एकता में एक नया अध्याय और जोड़ दिया कि अगर कोई हिन्दू शासक अधीनता स्वीकार कर ले तो उसे धर्म परिवर्तन की कोई आवश्यकता नही है और उनके पूजा स्थलों को कोई हानि नहीं पहुँचाई जायेगी। उसके इस कार्य से भारत के अनेक शासकों ने प्रेरणा ली और शेरशाह, अकबर आदि ने इस नीति का पूर्णतया प्रयोग करके अपने साम्राज्य का खूब विस्तार किया। उनके विस्तार वादी कार्यों में मुसलमानों से अधिक हिन्दुओं ने सहयोग दिया तथा यश पाया।

सुल्तान मुहम्मद-बिन-तुगलक के शासन काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक और नया परीक्षण शुरू हुआ और वह दक्षिण में तेलंगाना क्षेत्र में हुआ। जब वह सुल्तान बना था उस समय देवगिरी तथा तेलंगाना प्रत्यक्ष रूप से दिल्ली सल्तनत के शासन के अन्तर्गत आ चुके थे। तलंगाना को कई भागों में विभाजित कर दिया गया था और प्रत्येक भाग के लिए अलग-अलग शासक नियुक्त कर दिये गये थे। इन शासकों ने दक्षिण के हिन्दू राजाओं के साथ

गठबन्धन करके अपनी शक्ति को सम्वर्द्धित करने का प्रयास आरम्भ किया। सुल्तान दक्षिण की इस स्थिति से अवगत था परन्तु वह दिल्ली से दक्षिण भारत की इस विकट स्थिति का सामना नहीं कर सकता था। अतएव विवश होकर उसे प्रान्तीय शासकों को आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रता देनी पड़ी थी। तुर्की सरदार स्वतन्त्र होने की सदैव कल्पना किया करते थे। दक्षिण के अमीरों ने अनुकूल परिस्थितियों का अनुभव किया और प्राय: प्रत्येक योग्य प्रान्तपति ने स्वतन्त्र होने की चेष्टा आरम्भ की।

सुल्तान ने दक्षिण के विद्रोह का दमन करने के लिए उत्तर में राजधानी रखने की असुविधा का अनुभव किया। इस असुविधा को दूर करने के लिए सुल्तान ने दौलताबाद को अपनी राजधानी बनाने का निश्चय किया परन्तु उत्तर की समस्याएँ इतनी जटिल तथा आपत्तिजनक थीं कि वह दो-चार वर्ष भी दक्षिण में न रह सका और वहाँ पर अपना नियन्त्रण स्थापित न कर सका। दक्षिण में सुल्तान का साम्राज्य भी बढ़ गया था। अतएव दक्षिण की समस्याओं ने और अधिक भयानक रूप धारण कर लिया। सुल्तान की राजधानी परिवर्तन की योजना भी सफल न हो सकी अतएव समस्या पूर्ववत जटिल बनी रही। सत्ताधिकारियों अथवा विदेशी अमीरों ने इस समस्या को और भी जटिल बना दिया।

सुल्तान ने मलिक मकबूल को वहाँ का शासक नियुक्त कर दिया था। 1335 ई० में वहाँ पर हिन्दुओं का विरोध इतना बढ़ गया था कि मलिक वहाँ की स्थिति को न संभाल सका। इस गम्भीर स्थिति में सुल्तान ने कम्पिला के भूतपूर्व शासक प्रताप रुद्रदेव के दो सम्बन्धी हरिहर और बुक्का, जिन्हें बन्दी बनाकर रखा गया था, की सहायता से वहाँ पर शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया। चूँकि वे वहाँ के प्रभावशाली व्यक्ति थे और सुल्तान के भी भक्त थे फलत: उसने हरिहर को उस क्षेत्र का शासन और बुक्का को उसका मन्त्री बनाकर भेज दिया। यह मुस्लिम इतिहास का अनोखा परीक्षण था। इस परीक्षण से हिन्दू-मुस्लिम एकता को अद्वितीय बल मिला। भविष्य में अकबर ने भी इस नीति को अपनाया।

सुल्तान ने अपने समर्थकों को संगठित करगे के लिए इल्तुतमिश की भाँति एक नई नीति चलाई थी। इल्तुतमिश ने चालीस गुलामों के दल का गठन किया था जो उसे राजकार्य चलाने में अनेक प्रकार से सहायता दिया करते थे। इसी प्रकार मुहम्मद बिन तुगलक ने सत्ताधिकारियों का गठन किया था। जिन लोगों को अमीरा ने सदह की संज्ञा दी थी उनमें से अधिकांश लोग विदेशी थे। परन्तु यह लोग किसी एक देश अथवा जाति के न थे। इनमें मंगोल, अफगान, तुर्क सभी शामिल थे। कुछ राजपूत तथा भारतीय मुसलमान

भी इनमें थे। इसी तरह की पद्धति नाम बदलकर तथा कुछ संशोधन करके अकबर ने भी चलाई थी।'''और यह मनसबदारी प्रथा थी जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे। मुहम्मद बिन तुगलक की इस नीति से हिन्दू तथा मुस्लिम अधिक निकट आये।

सुल्तात ने लौकिक राज्य की स्थापना का प्रयास किया था। वह उलेमा लोगों से कम परामर्श लेता था और उनके परामर्श के अनुसार कभी काम नहीं करता था। यदि उलेमा लोगों पर राजद्रोह अथवा सरकारी धन के अपव्यय अथवा अपहरण का अभियोग लग जाता था तो वह उन्हें निसंकोच दण्ड देता था। इससे भी हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल मिला क्योंकि सुल्तान अब केवल मुसलमानों का ही शासक न होकर हिन्दुओं का भी शासक होना सिद्ध करना चाहता था और उसकी इस नीति से हिन्दू अब अपने को अलग प्रजा नहीं समझते थे।

सुल्तान ने कुरान के अनुसार बताये गये कर, खिराज, जकात, जजिया तथा खाम के अतिरिक्त भी कर लगाये। ये कर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों पर समान रूप से लगाये। पहले उलेमा लोग असाधारण कानूनों से मुक्त रहते थे। परन्तु उसने इस नीति में भी परिवर्तन कर दिया। सुल्तान की कर-नीति और न्याय नीति से हिन्दू बहुत प्रभावित हुए और दोनों के बीच की खाई कम होती चली गई।

मुहम्मद तुगलक के दरबार में वाद-विवाद में गैर मुस्लिम विद्वानों ने भी भाग लिया। इमामी तथा इब्बनबतूता दोनों ही कहते हैं कि वह योगियों से व्यक्तिगत वाद-बिवाद किया करया था। नूतन जैन अभिलेखों की खोज से यह ज्ञात हुआ है कि जैन विद्वानों से उसका घनिष्ठ मम्बन्ध था। एक समय जिन् प्रभा सूरी ने आधी रात तक उसके साथ बातचीत की। प्रचुर मात्रा में अन्य उपहारों के अतिरिक्त सुल्तान ने उसे एक हजार गाएँ प्रदान कीं। राज-शेखर तथा जिन् प्रभा सूरी के समान जैन विद्वानों ने उसके संरक्षण का आनन्द प्राप्त किया।

यद्यपि नमाज़ पढ़ने तथा इस्लाम धर्म द्वारा आदेशित अन्य धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करने में सुल्तान बेहद औपचारिक था किन्तु वह अन्य धर्मों के प्रति समान रूप से उदार रहा तथा उनके धार्मिक समारोहों और त्यौहारों में भाग लेता रहा। सम्भवतः वह दिल्ली का प्रथम सुल्तान है जिसके हिन्दुओं के होली आदि त्यौहारों में भाग लेने का स्पष्ट तात्कालिक प्रमाण मिलता है। असंख्य योगी अपने मुसलमान अनुयायियों के साथ उसके साम्राज्य में घूमते थे और उसने कभी इस पर आपत्ति नहीं की। शास्त्र-विरोधी धार्मिक सम्प्रदायों तथा व्यक्तियों की एक भारी संख्या जिनका उल्लेख फिरोजशाह ने

अपनी पुस्तक "फुतूहात" में किया है, मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा उत्पन्न किये गये बौद्धिक स्वतन्त्रता के वातावरण में ही पनप सके। कहते है कि वह पलतीना के शत्रुंजय तथा गिरनार के मंदिरों में गया। शत्रुंजय मदिर में उसने जैन संघ के नेता के उपयुक्त भक्ति के कुछ कर्म सम्पन्न किए। यह भी बताया जाता है कि उसने एक नवीन "बस्ती उपश्रय" (साधुओ के ठहरने के लिए धर्मशाला) का निर्माण कराने के लिए शाही मुहर लगा हुआ एक "फरमान" भी जारी किया। बरिहागढ़ शिलालेख सुल्तान द्वारा एक गोमठ (गायों के रहने का स्थान) के निर्माण की घोषणा करता है। सुल्तान की इस धार्मिक विश्वव्यापी भावना ने इसामी के समान व्यक्तियों को उसके विरुद्ध विधर्मी तथा नवाचार के अभियोग लगाने का बहाना तैयार किया।[21]

हिन्दुओं के प्रति उदार नीति के कारण सुल्तान हिन्दू योगियों, संतों और संन्यासियों का सम्मान करता था और उनके साथ सत्संग करने की तीव्र लालसा रखता था। कहा जाता है कि उसने हिन्दुओं की सती प्रथा को निषिद्ध या नियन्त्रित करने का प्रयास किया।[22] सुल्तान की इस नीति से भी हिन्दू मुस्लिम एकता को एक नई दिशा मिली और भविष्य में बाबर ने गुरु नानक देव के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की तथा अकबर ने सती प्रथा पर रोक लगाने की चेष्टा की। फरिश्ता के अनुसार बहमनी वंश की नींव डालने वाले हसन कंगू की नियुक्ति एक ब्राह्मण गंगू के कहने पर ही मुहम्मद तुगलक ने की थी।

सुल्तान का यह दृढ़ विश्वास था कि प्रशासन को विस्तृत आधार देकर ही वह अपनी सत्ता की नींव दृढ़ कर सकेगा। सरकार को स्थाई होने के लिए जनता के निकट होना चाहिए। यदि प्रजा के प्रत्येक वर्ग को शासन में लेना था तो यह सामान्य रूप से आवश्यक था कि राज्य के उच्च पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति की जाय। ऐसे ही कुछ उच्चतम पदों पर हिन्दुओ की नियुक्ति भी की गई। इसके अतिरिक्त उसने हिन्दू विद्वानों तथा कवियों को संरक्षण प्रदान किया। शिहाबुद्दीन-उल-उमरी के अनुसार उसके दरबार में एक हजार अरबी, फारसी तथा हिन्दी के कवि थे।[23]

मुहम्मद बिन तुगलक के समय में हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या शासन के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त की गई थी। चुनार का शिलालेख सुल्तान के एक हिन्दू मन्त्री सांई राज का उल्लेख करता है। धारा नामक दक्षिण का "नायब वजीर" भी हिन्दू था। मीरन राय गुलबर्गा का राज्यपाल नियुक्त किया गया था और उसको हरि की इक्ता दी गई थी। इस हिन्दू तत्व के अधिकारी वर्ग के आकर्षक वृत में प्रवेश से प्राचीन परिवार अप्रसन्न हुए जिनके निहित स्वार्थ थे और जो अपने विशेषाधिकारों में अतिक्रमण सहन नहीं कर सकते थे। सेहवान तथा अलीशाह नाथू विद्रोह उस असन्तोष से प्रेरित थे। यह महत्वपूर्ण

है कि मुहम्मद बिन तुगलक को मुसलमान अधिकारियों द्वारा संगठित अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा था। उसकी सेना में हिन्दू अधिकारियों का कोई विद्रोह नहीं हुआ।[24]

विचारों तथा आदर्शों के क्षेत्र में यह प्रतिभाशाली तथा मौलिक विचारों का सुल्तान अद्वितीय स्थान रखता है। उसे हम अपने काल की सभ्यता तथा संस्कृति का प्रतिनिधि कह सकते हैं। उसका व्यापक तथा उदार दृष्टिकोण सर्वथा श्लाघनीय है। उसने राजनीति तथा धर्म में सामंजस्य पैदा करने का प्रशंसनीय कार्य किया। अपने धर्म में अपार अनुरक्ति होते हुए भी उसने अन्य धर्म वालों के साथ सदैव सहानुभूति तथा उदारता का व्यवहार किया। सुल्तान ने उस धार्मिक सहिष्णुता की नीति को जन्म दिया जिसका अनुसरण करके उसके बाद में शेरशाह तथा अकबर आदि सम्राटों ने खूब नाम कमाया। आधुनिक भारतीय सरकार ने भी धर्म तथा राजनीति को अलग कर दिया है और धर्म-निरपेक्षता की नीति को अपनाया है।

सुल्तान ने धर्म से भी अधिक श्लाघनीय कार्य यह किया कि सम्पूर्ण भारत को अर्थात् दक्षिण भारत को उत्तर भारत के साथ प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण में किया और इस नीति का अनुसरण कर अकबर ने आधुनिक सरकार का मार्ग आसान कर दिया।

सुल्तान ने उच्च पदों पर नियुक्ति का आधार धर्म तथा जाति न रखकर योग्यता ही रखा। योग्य व्यक्तियों को जाति, धर्म आदि का भेद-भाव भुलाकर उच्च पदों पर नियुक्त किया गया। "तारीख-ए-फिरोजशाही" के लेखक ने सुल्तान के नीच जन्मा पदाधिकारियों की सूची भी प्रस्तुत की है। मालवा, धार तथा गुजरात के विद्रोह के दमनार्थ उसने अजीज खुन्नार को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया जो एक मद्य-पान विक्रेता का आत्मज था। इसी प्रकार उसके अनेक अन्य कर्मचारी भी नीच कुलों से संबंधित थे, यथा फिरोज हज्जाम था, मनका बावर्ची था लद्धा माली था।[25] उसकी इस नीति को अकबर ने भी अपनाया और उसने भी उच्च पदों पर नियुक्ति का आधार जाति व धर्म न रखकर योग्यता ही रखा। आधुनिक सरकार भी इसी आधार को अपना रही है और संविधान में स्पष्ट कर दिया गया है कि सरकारी सेवाओं में नियुक्ति के समय जाति-धर्म तथा लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। इससे भी अधिक संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों में स्पष्ट कर दिया गया है कि अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के उत्थान के लिए सरकार विशेष प्रयत्न करेगी। पं० जवाहरलालजी ने अपने प्रथम मंत्रिमण्डल का गठन करते समय मंत्री स्तर के पदों पर डा० भीमराव अम्बेडकर तथा जगजीवनराम को मंत्री बनाया था और उन्होंने किसी तरह का कोई भेद-भाव नहीं किया था।

बहुत-सी बातों में मुहम्मद बिन तुगलक ने आधुनिक भारत की नींव अपने समय में रख दी थी जिसके कारण कुछ स्वार्थी व्यक्ति उन्हें असफल करने तथा बदनाम करने की कोशिश करते रहते थे और कुछ फूट डालने वाले लेखकों ने उन्हें मूर्ख की संज्ञा दी थी। मेरे विचार में उन्हें मूर्ख की संज्ञा देना बुद्धिमत्ता से आगे की बात करना है।

डा० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार वह धर्मनिष्ठ था और कुरान के नियमों का दृढ़ता से पालन करता था। परन्तु अन्य पूर्ववर्ती राजाओं की भांति उसमें धार्मिक कट्टरता नहीं थी। हिन्दुओं के प्रति उदारता दिखाने में और तत्कालीन सती-प्रथा बन्द करने आदि सामाजिक सुधार करने की चेष्टा से उसकी उदारता का पता चलता है।[24अ]

"फिरोज तुगलक और हिन्दू-मुस्लिम एकता"

कट्टरता धर्म और रक्त से संबंधित नहीं है। मेरे विचार में वह विचारों से संबंधित है। यह बात फिरोज और उसके कार्यों का अध्ययन करने से स्वयं सिद्ध हो जायेगी। फिरोज गयासुद्दीन के भाई रजब का पुत्र था। उसकी माता का नाम बीबी नैला था जो भट्टी वंश के राजपूत रणमल की पुत्री थी जो अबूहर का सामन्त था। अफीफ जिसके पूर्वज अलाउद्दीन खिल्जी के समय से तुगलक परिवार के सम्पर्क में था, हमें फिरोज के पिता के विवाह और फिरोज के आरम्भिक जीवन का विवरण देता है। जब मलिक तुगलक को दीपालपुर का राज्यपाल नियुक्त किया था उस समय अफीफ का प्रपितामह शिहाब अफीफ उसके अधिनस्थ अबोहर जिले का अधिकारी था। तुगलक के दो छोटे भाई थे सिपहसालार रजब तथा अबू बक्र। गयासुद्दीन तुगलक एक जाट स्त्री का पुत्र था या नहीं यह सिद्ध अथवा असिद्ध नहीं हुआ। किन्तु उसने रजब के लिए एक प्रतिष्ठित हिन्दू महिला की इच्छा की और उसे बताया कि राय रणमल भट्टी की पुत्री बीबी नैला (या नाइला) सर्वोत्तम जोड़ी होगी, जो खोजी जा सकती है। किन्तु जब राय के पास प्रस्ताव भेजा गया तो उसने क्रोधित होकर उसे ठुकरा दिया। शिहाब अफीफ ने तुगलक को राय के प्रदेश की ओर कूच करने तथा राय और उसके मुकद्दमों से बकाया वसूल करने का परामर्श दिया। उसने राय और उसके परिवार को कठिनाई में डाल दिया। किन्तु दो या तीन दिन पश्चात् युवा महिला ने राय को सांत्वना देते हुए प्रस्ताव स्वीकार करने का निश्चय किया। उसने कहा : मुझे उसके पास भेज दीजिए और यह समझ लीजिए कि आपकी एक पुत्री को मंगोल पकड़कर ले गये। अब कमालुद्दीन फिरोज का जन्म 709 हि० (1309-10 ई०) में हुआ था : किन्तु वह केवल सात वर्ष का था जब उसके पिता की मृत्यु हो गयी और तुगलक ने रोती हुई महिला को

आश्वासन दिया कि वह फिरोज का अपने पुत्र के समान पालन-पोषण करेगा। यह वचन सज्जनता से निभाये गये ।[25] यह बड़े आश्चर्य की बात है कि राजपूतानी का पुत्र होते हुए भी फिरोज बड़ा ही कट्टर मुसलमान था और हिन्दुओं से उसे घोर घृणा थी जबकि धर्म और रक्त के आधार पर वह हिन्दू था और कट्टर मुसलमान मुहम्मद बिन तुगलक ने धर्म निरपेक्षता की नीति का शासन में समावेश कर दिया था। परन्तु फिर भी उसके शासन काल में अनेक स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम-एकता के अनेक प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं।

निम्नलिखित प्रकरण से स्पष्ट है कि फिरोज तुगलक ने अपने हिन्दू मामा से सिंहासन पर बैठने के बाद भी संबंध बनाये रखे ।

प्रत्येक शुक्रवार को नमाज़ के पश्चात् फिरोजशाह तुगलक का यह नियम था कि वह मुहम्मद बिन तुगलक की बहन खुदा बन्दजादा को देखने जाता था। फिरोज के प्रथम बंगाल अभियान के प्रस्थान के कुछ समय पूर्व उसने तथा उसके पुत्रों ने निकटवर्ती कमरों तथा द्वार पर सशक्त व्यक्ति छिपाकर उसका वध करने के लिए एक विशेषाधिकार का लाभ उठाया। किन्तु फिरोज तुगलक संभवतः महिला के द्वितीय पुत्र खुसरु मलिक के संकेत से सतर्क हो गया था। वह अत्यन्त शीघ्रता से उसके कमरे से बाहर निकल आया। अपने मामा राय भी रहूं भट्टी से अपनी तलवार ली और बड़े साहस से स्वयं अपने महल में गया तथा खुदाबन्दजादा के मकान की तलाशी लेने का आदेश दिया ।[26]

गुजरात में अफगान, तुर्क और राजपूत सत्ताधिकारियों और हिन्दू-शासकों ने सम्मिलित होकर सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा खड़ा किया और विद्रोह किया। इस समय गुजरात का गवर्नर मलिक मकबूल था। जब वह राजकोष लेकर दिल्ली जा रहा था तो सत्ताधिकारी विद्रोहियों ने आक्रमण करके उसे लूट लिया तथा शाही घोड़े छीन लिए। इस लूटे हुए धन से विद्रोहियों ने सेना का संगठन किया। इस पर सुल्तान गुजरात पहुचा। इसी बीच मलिक मकबूल ने विद्रोहियों के एक दल को परास्त कर, उन्हें बन्दी बनाकर सुल्तान की आज्ञा से उन सबका बध करवा दिया। इसके बाद ही सुल्तान को विद्रोह कुचलने के लिए गुजरात छोड़कर देवगिरी जाना पड़ा था। उसकी अनुपस्थिति में तगी (Taghi) नामक एक मोची ने हिन्दू-मुस्लिम विद्रोहियों को अपनी ओर मिलाकर इस संगठित सैन्य-शक्ति से नेहरवाला, खंभात, भडोंच आदि कई स्थानों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। तगी को कुचलने के लिए सुल्तान देवगिरी से पुनः गुजरात आया और बड़ी वीरता व साहस से उसने तगी को परास्त कर गुजरात से भगा दिया। तगी प्राण-रक्षा के लिए गुजरात से सिंध भाग गया और थट्टा में आश्रय प्राप्त किया। जब सुल्तान पीछा करता हुआ थट्टा की ओर बढ़ा तो सुल्तान को 20 मार्च 1351 ई० में ज्वर से पीड़ित

होने के कारण मृत्यु हो गई।

जब फिरोज तुगलक शासक बना तो उसने सुल्तान की मृत्यु का बदला लेने के लिए 1362 ई० में सिंध की ओर एक विशाल सेना सहित प्रस्थान किया। इस समय तगी की मृत्यु हो चुकी थी और जाम उन्नार का पुत्र जाम माली शासक बन गया था तथा उसके भाई का पुत्र बबीनिया उसकी सहायता कर रहा था। दोनों सिंध की रक्षा में लगे हुए थे। कई स्थानों पर भयंकर युद्ध हुए परन्तु फिरोज को सफलता नहीं मिली। अन्त में 1363 ई० में दिल्ली से नयी सेना पहुंचने पर सिंध के सुल्तान ने आत्म-समर्पण कर संधि की चर्चा प्रारम्भ की। सुल्तान ने संधि कर ली। जामा ने सुल्तान की आधीनता स्वीकार कर ली और वार्षिक कर देने का वचन दिया। सुल्तान ने जाम के साथ सद्व्यवहार किया और उसे अपने साथ ससम्मान दिल्ली ले आया। उसे पेंशन देकर दिल्ली में ही रख लिया और सिंध का राज्य उसके भाई को सौंप दिया।[27]

इस युद्ध में अगर गम्भीरता से विचार किया जाये तो दोनों ओर हिन्दू-मुस्लिम एकता का परिचय मिलता है। हिन्दू और मुसलमान विद्रोही तगी के साथ बिना धर्म और जाति को ध्यान में रखकर जी-जान से लड़ रहे थे। दूसरी ओर फिरोज ने इस युद्ध में पूर्ण रूप से धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया और धर्म के कारण सिंध की प्रजा के साथ कोई दुर्व्यवहार अथवा अत्याचार नहीं किया। दूसरे जाम के साथ सद्व्यवहार करके उसने यह सिद्ध कर दिया कि वह धर्म को राजनीति का आधार बनाना नहीं चाहता था।

सुल्तान फिरोज ने जब बंगाल पर 1359 ई० में आक्रमण किया तो वह छः महीने तक गोमती के पास जाफराबाद में ठहरा और उसके निकट एक शहर बसाया जिसका नाम जौनपुर रखा। मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार उसने यह नाम जूनाखां (मुहम्मद बिन तुगलक का प्रारम्भिक नाम) के नाम पर रखा। परन्तु हिन्दुओं के अनुसार यह नाम जमनापुर के प्रसिद्ध ऋषि जमदग्नि (परशुराम के पिता) के नाम पर रखा गया।[28] इससे यह सिद्ध होता है कि फिरोज वास्तव में हिन्द-मुस्लिम एकता चाहता था परन्तु वह किन्हीं परिस्थितियों के वशीभूत अपने विचारों को प्रकट नहीं कर सकता था और ये परिस्थितियां उलेमा हो सकते थे क्योंकि उनका उस पर गहरा प्रभाव था।

फिरोज तुगलक ने 1360 ई० में कांगड़ा की ओर प्रस्थान किया और सरहिन्द के निकट फिरोजपुर नाम से एक नया किला बनवाया। इसके बाद वह ज्वालामुखी मंदिर के पास पहुंचा और वहां ब्राह्मणों के साथ इतनी कठोरता नहीं दिखाई जितनी उस समय मुसलमान शासक दिखाया करते थे। यहां पर उसने मंदिर को लूटा तथा मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट किया ऐसा इतिहासकारों का मत है।···परन्तु इस बात पर लगभग सभी इतिहासकार सहमत हैं कि इस

मंदिर में उसे एक बड़ा पुस्तकालय मिला जिसमें लगभग 1300 पुस्तकें संस्कृत की थीं। फिरोज इन्हें अपने साथ दिल्ली ले आया और उनमें से अनेक का फारसी में अनुवाद किया गया।[29] इनका अनुवाद राजकवि आजुद्दीन खालिद खानी ने किया था। फरिश्ता के अनुसार ये वैज्ञानिक पुस्तकें व्यवहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान के विषय में थीं। कट्टरपंथी मुल्ला बदायूनी ने भी इन पुस्तकों की प्रशंसा की है।

अफीफ अपने पिता द्वारा दी गयी सूचना के आधार पर बार-बार इस बात पर जोर देता है कि यह झूठ है कि फिरोजशाह या मुहम्मद तुगलक ने इससे पहले ज्वालामुखी देवी की मूर्ति पर छत्र चढ़ाया था। विभिन्न इतिहासकारों ने यह विवरण स्वीकार या अस्वीकार किया है।[30]

इस घटना से भी ऐसा लगता है कि फिरोज ने यहाँ पर धार्मिक असहिष्णुता तो अवश्य दिखाई परन्तु वह भी किसी परिस्थितिवश ही। अगर वह अपने विवेक से कार्य करता तो धार्मिक सहिष्णुता ही दिखाता। जैसा कि पुस्तकों के अनुवाद करवाने में। बूल्जे हेग के अनुसार फरिश्ता का धार्मिक असहिष्णुता का कथन सत्य प्रतीत नहीं होता। उसके अनुसार कांगड़ा के राय ने आत्म-सर्पमण कर दिया था और सन्धिकर देने का वचन दिया था। फिरोज ने उसका जीता हुआ राज्य वापिस कर दिया था और उसे दिल्ली का करद राज्य मान उसके साथ सद्व्यवहार किया।[31]

सुल्तान फिरोज की धार्मिक सहिष्णुता का परिचय इस बात से भी मिलता है कि उसने अशोक के दो स्तम्भों को महत्व प्रदान किया और उन्हें दूरस्थ स्थानों से लाकर दिल्ली में स्थापित किया। अशोक का एक स्तम्भ जो "मीनार-ए-जर्री" के नाम से प्रसिद्ध हुआ खिज्राबाद के निकट एक गाँव से दिल्ली लाया गया था और फिरोजाबाद में बड़ी मस्जिद के निकट स्थापित किया गया था। दूसरा स्तम्भ मेरठ से लाकर वर्तमान दिल्ली के निकट 'कुश्क-ए-शिकार' के समीप एक पहाड़ी पर स्थापति किया गया। अफीफ ने विस्तारपूर्वक इन स्तम्भों की पुनर्स्थापना का उल्लेख किया है जिससे यह ज्ञात होता है कि इनमें लिपि को पढ़वाने के लिए ब्राह्मणों को आमंत्रित किया था, पर वे असफल रहे।[32]

सुल्तान गयासुद्दीन के काल में जब शेख निजामुद्दीन औलिया शमा लगाते थे तो सुल्तान इसे अच्छा नहीं मानते थे और संगीत को धर्म विरोधी कहते थे, परन्तु फिरोज के दरबार में विद्वानों और कलाकारो के साथ संगीतज्ञों को भी आश्रय प्राप्त था। अफीफ यह सूचित करता है कि सप्ताह में एक बार (शुक्रवार को) संगीतज्ञ तथा किस्साम (कहानी कहने वाले) आदि लगभग तीन हजार की संख्या में राजमहल में उपस्थित होते थे।[33]

फिरोज ने हिन्दुओं पर राजकीय करों के अतिरिक्त जजिया कर भी

लगाया। उसने ब्राह्मणों पर भी जजिया लगाया। अब तक ब्राह्मण इस कर से मुक्त थे! दिल्ली के ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया और इन्होंने राजभवन के सम्मुख अनशन प्रारम्भ कर दिया। इस पर फिरोज ने उलेमाओं के परामर्श से यह घोषणा की कि यदि वे राजभवन में एक साथ अपने आपको जलाकर नष्ट भी कर दें, तो भी फिरोज ब्राह्मणों को जजिया कर से मुक्त करने वाला नहीं है। इसके बावजूद भी ब्राह्मणों ने कई दिनों तक अनशन जारी रखा। परन्तु जब फिरोज ने उनकी स्थिति पर किंचित भी ध्यान नहीं दिया, तब अन्य वर्णों के लोगों ने भूखे ब्राह्मणों की दयनीय दशा को देखकर ब्राह्मणों की ओर से जजिया कर देना स्वीकार किया। सुल्तान ने उलेमाओं की स्वीकृति ली। तब यह सुविधा प्रदान की गई कि सभी ब्राह्मणों से दस टनके प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति के स्थान पर 50 कानी के हिसाब से जजिया लिया जाय।[34] उपर्युक्त प्रकरण से यह सिद्ध होता है कि फिरोज ने ब्राह्मणों पर जजिया उलेमाओं के परामर्श से लगाया था तथा उनके परामर्श से ही इसे कम भी किया। वह स्वयं ब्राह्मणों के प्रति उतना कठोर नही था जितना कि उलेमा वर्ग और उन्हीं के कारण वह शायद धर्म-निरपेक्ष न बन सका।

श्री नेत्र पाण्डे के अनुसार इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी अधिकतर योजनाओं से हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों को समान रूप से लाभ पहुँचा था। जब फिरोज ने करों को कम किया तो उसने हिन्दुओं तथा मुसलमानो में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया। कृषि तथा व्यापार की सुविधाएँ हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को समान रूप से प्राप्त थीं।[35]

एस० आर० शर्मा के अनुसार अपने युग की सामान्य संकीर्णता के विपरीत उसने (फिरोज तुगलक ने) धर्मनिरपेक्ष शासन सम्बन्धी सफलताएँ भी प्राप्त कीं जिनके कारण वह मध्ययुगीन भारत के मुस्लिम शासकों में अग्रगण्य है। सार्वजनिक उपयोगिता की जिन वस्तुओं का उसने निर्माण कराया उन पर शासक वर्ग का एकाधिकार नहीं था। जैसा कि डा० ईश्वरी प्रसाद ने स्वीकार किया है, "जनता का हित नये शासन की नीति का नारा था और उसके कार्यों से हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों को ही लाभ हुआ।"[36]

सुल्तान फिरोज के शासन कार्यों में उसका प्रमुख सहायक और सहयोगी उसका वजीर मलिक मकबूल खानेजहाँ था। वह जन्म से हिन्दू ब्राह्मण था और दक्षिण भारत में तैलंगाना राज्य का निवासी था। वहाँ वह तैलंगाना के हिन्दू राय का स्वामिभक्त सेवक था। अपने स्वामी के देहावसान के बाद उसने इस्लाम अंगीकार कर लिया था। उसका इस्लामी नाम मकबूल रखा गया। दिल्ली में उसने सुल्तान को अपने गुणों और प्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित कर लिया था। फलतः प्रगति करते-करते वह वजीर के ऊँचे पद तक पहुँच गया। फिरोज

की अनुपस्थिति में वह प्रशासन संभाले रखता था। सुल्तान फिरोज को मध्ययुग में प्रशासन में जो सफलता प्राप्त हुई, उसका श्रेय मलिक मकबूल को है।[37]

मलिक मकबूल की आरम्भिक दिनचर्या का अफीफ निम्नलिखित विवरण देता है। खानेजहाँ तेलंग का रहने वाला था। इस्लाम में परिवर्तित होने से पूर्व उसका नाम कुन्नू (फूल) था। अपने समाज में वह अत्यधिक सम्मानित व्यक्ति था और तेलंग के राय का विशिष्ट दरबारी था। मुहम्मद बिन तुगलक ने राय को बन्दी बनाकर दिल्ली भेजा किन्तु वह मार्ग में ही मर गया। खानेजहाँ बड़ी आर्त-भावना से मुहम्मद बिन तुगलक के पास आया तथा विश्वास की शपथ (कल्मा) पढ़ा। सुल्तान ने उसे मकबूल (स्वीकृत) नाम दिया और उससे अनुग्रह पूर्वक व्यवहार किया। बाद में जब खानेजहाँ में सुल्तान ने बुद्धिमानी के विशेष लक्षण देखे तो उसे दिल्ली नगर का नायब वजीर नियुक्त किया और उसके लिए उन्नति के द्वार खोले। जब खानेजहाँ किसी प्रलेख पर मुहर लगाता तो उसका निम्नलिखित नाम अंकित होता था, "मकबूल मुहम्मद बिन तुगलक का दास।" यद्यपि प्रतिष्ठित वज़ीर शिक्षित नहीं था किन्तु फिर भी वह अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति था। अपनी बुद्धिमानी से उसने साम्राज्य की राजधानी सुशोभित की। आरम्भिक काल में ही उसे कवामुल-मुल्क की उपाधि दी गयी थी। उसे सुल्तान का राज्यपाल नियुक्त किया गया और बाद में वह साम्राज्य का नायब वजीर नियुक्त किया गया। ख्वाजा-ए-जहाँ सुल्तान मुहम्मद का वजीर था।[38]

उपर्युक्त प्रकरण को ध्यान से देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि फिरोज बलबन आदि शासकों की तरह पूर्ण रूप से धर्मान्ध नहीं था। बलबन ने रेहन को प्रशासन से इसलिए ही अलग करवाया था कि वह जन्म के समय हिन्दू था। फिरोज के काल का अगर निष्पक्ष अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि शासन में हिन्दू-मुस्लिम रक्त तथा धर्म दोनों का सम्मिश्रण था और उसका नायब वजीर मलिक मकबूल रक्त से हिन्दू था और धर्म से हिन्दू-मुस्लिम दोनों का मिश्रण था। भारत में सल्तनतकाल में ऐसा अन्य कोई उदाहरण देखने को नहीं मिलता। कदाचित संसार के किसी अन्य देश में किसी समय ऐसा उदाहरण देखने को मिलता हो। फिरोज के काल में कुछ धार्मिक असहिष्णुता के उदाहरण देखने को मिलते हैं इसका कारण कुछ स्वार्थी उलेमाओं द्वारा फिरोज के विचारों को अधिक प्रभावित करना था। फिरोज शायद उलेमाओं से अधिक प्रभावित इसलिए हुआ हो क्योंकि मुहम्मद बिन तुगलक अपनी कुछ योजनाओं को कार्यरूप देने में कुछ सीमा तक असफल रहा था। इसका कारण उलेमाओं को प्रशासन से अलग करना बताया गया था। अब फिरोज प्रशासन चलाने के लिए उनका सहयोग चाहता होगा। उलेमाओं के कुप्रभाव के कारण ही वह शियाओं

से भी भेदभाव करने लगा था। उसने भारत में राजनीति और धर्म को फिर से मिश्रित कर दिया था।

जब फिरोज सिंहासन पर बैठा तो लखनौती और सुनार गाँव हाजी इलियास सुल्तान शमसुद्दीन के अधिकार में थे। भाँग खाने से उसका स्वास्थ्य खराब हो चुका था। राजधानी लखनौती से पंडुवा स्थानान्तरित कर दी गयी थी। अतीत में दिल्ली से असम्बन्द्धता के लिए बंगाल में भी क्रान्तियाँ हुई थीं और हाजी इलियास का विचार था कि वह पश्चिम की ओर अपनी सत्ता बढ़ा सकता था। उसने तिरहुत पर आक्रमण कर दिया था और फिर बनारस होता हुआ बहराइच की ओर इस बहाने बढ़ा कि सालार मसूद गाजी के मकबरे में उसे अपने स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रार्थना करनी थी। फिरोज अधिक भयभीत था कि इसी बहाने वह पवित्र शेख निजामुद्दीन औलिया के मकबरे पर प्रार्थना हेतु दिल्ली भी आ सकता है।

खानेजहाँ को "नायबे गीयत" (अनुपस्थिति में प्रतिशासक) नियुक्त करने के पश्चात् फिरोज ने 8 नवम्बर 1353 ई० को बंगाल के विरुद्ध कूच किया। पूर्वी उत्तर प्रदेश के राय अपने सैनिकों सहित उससे आ मिलें। उन सरदारों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गोरखपुर तथा चम्पारन का राय उदयसिंह था जिसने बकाया खराज का बीस लाख रुपया दिया और बदले में फिरोज की कृपा प्राप्त की। तिरहुत के राय ने फिरोज का स्वागत किया और पहले की भाँति खराजी बनना स्वीकार किया। वह तथा उसके मातहत राय अभियान में सम्मिलित नहीं हुए। प्रस्थान के समय आइने माहरू द्वारा तय की गयी एक घोषणा प्रसारित की गई। इसका उद्देश्य यह प्रतीत होता था कि प्रदेश बंगाल साम्राज्य में मिलाया जायेगा। फिरोज ने घोषणा की कि वह चालू वर्ष में भूमि कर या खराज की माँग नहीं करेगा केवल अगले वर्ष नियमानुसार कर माँगे जाएँगे। बंगाल के सरकारी कर्मचारी तथा हिन्दू सरदार जो अपने अनुयायियों को उसके पास लायेंगे उनका भूमि अधिन्यास पचास प्रतिशत बढ़ा दिया जायेगा। फिरोज ने भूमि पर उत्तराधिकार (इर्स) का दावा स्वीकार किया इसलिए सभी उसकी प्रजा समझें जाएँगे और उन्हें जब तक वे उसके विरुद्ध हथियार नहीं उठाते, डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।

कोसी नदी के घाट पर फिरोज की पूर्व की ओर गति रोकने के लिए हाजी इलियास ने उसके विरोध का प्रयत्न किया किन्तु फिरोज ने लगभग सौ कोस उत्तर की ओर चलकर जियाराम के निकट वहाँ के रायों की सहायता से, जिन्हें उसने छत्र धारण करने का विशेषाधिकार दिया था, नदी पार कर उसे मात दी। फिरोज के लिए पश्चिम बंगाल के केन्द्र का मार्ग अब साफ था। इलियास के पास इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था कि वह अपनी राजधानी

पंडुवा भाग जाए।

फिरोज ने लगभग 1354 ई० के अन्त में अपना शिविर इकदला से दक्षिण की ओर लगाया और अपने सैनिकों को आदेश दिए कि वे उसके चारों ओर लकड़ी के कटघर बनाये। फिरोज की परिवर्तित मनोवृति समझने के लिए हमें यह याद रखना चाहिए कि दोनों ओर के सैनिक तीन वर्गों में विभक्त थे अर्थात् मुस्लिम करदाता, हिन्दू जो दिल्ली या बंगाल शासकों की सेवा में थे और संरक्षित हिन्दू जो अपने रायों की सेवा में थे। वह अपने सैनिकों को शत्रु के नागरिक लूटने, बन्दी बनाने या बलात्कार और मुस्लिम स्त्रियों को दास बनाने की अनुमति नहीं दे सकता था।

शत्रुओं की अधिक संख्या के कारण बंगाल के घुड़सवर पराजित होकर इकदला वापिस भाग गये। दिल्ली की घुड़सवार सेना ने पराजित होकर वापिस भागती सेना का पीछा किया और फिरोज की सेना ने किले को घेर लिया! इकदला नगर पर अधिकार कर लिया किन्तु दुर्ग पर कब्जा न कर सके। किन्तु फिरोज काफी हत्याएँ कर चुका था। आँसू भरी आँखों से उसने कहा : ये निर्धन व्यक्ति आज मर चुके हैं क्योंकि वे अपने तथा अपने परिवार की जीविका के लिए साधन ढूँढ़ना चाहते हैं। पर्दानशीन मुसलमान स्त्रियों ने नंगे सिर इकदला के मिट्टी के परकोटों के शिखर से घेरा उठा लेने का आग्रह किया जिसे स्वीकार कर फिरोज ने युद्ध समाप्त करने का निश्चय किया। उसने इकदला का नाम 'आजादपुर' (मुक्त नगर) रखा और पंडुवा की ओर वापस चला गया जिसका नाम फिरोजबाद रखा गया। बंगाल की सीमा छोड़ने से पहले उसने अपने सैनिकों को उन सभी बंगालियों को जिन्हें उन्होंने बन्दी बनाया था छोड़ देने का आदेश दिया। हिन्दू सरदार अपने क्षेत्र में पहुँचने पर विदा कर दिये गये। फिरोज ने एक विजयी की भाँति पहली सितम्बर 1354 ई० को दिल्ली में प्रवेश किया।[39]

तुगलक शाह के शासन के दौरान जब उलुगखाँ ने जाजनगर (उड़ीसा) पर आक्रमण किया था तब से ही जाजनगर या उड़ीसा ने दिल्ली की सर्वसत्ता स्वीकार की थी तथा नियमित रूप से हाथी भेज रहा था किन्तु जब फिरोज बंगाल के द्वितीय अभियान के लिए चला तो जाजनगर का गजपति, वीरभानुदेव तृतीय बंगाल की ओर मिल गया। फिरोज ने अपना साज-सामान अपने भाई कुतबुद्दीन की देखरेख में छोड़ा और लगभग चालीस हजार अश्वारोहियों सहित बिहार होता हुआ जाजनगर पहुँचा।

फिरोज के आक्रमण का शिकार प्रथम दुर्ग सेखर या सेखन था। माहरू ने सेखर राय का नाम सालमिन तथा मुबारक शाही ने सादहन बताया है। 'सीरत' के अनुसार सेखर राय के अधीन तीस राय थे। उसने डटकर सामना किया

किन्तु उसे भागने पर विवश कर दिया गया। उसकी पुत्री आक्रमणकारियों के अधिकार में आ गई। फिरोजशाह ने उसे गोद ले लिया। कोनिया नगर जिसकी पहचान जयपुर से की जा सकती थी 'सीरत' के अनुसार अगला विराम स्थल बना यहाँ के निवासी शान्तिप्रिय ब्राह्मण थे। फिरोज ने अपने सैनिकों को आदेश दिए कि वे उन्हें न लूटें।

गजपति ने युद्ध की अपेक्षा भागने में अधिक बुद्धिमानी समझी। उसने अहमद खाँ नामक बंगाली मुस्लिम अधिकारी को जो उसकी सेवा में था, अट्ठाइस हाथी देकर फिरोजशाह के पास भेजा किन्तु वे कुछ न कर सके। गजपति की हस्तिशाला का अधीक्षक राणा महसमल भी बन्दी बना लिया गया। अन्त में गजपति के ससुर रायदाहिर ने हस्तक्षेप किया और रघुजीत पंडित गजपति को आश्वासन देने के लिए भेजा गया। माहरू के अनुसार गजपति ने हिन्दू प्रथानुसार साष्टांग प्रणाम किया निवेदन किया और कि वह तथा उसका पिता दिल्ली दरबार के आज्ञाकारी सेवक रहे थे और यह वचन दिया कि वे समस्त हाथी जिन्हें कटक बनारसी पकड़कर लाया था, फिरोज के अधिकारियों को दे दिए जायेंगे। फिरोज ने गजपति को आश्वासन दिया कि वह केवल हाथी के शिकार के लिए आया था अत: गजपति का भागना अनावश्यक था।

जब फिरोजशाह अपना सार्वजनिक दरबार करता था तो लगभग दस या बारह वरिष्ठ अधिकारियों को बैठने की अनुमति दी जाती थी शेष सभी व्यक्ति शाही परिवार के सदस्यों सहित खड़े रहते थे। दरबार के कालीन वाले फर्श पर बैठने का विचित्र विशेषाधिकार तीन हिन्दू रायों अर्थात् राय मदार देव, राय सुबीर और रावत अधरन को प्राप्त था।

फिरोज की मृत्यु के पश्चात् उसका पौत्र सिंहासन पर बैठा और गयासुद्दीन तुगलकशाह की उपाधि धारण की। उसके विरुद्ध उसके चाचा मुहम्मद ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। तुगलकशाह ने उसके विरुद्ध मलिक फिरोज अली तथा बहादुर नाहिर को सेना लेकर भेजा। बहादुर नाहिर मेवात का एक प्रमुख राजपूत सामन्त था जिसने इस्लाम स्वीकार कर लिया था और इस समय राजनीति में सबसे प्रमुख भूमिका निभा रहा था। बहादुर नाहिर अबुबक्र (1389-90) के काल में भी एक प्रमुख सेनापति बना रहा। उसकी सहायता से अबुबक्र ने अपने चाचा को पराजित किया। बहादुर नाहिर का सहयोग प्राप्त करने के लिए मुहम्मद शाह ने उसको माफ कर दिया था। मुहम्मद शाह ने जफरखाँ को जो वाजहिउल-मुल्क का पुत्र था और राजपूत परिवर्तित मुसलमान था, गुजरात का गवर्नर बनाया था।[40]

तैमूर लंग और हिन्दू-मुस्लिम एकता

तैमूर ने अपनी आत्मकथा "मूल-फू-जात-ए-तैमूरी" में भारत पर आक्रमण करने के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है। उसने लिखा है कि "भारत पर आक्रमण करने का मेरा उद्देश्य है—पैगम्बर मुहम्मद साहिब के काफिरों के विरुद्ध युद्ध करना, (मुहम्मद साहब और उसके परिवार पर ईश्वर का आशीर्वाद और शान्ति रहे), (मेरा उद्देश्य है) देश (भारत) को बहुदेव वाद और अंधविश्वास से मुक्त कर पवित्र करना तथा मन्दिरों व मूर्तियों को विध्वंस करना जिससे कि हम इस्लाम धर्म के बड़े समर्थक और सैनिक बनकर ग़ाजी तथा मुजाहिद का पद प्राप्त करेंगे।[41]

मेरे विचार में वह अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल न हुआ। यह सच है कि उसने अनेक हिन्दुओं का वध किया और मन्दिरों तथा मूर्तियों का विध्वंस किया परन्तु यह भी सच है कि उसने भी हिन्दू शासकों के साथ सन्धियां की और उन्हें सम्मानित भी किया। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

भटनेर के राजपूत राजा राय दुलचन्द पर तैमूर ने जब आक्रमण किया तो राय ने उसकी विशाल सेना का सामना किया पर वह परास्त कर दिया गया। राय ने तैमूर की अधीनता स्वीकार कर ली और उससे मैत्री सन्धि की। इस पर तैमूर ने राय को स्वर्ण जरी की वेशभूषा, जरीदार टोपी तथा स्वर्ण के मियान की एक तलवार भेंट की।[42]

तैमूर ने अपने आक्रमण के समय में दिल्ली को लूटा। जब वह दिल्ली से पहली जनवरी 1399 ई० को फिरोजाबाद होता हुआ जा रहा था तो वह एक दो घंटे के लिए वजीराबाद रुका। उस समय मेवात से बहादुर नाहिर जो पहले हिन्दू था, बहुमूल्य भेंट के साथ उसके पास आया और आत्म-समर्पण किया। तैमूर ने उसके साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं किया। जब कि बलबन के समय में हिन्दू परिवर्तित मुसलमानों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था।[43]

तैमूर भारत से कई हजार शिल्पी अपने साथ समरकन्द ले गया जिन्होंने उसकी राजधानी को सजाया। इसका वर्णन शर्फुद्दीन ने जफरनामी में इस प्रकार किया है—"नगर से (दिल्ली) कई हजार कारीगर एवं शिल्पी लाये गये और तैमूर की आज्ञा से कुछ को उन राजकुमारों, अमीरों तथा उलमाओं में बाँट दिया गया, जिन्होंने विजय में योगदान दिया था और कुछ को उनके लिए अलग रख दिया जो अन्य भागों में शाही अधिकार बनाए हुए थे। तैमूर ने अपनी राजधानी समरकन्द में एक मस्जिद-ए-जामी बनवाने की योजना बनाई थी। और अब उसने आज्ञा दी कि सब प्रस्तर शिल्पी उस पवित्र कार्य के लिए रखे जायें।"[44]

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि अन्य मुसलमान क्रान्तिकारियों तथा (महमूद गजनवी आदि) मुसलमान शासकों की भाँति वह भी हिन्दू शासकों से मैत्री करने में न चूका और अपनी राजधानी को सजाने की भावना के स्वार्थ-वश वह हिन्दू शिल्पियों को न मार सका। उसकी ऐसी भावनाएँ भावी मुसलमान शासकों को सोचने के लिए अवश्य बाध्य करती थीं।[45]

संदर्भ

1. डॉ० ईश्वरीप्रसाद : मध्यकालीन भारत का संक्षिप्त इतिहास पृ० 127।
   1 (अ) मौ० हबीब एवं खलील अहमद : दिल्ली सल्तनत पृ० 400।
2. बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० 133।
3. मौ० हबीब एवं खलीक अहमद निजामी : दिल्ली सल्तनत पृ० 409।
4. वही।
5. खलीक अहमद निजामी : स्टडीज इन मेडीवल इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर पृ० 60।
6. बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 134।
7. खलीक अहमद निजामी : स्टडीज इन मेडीवल इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर पृ० 63।
8. वही पृ० 64।
9. वही पृ० 59।
10. वही पृ० 63।
11. श्री नेत्रपाण्डे : भारत का वृहत इतिहास पृ० 326।
12. वही पृ० 323।
13. बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 138।
14. वही पृ० 147।
15. बी०एन० लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैनिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 628।
16. रतिभानुसिंह नाहर : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ० 478-79।
17. मौ० हबीब एवं खलीक अहमद निजामी : दिल्ली सल्तनत पृ० 431।
18. बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 151।
19. वही पृ० 154।
20. श्री नेत्र पाण्डे : भारत का वृहत इतिहास पृ० 315 एवं मौ० हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ० 452।
21. बी०एन० लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 628।

22. मौ॰हबीब एवं खलीक अहमद निजामी : दिल्ली सल्तनत पृ॰ 427।
23. वही पृ॰ ।
24. (अ) डा॰ ईश्वरी प्रसाद मध्यकालीन भारत का संक्षिप्त इतिहास पृ॰ 130
24. (ब) रतिभानु सिंह नाहर : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ॰ 515-16।
25. मौ॰ हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ॰ 476।
26. वही पृ॰ 478।
27. बी॰एन॰ लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ॰ 621-687-88 एवं रतिभानुसिंह, : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ॰ 416 553 एवं बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ॰ 139, 181।
28. बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ॰ 178।
29. बी॰ एन॰ लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ॰ 686।
30. मौ॰ हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ॰ 497।
31. बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ॰ 179-80।
32. बी॰ एन॰ लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ॰ 573 एवं बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ॰ 187।
33. रतिभानु सिंह नाहर : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ॰ 577।
34. बी॰ एन॰ लूनिया, : पूर्व भारत मध्यकालीन का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ॰ 707 एवं रतिभानुसिंह पूर्व मध्यकालीन भारत पृ॰ 555 56 एवं बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ॰ 188।
35. श्री नेत्रपाण्डे : भारत का वृहत इतिहास पृ॰ 350।
36. ईश्वरी प्रसाद भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ॰ 143-44।
37. बी॰ एन॰ लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ॰ 689।
38. मौ॰ हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ॰ 481, 82।
39. वही पृ॰ 488, 89।
40. वही पृ॰ 494-95।
41. वही पृ॰ 510।
42. बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ॰ 189, 92।
43. बी॰ एन॰ लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ॰ 731।
44. वही पृ॰ 732।
45. रतिभानु सिंह : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ॰ 607, 8।

अध्याय-5

सैयद वंश और हिन्दू-मुस्लिम एकता

हिन्दू मुस्लिम एकता का क्रम तैमूर के आक्रमण के बाद के काल में भी जारी रहा। भारत में हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था की भाँति मुसलमानों में भी वर्ण बन गये। जिस प्रकार हिन्दुओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण थे उसी प्रकार मुसलमानों में भी शेख, सैयद, मुगल, पठान, जुलाहा तथा तेली आदि वर्ण बन गये और इनके अन्तर्गत मुसलमानों के समूह जातियों के समान बन गये। अलग-अलग जातियों के रीति-रिवाज, पहनावा, रहन-सहन एवं धार्मिक मान्यताएँ भी कायम रहीं। इन सभी वर्णों में सैयदों का ब्राह्मणों के समान ऊँचा महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है।[1]

जब खिज्र खाँ सैयद दिल्ली का सुल्तान बना तो उस समय भारत की राजनैतिक दशा बहुत खराब थी। चारों ओर विद्रोह हो रहे थे और प्रान्तपति तथा प्रभावशाली व्यक्ति अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे। दोआब में भी हरसिंह जो कटेहर का शासक था, ने विद्रोह किया और सुल्तान को कर देना बन्द कर दिया। सुल्तान ने ताज-उल-मुल्क को उस पर आक्रमण करने के लिए भेजा। हरसिंह युद्ध में हार गया। उसने सन्धि की और कर देना फिर स्वीकार कर लिया। मुसलमानों ने धर्म के नाम पर राजा तथा प्रजा—दोनों के साथ कोई धार्मिक कट्टरता नहीं दिखाई।[2]

खिज्र खाँ के सेनापति ताज-उल-मुल्क ने इसके बाद निचले दोआब के हिन्दू सामन्तों, जागीरदारों को दिल्ली के नये शासक की आधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया, जिनमें प्रमुख इटावा का राजा सरवार तथा कामपील का राजा था परन्तु धर्म के नाम पर कोई कार्यवाही नहीं की।[3]

1418 ई० में कटेहर के शासक हरसिंह तथा इटावा के शासक सरवार ने फिर विद्रोह किया तो खिज्र खाँ ने ताज-उल-मुल्क को फिर विद्रोह को दबाने भेजा। ताज-उल-मुल्क इस बार हरसिंह को पकड़ने में असमर्थ रहा उसने

क्षेत्र को लूटा अवश्य परन्तु इस बार भी धर्म के नाम पर कोई कार्यवाही नहीं की गई।

राजा जसरथ खोखरों का शासक था। उसको तथा उसके पिता को तैमूर ने कैद कर लिया था और अपने साथ ले गया था। परन्तु तैमूर की मृत्यु के बाद वह किसी प्रकार वहाँ से निकल भागे और भारत पहुँचकर अपना स्वतन्त्र राज्य पुनः प्राप्त करने में सफल रहे। राजा जसरथ ने कश्मीर की सेना को भी परास्त किया। इससे उसकी महत्वाकांक्षा बढ़ गई और वह दिल्ली पर अधिकार की बात सोचने लगा। उसने लुधियाना और रोपड़ पर भी अपना अधिकार जमा लिया तथा जालंधर पर अधिकार करने की कोशिश की। परन्तु शाही सेनाओं ने उसे पीछे भागने के लिए विवश कर दिया। वह भागता हुआ कश्मीर के निचले क्षेत्रों में पहुँचा। इस समय जम्मू के राजा भीम ने शाही सेनाओं की सहायता की, उसने खोखरों के प्रमुख अड्डे को बताया परन्तु जसरथ हानि उठाने के बाद यहाँ से निकल भागा।

मई 1422 ई० में वह पहाड़ी क्षेत्रों से बाहर निकल आया और शाही सेनाओं के साथ छुट-पुट कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। दिल्ली के सुल्तान मुबारक शाह ने कई सेनापतियों को जसरथ को हराने के लिए भेजा जिनमें जम्मू का राजा भीम भी था। उन्होंने जसरथ को हराने की अनेक कोशिशें की परन्तु वे असफल रहे और उसके क्षेत्र को लूटने के बाद वापिस लाहौर आ गये।

इस सफलता से प्रोत्साहित होकर जसरथ खोखर ने शाही क्षेत्र पर फिर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। उसने अपने पुराने शत्रु राजा भीम को युद्ध में पराजित किया और मार डाला। इसके बाद उसने दिपालपुर तथा लाहौर की लूट-मार की।

जसरथ खोखर ने अगस्त में कलानौर को घेर लिया और सिकन्दर तोहफा को मार भगाया, जो उसकी रक्षा कर रहा था। इस सफलता के बाद जालंधर पर आक्रमण किया। यद्यपि वह इस अभियान में असफल रहा परन्तु उसने इस क्षेत्र की लूटमार की। सिकन्दर तोहफा की सहायता जिरू खां और इस्लाम खां ने आगे बढ़कर की। इसी बीच सिकन्दर तोहफा ने राय गालिब की सहायता से जसरथ को परास्त किया और उसे पीछे पहाड़ियों में धकेल दिया।

सन् 1431 ई० में जसरथ खोखर ने फिर उपद्रव किया और जालंधर की ओर बढ़ा। सिकन्दर तोहफा ने फिर उसका मुकाबला किया, परन्तु वह हार गया तथा पकड़ा गया। जसरथ ने लाहौर की ओर प्रस्थान किया तथा शहर को घेर लिया। इस पर लाहौर की रक्षा सैयद निजामुद्दीन और खुशखबर ने की। जनवरी 1432 ई० में जसरथ ने लाहौर का घेरा उठा लिया और पहाड़ी पर चला गया सिकन्दर तोहफा को जो उसके पास बन्दी था वह अपने साथ ले गया।

अगस्त के महीने में जसरथ ने फिर अपनी कार्यवाही आरम्भ कर दी। उसने मैदान के कुछ इलाकों को लूटा तथा लाहौर में गुरगनदाज (गवर्नर) पर आक्रमण किया। परन्तु कोई सफलता न मिलने के कारण फिर पहाड़ी पर चला गया। कुछ समय बाद जसरथ ने सुल्तान के सेनापति इलाहादाद लौदी को परास्त किया।

सन् 1444 ई० में बहलोल लौदी ने जसरथ खोखर से संधि की तथा दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद शाह से झगड़ा शुरू कर दिया।[4]

जसरथ ने अपनी शक्ति को प्रबल बनाने के लिए काबुल के शासक शेख अली को आमन्त्रित किया।[5]

जसरथ खोखर के विषय में दिए गए उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच तैमूर के आक्रमण के बाद भी एकता का क्रम जारी रहा। जम्मू के राजा भीम ने दिल्ली के मुसलमान शासकों का साथ किसी धर्म में विश्वास किए बिना, दिया। इसी प्रकार, जसरथ खोखर के साथ मुसलमानों अर्थात बहलोल लोदी और काबूल के शासक शेख अली के मैत्री-संबंध थे। धर्म उनके बीच में कोई दीवार नहीं था।

सैयद काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता का जो क्रम चल रहा था उसमें सरवर-उल-मुल्क और खत्रियों के सम्बन्ध एक और कड़ी स्थापित करते हैं। सैयद सुल्तान मुबारक ने देखा कि सरवर-उल-मुल्क मंत्री का कार्य भलीभांति नहीं कर पा रहा है। इसीलिए उसकी सहायता के लिए उसने कमालउद्दीन को लगा दिया। इससे नाराज होकर सरवर-उल-मुल्क ने खत्रियों, मीरन सदर, काजी अबद-उम-समदखां तथा कुछ अन्य से मिलकर सुल्तान की हत्या का षड़यन्त्र रचा। 19 फरवरी 1434 ई० को सरवर-उल-मुल्क ने सुल्तान की हत्या का अच्छा अवसर पाया और मीरन सदर ने शाही अंगरक्षकों की टुकड़ी को उसके पास से हटा दिया। जब सुल्तान अपनी नमाज की तैयारी कर रहा था, मीरन सदर ने सुल्तान को बातों में लगा लिया। सिधरन खत्री दरवाजे पर खड़ा किया गया जिससे कोई अन्दर न जा सके। जब सुल्तान वार्तालाप में लगा हुआ था। तब दूसरे खत्री सिधुपाल ने उसका बध कर दिया।

इस हत्या के बाद मुबारकशाह के भाई के पुत्र को गद्दी पर बैठाया गया। सरवर-उल-मुल्क ने अपने समर्थक बनाने के उद्देश्य से धन-दौलत तथा जागीर बांटनी प्रारम्भ कर दी। बयाना, अमरोहा, नारनौल गुहराम तथा दोआब के कुछ जिले सिधरन को दिए गए। सिधुपाल को भी पुरस्कृत किया गया।

सरवर-उल-मुल्क के कार्यों का अन्य अमीरों ने विरोध किया। उसने विद्रोह को दबाने के लिए कमालउद्दीन को भेजा परन्तु साथ में अपने पुत्र युसुफ सैयद खां तथा सिधरन खत्री को भी भेजा। कमालउद्दीन इलाहादाद लोदी अर्थात्

विपक्षियों से मिल गया तो सरवर-उल-मुल्क ने अपने गुलाम होशियार को भेजा। परन्तु सरवर-उल-मुल्क की सभी योजनाएं असफल रहीं, विपक्षियों ने कमालउद्दीन के नेतृत्व में दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में सरवर-उल-मुल्क को हरा दिया और पकड़कर मार डाला गया। सिधरन, होशियार तथा अन्य खत्रियों की भी हत्या करवा दी गई।[6]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हिन्दू और मुसलमान राजनैतिक उद्देश्य से एक दूसरे से कितने मिले रहते थे तथा धर्म उनके रास्ते में बिल्कुल बाधक नहीं था।

सन् 1414 ई० में दिल्ली का सुल्तान आलमशाह बना। वह आलसी तथा विलासप्रिय था। 1448 ई० में वह बदायूं चला गया जिससे आराम का जीवन व्यतीत कर सके। आलमशाह जब बदायूं जा रहा था तो उसने शाही सत्ता को पुन: स्थापित करने के लिए अपने विशेष सलाहकारों को बुलाया जिनमें कुतुब खां बहलोल का भाई, इशा खां तथा निचले दोआब अर्थात् भोगांव,[7] चटियाली, कामपील का राजपूत शासक प्रताप शामिल था। इससे भी स्पष्ट है कि इस समय में हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम जारी था।

इस काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के नाम में भी काफी समानता हो गई थी जैसे मलिक खुशखबर, मलिक चमन, मलिक खोराज।[8] इस प्रकार के नाम मिलने का अर्थ है हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का अधिक मेल-जोल होना, जिसकी आवश्यकता दोनों धर्मों के अनुयाइयों को थी।

संदर्भ

1. बी० एन० लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 751
2. बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 206
3. वही पृ० 206
4. वही पृ० 209-24
5. श्री नेत्र पाण्डे : भारत का वृहत इतिहास पृ० 366
6. बूल्जे हेग, केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० 220, 21 एवं मो० हबीब दिल्ली सल्तनत पृ० 559, 561
7. बूल्जे हेग : दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 225, 26
8. वही पृ० 217

अध्याय-6

लोदी वंश और हिन्दू-मुस्लिम एकता

लोदीवंश के शासनकाल में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम जारी रहा। इस काल की कुछ परिस्थितियां ऐसी थीं, जिनके आधार पर दोनों को अनेक समय पर मिलकर कार्य करना पड़ा। उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं --

"दिल्ली सुल्तान मुहम्मद-बिन फरीद की शक्तिहीनता को देखकर खोखर नेता जसरथ की सहायता से बहलोल लोदी ने दिल्ली पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में करना चाहा, पर उसे सफलता नहीं मिली।[1]

1441 ई० में मुहम्मद शाह ने समाना की ओर कूच किया और दिपालपुर तथा लाहौर मलिक बहलोल को देकर उसे जसरथ खोखर का दमन करने के लिए भेजा किन्तु जसरथ ने बहलोल से संधि कर ली और उसके महान भविष्य की भविष्यवाणी कर उसकी चापलूसी की। बहलोल की निष्ठा डगमगा गई और वह सुल्तान मुहम्मद की आशाए पूरी न कर सका। इसके विपरीत बहलोल ने दिल्ली के अधीनस्थ प्रदेशों के विरुद्ध कूच किया और पानीपत तक सभी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् दिल्ली भी घेर ली गई परन्तु राजधानी पर अधिकार न हो सका।[2]

जसरथ खोखर ने बहलोल लोदी को दिल्ली का सिहासन लेने के लिए प्रोत्साहित किया। अलाउद्दीन आलमशाह के समय में जब सुल्तान के प्रधानमंत्री हमीद खां ने बहलोल को दिल्ली का सिहासन लेने के लिए आमन्त्रित किया तब 1451 ई० में वह निर्विरोध दिल्ली का सुल्तान बन गया।[3]

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट है कि बहलोल लोदी को दिल्ली का सुल्तान बनाने में जसरथ खोखर ने सहयोग दिया था और इस प्रकार दोनों धर्मों में एकता का क्रम जारी रहा।

तबकाते अकबरी का लेखक चौंतीस सरदारों और बहलोल के सम्बन्धियों की सूची देता है जो उसकी सरकार के आधार थे। उनकी जातीय और धार्मिक

पृष्ठभूमि का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि उनमें लोदी, लोहानी, यूसुफ खेल, सरवानी, मेवाती, जिवानी, तुर्क बच्चा, फरमूली और हिन्दू जैसे राय प्रताप, राम किलान और राम करन थे।[4]

1451 ई० के अन्तिम समय में शेख युसुफ को लंगाहो ने मुल्तान के गवर्नर पद से हटा दिया : उसने बहलोल की सहायता मांगी। जब बहलोल मुल्तान जा रहा था तो दिल्ली के कुछ विद्रोही सरदारों ने जौनपुर के शासक महमूद शाह को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। बहलोल को जब इसकी सूचना मिली तो वह वापिस आया। महमूदशाह की सहायता के लिए हिरात से फतह खां आया। लड़ाई में कुतुब खां लोदी ने फतह खां के हाथी को घायल कर दिया। कुतुब खां ने दरिया खां लौदी को महमूदशाह की सेना से अलग होने के लिए प्रेरित किया। दरिया खां एकदम अपनी सेना सहित बहलौल लौदी से मिल गया। इससे महमूद शाह की सेना में भगदड़ मच गई। फतह खां जीवित पकड़ा गया और रजा खां, जो बहलोल की सेना में हिन्दू अधिकारी था, ने उसका सर अलग कर दिया।[5]

इस घटना से सिद्ध होता है कि बहलोल की सेना में हिन्दू अधिकारी परिवर्तित मुस्लमान थे और वे एक दूसरे से मिलकर कार्य करते थे तथा उनको ऊंचे भी दिये पद जाते थे।

दिल्ली में अपनी स्थिति दृढ़ करने के पश्चात् बहलोल ने बरान (आधुनिक बुलन्दशहर) की ओर कूच किया जहां पर दरिया खां लोदी ने सात परगने उसे समर्पित किए। बहलोल दोआब में अपनी स्थिति को ठीक करना चाहता था। परिस्थितियों से वशीभूत दोआब के शासक जौनपुर के शासक महमूदशाह शर्की का आदेश मानते थे। परन्तु बहलोल ने सात परगने लेने के बाद उसके साथ उदारता की नीति अपनाई। प्रतापसिंह के अधिकार में मैनपुरी तथा भोगांव के जिले फिर से दे दिये गए।[6]

इससे भी स्पष्ट है कि बहलोल ने धर्म के आधार पर राजा प्रतापसिंह के साथ कोई भेदभाव नहीं किया और हिन्दू तथा मुसलमान एक दूसरे के साथ मिलकर कार्य करते रहे।

बहलोल का प्रथम शत्रु जौनपुर का शर्की वंश था, जो सदैव बहलोल को नीचा दिखाने के लिए उद्यत रहता था। अपनी बेगम द्वारा उत्तेजित होकर महमूदशाह ने दिल्ली साम्राज्य पर पुनः आक्रमण कर दिया और वह इटावा जिले में प्रवेश कर गया, जो बहलोल के अधिकार में पड़ता था। महमूद के इस कार्य से युद्ध अवश्यम्भावी था, परन्तु प्रतापसिंह और कुतुब खां की मध्यस्थता से दोनों में संधि हो गई। इस संधि के अनुसार शमशाबाद पर बहलोल का अधिकार मान लिया गया। बहलोल ने जूनान खां को शमशाबाद से हटाकर अपना

प्रतिनिधि राजा करन को नियुक्त किया ।[7]

मुसलमानों के आने के बाद भारत में यह पहला अवसर था, जब यह दिखाई देता है कि दो मुसलमान शासकों के बीच युद्ध को टालने तथा संधि कराने में किसी हिन्दू शासक ने मध्यस्थता की । राजा करन को शमशाबाद का गवर्नर बनाने से भी ऐसा लगता है कि उस समय हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रमजारी था ।

बहलोल को जीवन-पर्यन्त जौनपुर के शासक के साथ संघर्ष करना पड़ा । जौनपुर के शासक के साथ हुई संधि क्षणिक सिद्ध हुई । जब हुसैनशाह शर्की सिंहासन पर बैठा, तब फिर से युद्ध प्रारम्भ हो गया । उसने दिल्ली पर अधिकार जमाने का निश्चय किया । उसकी सेनाओं ने यमुना नदी को पार किया और शाही सेनाओं के साथ जो संघर्ष हुआ उसमें जौनपुर की सेनाओं को सफलता प्राप्त हुई । फलतः संधि हो गई और गंगा दोनों राज्यों की सीमा रेखा मान ली गई । हुसैनशाह जौनपुर लौट गया परन्तु बहलोल ने संधि भंग कर दी और लौटती हुई जौनपुर की सेना पर आक्रमण कर दिया । इस प्रकार फिर युद्ध आरम्भ हो गया । काली नदी के तट पर हुसैनशाह की सेना की पराजय हो गई । बहलोल ने जौनपुर पर भी धावा बोल दिया और उस पर अपना अधिकार कर लिया । हुसैनशाह जौनपुर से निकाल दिया गया । वह ग्वालियर पहुंचा और वहां के स्थानीय राजा की सहायता प्राप्त कर उसने इटावा पर अपनी धौंस जमा ली । ग्वालियर का राजा किरतसिंह हुसैनशाह का मित्र था । इसलिए बहलोल ने उसे अपना आधिपत्य स्वीकार करने को विवश किया ।[8]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जौनपुर के शासकों की मित्रता ग्वालियर के हिन्दू शासक से थी और बहलोल की मित्रता राजा करन सिंह से थी अर्थात् दोनों पक्ष हिन्दू शासकों को अपना मित्र बनाये हुए थे ।

बहलोल लोदी अपने धार्मिक कर्त्तव्य पूरे करने में बड़ा पाबन्द था और उलेमा तथा धर्म तत्वज्ञों का यथेष्ट आदर करता था । किन्तु वह धर्मांधता से असाधारण रूप से मुक्त था जो उसके पुत्र सिकन्दर लोदी के क्रिया-कलापों की विशेषता थी । उसने भारी संख्या में राजपूत और हिन्दू जमींदारों का विश्वास प्राप्त किया और उन्हें दायित्वपूर्ण पद सौंपे । रायकरन, रायप्रताप, रामवीर सिंह, राय त्रिलोकचन्द, राय धधू उसके कुछ विश्वासपात्र सरदार थे ।[9]

बहलोल सबसे हिलमिलकर रहता था और साम्प्रदायिकता की भावना को कोई स्थान नहीं देता था इसलिए उसके साथ राजा प्रताप, राजा वीर सिंह, राजा करन आदि राजपूत सरदार भी थे ।[10]

सिकन्दर लोदी और हिन्दू-मुस्लिम एकता

सिकन्दर लोदी का काल हिन्दू मुस्लिम एकता का एक विचित्र उदाहरण

है। वह बहलोल की एक सुनारिन पत्नी जीबा का पुत्र था जिसका बचपन का नाम निजाम खां था। रक्त व धर्म के आधार पर वह आधा हिन्दू तथा आधा मुसलमान था। बहलोल की इच्छा थी कि वह अपना साम्राज्य अपने पुत्रों में बांट दे। निजाम खां का क्षेत्र दिल्ली व दोआब रहे और अफगान साम्राज्य का प्रधान बने। बहलोल की मृत्यु के बाद दरबार के अमीर सरदारों ने अपनी इच्छा से उत्तराधिकारी चुनने की ठानी। निजाम खां, आजम खां तथा बारबक शाह के नाम प्रस्तावित किये। निजाम खां का पक्ष अधिक दुर्बल पड़ता था। निजाम खां को अफगान सरदार सर्वथा अनुपयुक्त समझते थे तथा कहते थे कि वह एक सुनारिन की सन्तान हैं और दिखावे में भी वह एक राजकुमार सा नहीं दिखता। उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर जब निजाम खां की मां जीवा विपक्षी सरदारों से तर्क वितर्क कर रही थी तभी बहलोल के चचेरे भाई ईसा खा के कुछ अपमानजनक शब्दों के प्रयोग से खानखाना फर्मूली और कुछ अन्य अमीर जीवा के पक्ष में आ गए और इस प्रकार निजाम खा के समर्थकों की संख्या बढ़ गई तथा 17 जुलाई 1489 ई० को वह सुल्तान निर्वाचित कर लिया गया।[11]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि निजाम खां को हिन्दू रक्त में भी ऊँचा नहीं समझा जाता था। अतएव उसने अपने कृत्यों द्वारा यह सिद्ध करने की कोशिश की कि वह शुद्ध रक्त वाले किसी भी मुसलमान से निम्नतैर नही है। परन्तु फिर भी सिकन्दर लोदी के काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम जारी रहा और अनेक स्थानों पर सिकन्दर लोदी भी अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य में सहयोग देता रहा जिसका विवरण निम्न प्रकार है :—

शासन सूत्र संभालने के बाद सिकन्दर ने अपने अनुयाईयों की संख्या में धीरे-धीरे वृद्धि करना तथा विपक्षियों का दमन करना प्रारम्भ किया। आलम खाँ को पराजित करने के बाद सुल्तान का दूसरा आक्रमण ईसा खाँ लोदी पर हुआ जो उसका कट्टर विरोधी था। उसने शाही आक्रमण का प्रबल विरोध किया किन्तु पराजित हुआ और पकड़कर सुल्तान के सम्मुख लाया गया। सिकन्दर उसे क्षमा करने के पक्ष मे था किन्तु वह इतना घायल हो चुका था कि सिकन्दर के सामने आते-आते मर गया। राजा गणेश को उसके स्थान पर पटियाली का अधिपति नियुक्त किया। उसके इस कार्य से हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम जारी रहा।

कोटाला तथा कालपी पर अधिकार करने के पश्चात् सिकन्दर ने ग्वालियर की ओर कूच किया। ग्वालियर के राजा किरत सिंह ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। सिकन्दर ने उसे सम्मानित करने के लिए शाही पोशाक दी तथा उसको किले का गवर्नर बनाए रखा। उसके इस प्रयत्न से भी हिन्दू-मुस्लिम एकता बढ़ी।

हुसेन शाह शर्की के षड्यन्त्रों के कारण जौनपुर के हिन्दू भूमिपतियों ने 1,00,000 सेना इकट्ठी की और कड़ा के गवर्नर के भाई शेरखाँ की हत्या कर दी तथा मुबारक खाँ लोहानी स्वयं जान बचाकर भाग निकला। परन्तु हिन्दू नाविकों ने उसे पकड़कर फाफामऊ के हिन्दू शासक को सौंप दिया। जौनपुर का गवर्नर बारबकशाह इस विद्रोह को न दबा सका। इस पर सिकन्दर स्वयं वहाँ गया और उसने जौनपुर को जीत लिया। उपद्रवियों का निर्ममता से बध किया और अपने भाई बारबक शाह को फिर जौनपुर के गवर्नर का पद सौंप स्वयं अवध की ओर चला गया। अचानक उसे समाचार मिला कि फिर विद्रोह हो गया है और बारबक शाह इसे दबाने में असमर्थ है। सिकन्दर को बारबक शाह पर सन्देह हुआ कि शायद वह विद्रोहियों से मिला हुआ है इसलिए उसने उसे पकड़ कर जेल भिजवा दिया। जौनपुर से सिकन्दर चुनार की ओर बढ़ा जहाँ हुसैन के कुछ सरदार इकट्ठा थे। सिकन्दर ने उन्हें हराया। इसके बाद फाफामऊ के अधीन कुन्तीत के राज्य की ओर प्रस्थान किया। यहाँ पर फाफामऊ के राजा ने समर्पण किया। सिकन्दर ने उसे कुन्तीत का अधिपति बने रहने दिया। इसके बाद इलाहाबाद के विपरीत अरेल की ओर सिकन्दर बढ़ा तथा राजा भी उसके साथ चला। परन्तु रास्ते में कुछ सन्देह होने के कारण राजा व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए भाग गया। सिकन्दर ने राजा को पुनः विश्वास दिलाया और उसका सामान उसके पीछे सुरक्षित भिजवा दिया। इसके बाद सिकन्दर शमशाबाद चला गया।

अक्टूबर 1494 ई० में सिकन्दर ने फाफामऊ के राजा भील के विरुद्ध अभियान शुरू किया। नरसिंह भील के पुत्र को युद्ध में परास्त किया। भील के पुत्र लक्ष्मी चन्द ने सिकन्दर पर आक्रमण करने के लिए हुसैन शाह की सहायता माँगी। हुसैन ने सहायता के लिए कूच किया। सिकन्दर ने बनारस की ओर कूच कर दिया तथा भील के दूसरे पुत्र सालीवेन से समझौता कर लिया और इसकी सहायता से हुसैन शाह को युद्ध में परास्त कर दिया तथा पटना की ओर कूच किया। सालीवेन की एक पुत्री से विवाह का प्रस्ताव भी सिकन्दर लोदी ने रखा, जिसको सालीवेन ने ठुकरा दिया। इस पर सिकन्दर ने उस पर आक्रमण कर दिया परन्तु सिकन्दर उसे पकड़ न सका।[12]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि फाफामऊ के शासक से जौनपुर के शासक तथा सिकन्दर लोदी—दोनों ने मित्रता स्थापित करने के प्रयास जारी रखे और हिन्दू मुस्लिम एकता को बल दिया।

सिकन्दर ने उतगीर पर अपना अधिकार करने के लिए मुजाहिद खाँ को भेजा। उतगीर पर अधिकार करने के पश्चात् यह मालूम हुआ कि मुजाहिद उतगीर के राजा के साथ गुप्त सम्बन्ध बनाए हुए था और उसने सिकन्दर के

इस आक्रमण को रोकने के लिए रिश्वत ले ली थी ।[13] इससे भी स्पष्ट है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में गुप्त रूप से भी सम्बन्ध चलते रहते थे और ये बातें हिन्दुओं और मुसलमानों को एक साथ मिलाती थीं ।

सिकन्दर ने चन्देरी पर अधिकार करने के लिए शैदखाँ लोदी, शेख जमाल खाँ करमाली, राय जगत सैन कच्छवाहा, खिज्रखाँ तथा ख्वाजा जहाँ को भेजा ।[14]

इससे भी पता चलता है कि सिकन्दर स्वयं से पूर्ण रूप से हिन्दुओं को अलग न कर सका था और अपने अभियानों में भी उन्हें महत्वपूर्ण पदों पर रखता था ।

लखनऊ के शासक अहमद खाँ ने हिन्दू धर्म की ओर अपना झुकाव प्रकट किया। अतएव 1509 ई० में उसे पदच्युत कर दिया गया ।[15] इससे भी स्पष्ट होता है कि मुसलमान भी हिन्दू धर्म को स्वेच्छा से अपनाने के लिए उद्धृत हो रहे थे परन्तु कुछ परिस्थितियाँ उन्हें ऐसा करने से रोक रही थीं ।

सिकन्दर लोदी के शासन काल में हिन्दुओं ने फारसी पढ़ना आरम्भ किया और काफी संख्या में विभिन्न पदों पर उनकी नियुक्ति की जाती थी ।[16] सिकन्दर लोदी ने आगरा नगर की नींव हिन्दी शब्द अग्रज के आधार पर एक हिन्दू के सुझाव पर रखी ।

सिकन्दर के दरबार में अच्चे-अच्छे विद्वान रहते थे । उसके वजीर मियाँ भुजा ने संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर तिब्ब-ए-सिकन्दरी अर्थात् महा आयुर्वेदक नामक ग्रन्थ का प्रणयन (अनुदित) किया ।[17] इससे यह स्पष्ट होता है कि वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के क्रम को रोक न सका । क्योंकि इस ग्रन्थ को अनुदित करने का आदेश उसने स्वयं ही दिया था ।

इब्राहीम लोदी और हिन्दू-मुस्लिम एकता

रक्त और धर्म के आधार पर इब्राहीम लोदी भी कुछ हिन्दू था क्योंकि उसकी सगी दादी जीवा हिन्दू थी जैसा कि पहले बताया जा चुका है । परन्तु वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था । फिर भी उसके शासन काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम जारी रहा । भले ही उसकी मात्रा कम हो गई हो । उसके उदाहरण इस प्रकार हैं :—

सिकन्दर लोदी की मृत्यु के पश्चात् अमीरों की बैठक बुलाई गई और उसमें निर्णय किया गया कि सम्पूर्ण राज्य दोनों राजकुमारों-इब्राहीम और जलाल खाँ में विभक्त किया जाय जिसमें एक दिल्ली तथा आगरा व दूसरा जौनपुर का स्वतंत्र शासक बने । ऐसा करके अमीर अपनी स्वार्थ सिद्धि के साथ-साथ गृह-युद्ध भी निपटाना चाहते थे । जब निर्णय पढ़कर सुनाया गया तो जलाल खाँ ने निर्णय स्वीकार कर लिया परन्तु इब्राहीम अन्दर ही अन्दर इस निर्णय से कुढ़ रहा था ।

अगले दिन इब्राहिम का राज्याभिषेक हुआ तो कुछ अमीरों की सहायता से उसने निर्णय बदलने की सोची और जलाल खाँ को दिल्ली बुलाया। जलाल खाँ उसका उद्देश्य ताड़ गया तथा दिल्ली आना अस्वीकार कर दिया। इससे गृह-युद्ध छिड़ गया। शाही सेनाओं ने कालपी का दुर्ग घेर लिया और उसे बड़े प्रति-रोध करने के पश्चात् अधिकृत कर लिया। जलाल आगरे की ओर भाग गया और वहाँ के स्थानीय सूबेदार से सन्धि वार्ता प्रारम्भ की। परन्तु इब्राहीम ने इसे अस्वीकार कर दिया और साथ ही विद्रोही जलाल के वध का आदेश भी जारी कर दिया। अब जलाल ग्वालियर पहुँचा और वहाँ के नरेश मानसिंह के यहाँ आश्रय की प्रार्थना की [18]

जब इब्राहीम को यह सूचना मिली कि विद्रोही जलाल ग्वालियर नरेश के यहाँ आश्रय पाने में सफल हुआ है तो उसने आजम हुमायूँ की संरक्षकता में एक सेना ग्वालियर की ओर उसे पकड़ने तथा ग्वालियर पर अधिकार करने के लिए भेजी। इसी समय ग्वालियर नरेश मानसिंह की मृत्यु हो गई। जिसके उत्तराधिकारी शासक विक्रमादित्य ने सुल्तान से सन्धि करने की इच्छा प्रकट की। सुल्तान को राजा ने दुर्ग तथा अपना राज्य सौंप दिया। इब्राहीम ने विक्रमादित्य को शमशाबाद का हाकिम बनाकर भेज दिया।[19]

इब्राहीम ने ग्वालियर के बाद मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह को पराजित करने की सोची और एक विशाल सेना तैयार की तथा इसका नेतृत्व एक नवयुवक सेनापति मियां माखन को सौंप मेवाड़ की ओर रवाना किया। मियां खानखना फर्मूली, मियाँ हुसैन खाँ जरनख्श और मियाँ मारूफ फर्मूली आदि पुराने अमीरों को उसका सहायक बनाकर भेजा। जब शाही सेना मेवाड़ की सीमा में प्रवेश कर गयी तो सुल्तान ने मियाँ माखन को मियाँ हुसैन खाँ तथा मियाँ मारूफ को बन्दी बना लेने का आदेश दिया। किन्तु सेनापति माखन का सारा प्रयत्न व्यर्थ कर दिया गया और वह लगभग 1000 अश्वारोहियों के साथ राणा से मिल गया।[20]

भारत की सीमा के निकट होने के कारण बाबर बहुत दिनों से भारत पर आक्रमण करने और उस पर अपना प्रभुत्व जमाने का स्वप्न देख रहा था। उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई बार चेष्टायें भी की थीं। परन्तु परिस्थितियों के अनुकूल न होने से उसका स्वप्न साकार न हो सका। इसी समय दौलत खाँ, जो पंजाब का सूबेदार था, ने बाबर को भारत पर आक्रमण का निमन्त्रण भेजा और कहा जाता है कि इसी समय बाबर को राणा सांगा से भी पत्र मिले जिनमें उसने पूर्व की ओर से अफगान शक्ति को विभक्त करने का प्रण किया था।[21]

इससे सिद्ध होता है कि अत्याचारी इब्राहीम के शासन को समाप्त करने

के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों बाबर के पास निमन्त्रण भेज रहे थे। उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानों के भिन्न तो थे ही।

पानीपत के युद्ध की व्यवस्था बाबर ने कर रखी थी किन्तु जब पता चला कि इब्राहीम लोदी आगे बढ़ रहा है तो वे भी हथियार लेकर घोड़ों पर सवार हो गए। बाबर ने बाबरनामा में लिखा है—"बायीं ओर की सेना का भाग हुमायूँ के नेतृत्व में था और दायें ओर का मोहम्मद सुल्तान मिर्जा के नेतृत्व में। मध्य भाग कोहदारों के पक्ष का संचालन चीन तिमूर सुल्तान कर रहा था और बायें का खलीफा। अग्रभाग का नेता खुसरों गोकुल तारा था और पृष्ठ भाग अब्दुल अजीज रिसालदार के नेतृत्व में था। दायीं सेना के बाजू पर मैंने मुगलों के साथ वली फिजल तुत्लुगमा के वास्ते नियुक्त किया था। बायीं सेना के अन्त में कारकोजी भी को तुलगमा के लिए नियुक्त किया था।[22]

इससे स्पष्ट होता है कि बाबर की सेना में पानीपत के प्रथम युद्ध के समय हिन्दू भी सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे। अग्रभाग सेना का सबसे प्रमुख भाग होता है और उस भाग का नेता गोकुल तारा था। ऐसा महत्वपूर्ण पद उसे उसकी योग्यता और विश्वास के कारण ही मिला होगा और इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम एकता क्रम पानीपत के प्रथम युद्ध में भी जारी रहा।

"विक्रमादित्य ग्वालियर का हिन्दू राजा था। उसके कुटुम्ब ने ऐक सौ वर्ष से अधिक समय वहाँ राज्य किया था सिकन्दर आगरे में कई वर्ष तक रहा और ग्वालियर को जीतने की कोशिश में लगा रहा। इसके बाद इब्राहीम के शासन काल में अजीज हुमायूँ सिरवान ने इसका कुछ समय तक घेरा डाला और इस पर कई आक्रमण किए। अन्त में सन्धि करके इसको प्राप्त किया। क्षति-पूर्ति के लिए शमशाबाद राजा को दे दिया गया। जिस युद्ध में इब्राहीम की जीत हुई थी उसमें विक्रमादित्य नर्क में पहुँचा दिया गया। इस समय विक्रमादित्य का परिवार और उसकी जाति के मुखिया लोग आगरे में थे। जब हुमायूँ आया तो विक्रमादित्य के लोगों ने बचकर निकल जाने का यत्न किया परन्तु उसको हुमायूँ की पार्टी ने, जो चौकसी के लिए नियत थी, गिरफ्तार कर लिया। हुमायूँ ने उसको लूटने नहीं दिया।[23] इससे स्पष्ट है कि इब्राहीम के साथ भी हिन्दू राजा लड़ रहे थे और उसके साथ आगरे में राजवंश रह रहा था। दूसरे हिन्दू शासक का परिवार मुसलमानों के यहाँ राजमहल में रह रहा था। जो एक अद्भुत उदाहरण हिन्दू-मुस्लिम शासकों के लिए भविष्य के लिए बना क्योंकि मुगल शासक भी आवश्यकतानुसार राजपूत शासकों के परिवारों को अपने यहाँ मंगाकर रखने लगे थे। इससे भी हिन्दू मुस्लिम एकता का क्रम चलता रहा। तीसरे हुमायूँ ने यहाँ पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। उसने विक्रमादित्य के परिवार को लूटने नहीं दिया। इससे भी हिन्दू-मुस्लिम एकता बढ़ी।

राजपूतों के साथ लोदियों के सम्बन्धों का पुनरावलोकन करने से एक बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दू या राजपूत राजाओं से व्यवहार के मामले में लोदी सुल्तान धार्मिक कारणों से प्रभावित नहीं रहें। समझौते या जीत की नीति शाही जरूरतों के अनुसार चलती रही। यह कोरा संयोग नहीं था कि बहलोल और इब्राहीम दोनों ने ही शमशावाद की जागीर ग्वालियर के राजा को ही दी थी— बहलोल के समय में कीर्तिसिंह को और इब्राहिम के समय में विक्रमादित्य को। फिर भी मेवाड़ के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना आपसी हितों के टकराव के कारण नहीं कर सके। यह भी कहा जाता है कि अंततोगत्वा मेवाड़ ने इब्राहिम लोदी के विरुद्ध बाबर को भारत आमंत्रित किया।[24]

संदर्भ

1. बी० एन० लूनिया : पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 754
2. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ० 563
3. श्री नेत्र पाण्डे। भारत का वृहत इतिहास पृ० 369
4. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ० 575
5. वूल्जे हेग : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 229
6. वही " " " पृ० 230
7. वही " " " पृ० 230
   और श्री हरीशचन्द्र : मध्यकालीन भारत पृ० 627
8. श्री नेत्र पाण्डे : भारत का वृहत इतिहास पृ० 371 एवं रतिभानुसिंह नाहर :पूर्व मध्यकालीन भारत पृ० 629 एवं वूल्ले हेग : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 233
9. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ० 585
10. रतिभानु सिंह नाहर : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ० 631
11. वही " " पृ० 632
12. वूल्जे हेग : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 236 से 39
13. वही " " पृ० 243
14. वही " " पृ० 245
15. श्री नेत्र पाण्डे : भारत का वृहत इतिहास पृ० 375
16. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ० 596
17. रतिभानु सिंह नाहर : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ० 639

18. वही " " पृ० 641-42
19. वही " " पृ० 642-43
20. वही " " पृ० 645
21. वही " " पृ० 648
22. तुजुक-ए-बाबरी (अनुवादक—डा० मथुरालाल शर्मा) पृ० 191
23. वही " " " " " पृ० 193-94
24. हरीशचन्द्र : मध्यकालीन भारत पृ० 275

अध्याय-7

प्रान्तीय राज्य तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता

हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम मुगल काल में लिखने से पहले भारत के अन्य प्रान्तीय राज्यों मे देखना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि भारत में सल्तनत काल में भी अनेक प्रान्तीय राज्य दक्षिण, गुजरात, मालवा तथा कश्मीर आदि थे। जैसे-जैसे भारत में मुसलमानों का प्रसार उत्तर भारत में हुआ, उसी प्रकार हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम भी उत्तर भारत में चलता रहा। दक्षिण में इस्लाम का प्रसार कुछ देर से हुआ, तो हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम वहां भी चला अथवा नहीं, यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है। सबसे पहले यहां हम बहमनी राज्य और विजयनगर राज्य का इस उद्देश्य से ही अध्ययन करेंगे।

बहमनी वंश

बहमनी वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में काफी समय तक विवाद चलता रहा है, फरिश्ता के अनुसार हसन दिल्ली के ज्योतिषी ब्राह्मण गंगू के पास काम करता था जिसे सुल्तान मुहम्मद का विश्वास प्राप्त था। कहा जाता है कि ब्राह्मण के खेत में हल चलाते समय उसे एक तांबे का घड़ा प्राप्त हुआ जिसमें सोने की मोहरें थीं. उसने वह समस्त धनराशि अपने स्वामी सो सौंप दी, जिसने (ज्योतिषी ने) सुल्तान के सम्मुख उसकी सच्चाई की प्रशंसा की। सुल्तान ने प्रसन्न होकर उसे एक सौ घुड़सवारों का नेता बना दिया। उन इतिहासकारों का कथन है कि हसन के प्रशंसकों ने ही उसे फारस के बहमनी शाह से संबंधित बतलाया था और बहमनी शब्द वस्तुतः उसने अपने स्वामी गंगू के प्रति कृतज्ञता के कारण धारण किया था। वस्तुतः सुल्तान जन्म से अफगान था···यह भी कहा जाता है कि हसन ने ब्राह्मण गंगू को अपना मंत्री नियुक्त किया था और इस प्रकार मध्यकालीन भारत में प्रथम बार किसी ब्राह्मण ने राज्य कार्यों में सक्रिय भाग लिया।[1] इससे यह पूर्णतया स्पष्ट है कि बहमनी राज्य की नींव रखे जाना ही हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक था।

अहमद शाह के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र अलाउद्दीन सिंहासन पर बैठा, अपने शासन काल में निर्धनों की सहायतार्थ उसने बीदर नगर में एक चिकित्सालय बनवाया और उसके व्यय के लिए एक बड़ी जागीर प्रदान की। इस चिकित्सालय में हिन्दू तथा मुसलमान वैद्यों को नियुक्त किया गया।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि बहमनी राज्य में भी कुछ शासक ऐसे थे, जो धार्मिक विचारों को योग्यता के रास्ते में रुकावट नहीं समझते थे, अगर कुछ हिन्दू वैद्य ऐसे थे जिनसे प्रजा को लाभ हो सकता था तो उनको अधार्मिक होते हुए भी नियुक्त किया गया।

सन् 1446 ई० में सुल्तान ने कोंकण प्रदेश को, जो समुद्र तथा घाटी के बीच की पट्टी पर था, विजय करने के लिए योजना बनाई। सुल्तान को इस युद्ध में पूर्ण सफलता मिली और लोना खेड़ा के हिन्दू शासक ने सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली। उसने अपनी पुत्री का सुल्तान से विवाह भी कर दिया।[3] इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में भी हिन्दू मुस्लिम शासकों में वैवाहिक संबंध स्थापित होने लगे थे, जिससे हिन्दू मुस्लिम एकता को बल मिला था। उसके इस विवाह का उसकी मुस्लिम रानियों ने विरोध भी किया और उसके ससुर मुस्लिम पत्नी से संबधित खानदेश के शासक नासिर खां ने उस पर आक्रमण भी किया परन्तु उसने किसी की भी चिंता नहीं की और युद्ध में भी उसे सफलता प्राप्त हुई।

बीजापुर के शासक आदिलशाह ने शिया धर्म स्वीकार कर लिया था परन्तु वह धर्मान्ध न था और न अन्य धर्मों के प्रति भेदभाव की नीति का अनुसरण ही करता था। उसने मुकन्दराव नामक एक मराठा सरदार की पुत्री से विवाह किया था जिसके प्रभाव से वह धार्मिक मामलों में अधिक सहिष्णु बन गया था। उसने एक आज्ञा प्रचारित की थी किसी को अपना धर्म अथवा सम्प्रदाय त्याग करने के लिए बाध्य न किया जाय।[4]

सन् 1458 ई० में अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र हुमायूं सिंहासन पर बैठा जो जालिम हुमायूं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हुमायूं के विपक्ष में भी एक दल था। परन्तु विदेशी मुसलमान अमीरों का दल उसके पक्ष में था जिसके सरदार सिकन्दर खान ने उनको सिंहासन प्राप्ति में बहुत सहायता की थी। परन्तु वह भी तेलंगाना का प्रदेश न मिलने के कारण हुमायूं से नाराज हो गया तथा बालकोंड़ा में विद्रोह कर दिया। तेलगाना के हिन्दू विशेषकर दूरकोण्ड़ा जिले के सिकन्दर को सहयोग दे रहे थे।[5]

युसूफ आदिलशाह की मृत्यु के बाद अमीर अली बरीद के उकसाने पर विजयनगर के शासक कृष्णदेवराय ने बीजापुर पर आक्रमण किया तथा इस्माइल आदिलशाह ने रायचूर दोआब छीन लिया।[6] इस आक्रमण से यह स्पष्ट हो

जाता है कि मुसलमान शासक बहमनी राज्य में एक दूसरे को आपस में नीचा दिखाने के लिए विजयनगर के शासकों के साथ मित्रता स्थापित करते थे तथा अप्रत्यक्ष रूप से यह बात हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करती थी।

1535 ई० में इब्राहीन आदिलशाह प्रथम सिंहासन पर बैठा। उसने सुन्नी सिद्धांतों को अपनाया। उसने विदेशी अधिकारियों तथा सैनिकों को सरकार से निकाल दिया। इससे भी अधिक विदेशी प्रभाव को दूर करने के लिए उसने फारसी भाषा के स्थान पर हिन्दी (वरनाक्यूलर), कन्नड़ तथा मराठी भाषा को अपनाया। उसके विदेशियों से मुक्ति पाने के इस आंदोलन से स्थानीय ब्राह्मणों को प्रशासन में स्थान मिला।[7]

1534 ई० में एक हिन्दू सेना ने बीजापुर पर आक्रमण किया और रायचूर का घेरा डाल लिया। जमशीद ने गुलबर्गा जिले पर अपना अधिकार किया तथा हित्यारगी को घेरा, बुरहान तथा अली बरीदशाह ने शोलापुर को घेरा। इब्राहीम ने अनुमान के आधार पर बुरहान तथा विजयनगर के सदाशिवराव की चापलूसी की तथा कुछ रियायतें दीं और उन्हें वापिस लौटने के लिए प्रेरित किया।[8]

उपरोक्त युद्ध में पराजय के लिए उसने (इब्राहीम ने) अपने ही व्यक्तियों को दोषी समझा और बिना किसी छान-बीन के 70 मुसलमान तथा 40 ब्राह्मण अधिकारियों को मृत्यु के घाट उतार दिया।[9] इससे भी स्पष्ट है कि बीजापुर के शासक के यहां मुसलमानों के साथ-साथ हिन्दू अधिकारी भी थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे।

1547 ई० में बुरहान ने विजयनगर के शासक सदाशिवराव से एक संधि की तथा शोलापुर को घेर लिया।[10] इससे भी स्पष्ट है कि हिन्दु-मुस्लिम एकता बहमनी और विजयनगर शासकों के काल में समय-समय पर चलती रही।

1552 ई० में बुरहान सदाशिवराव से रायचूर दौआब में मिल गया जिसको जीत लिया गया और इसके बाद शोलापुर के किले को अधिकार में किया। इसके अगले वर्ष बुरहान और उसके साथी ने बीजापुर को घेरा। परन्तु बीमारी के कारण उसे अहमदनगर जाना पड़ा और वहां पर उसकी मृत्यु हो गई।[11] इससे स्पष्ट है कि बहमनी और विजयनगर में आपसी मैत्री संबंध थे।

1559 ई० में जमशीद कुतुबशाह को असद खां लारी ने युद्ध में परास्त किया और इसके बाद जमशीद बीमार पड़ गया तथा उसका मानसिक संतुलन बहुत बिगड़ गया। दरबारियों ने उसे गद्दी से हटाने के लिए एक षड्यंत्र रचा। इस षड्यंत्र का भेद खुल गया। उसका भाई हैदर बीदर भाग गया और छोटा भाई इब्राहीम विजयनगर भाग गया और सदाशिवराव का संरक्षण और सद्भाव प्राप्त किया। 1550 ई० में जमशीद मर गया तथा विदेशी अमीरों ने उसके

पुत्र को जो दो वर्ष का था, गद्दी पर बैठाया परन्तु वे दक्षिणी अमीरों का मुकाबला न कर सके, इसलिए इब्राहीम को आमंत्रित कर उसको गद्दी पर बैठाया।[12] इससे स्पष्ट है कि बीजापुर के शासकों के भाई को शरण लेने के लिए भागकर अगर किसी हिन्दू शासक के यहां जाना पड़े तो कोई झिझक न होती थी। दूसरे हिन्दू शासक के यहां शरण पाये व्यक्ति को बीजापुर के सिंहासन पर बैठाने में मुसलमानों को भी कोई झिझक नहीं होती थी तथा उसे अपवित्र नहीं समझते थे। ऐसी ही घटनाओं ने हिन्दू मुसलमानों के बीच की दूरी को कम करने में सहायता की थी।

बीजापुर के शासक इब्राहीम का एक सरदार सेफ-एन-उल-मुल्क कुछ परिस्थितियों के कारण विद्रोही बन गया और उसने मार्च 1551 ई॰ में विद्रोह कर दिया और मान जिले पर अधिकार कर लिया। उसने एक से अधिक स्थानों पर विजय प्राप्त की तथा अब्दुल्ला को शासक घोषित कर दिया। एक स्थान पर उसने इब्राहीम को भी परास्त किया तथा उसका पीछा तोरवा (Torwa) तक किया तथा बीजापुर से चार मील दूर रह गये। इस मुसीबत के समय में इब्राहीम आदिलशाह ने सदाशिवराव से सहायता की मांग की। सदाशिवराव ने अपने भाई वेंकटादारी को 15000 सैनिकों के साथ भेजा तथा सेफ-एन-उल-मुल्क की सेना का सफाया किया।[13]

1558 ई॰ में इब्राहीम आदिलशाह की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद अली आदिलशाह शासक बना। तत्काल ही शोलापुर की पुन: प्राप्ति के लिए उसने सदाशिवराव की सहायता मांगी। अली ने एक पत्र हुसैन निजामशाह को लिखा जिसमें उससे शोलापुर और कल्याणी की वापिसी की प्रार्थना की। अपमान जनक उत्तर मिलने पर उसने एक बड़ी सेना के साथ अहमदनगर की ओर कूच किया और सदाशिवराव भी उसके साथ रहा।[14]

इस घटना से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि बड़े युद्धों में हिन्दू-मुसलमान शासक संयुक्त मोर्चा बनाते थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग प्रशस्त करते थे।

फ़तह उल्ला इमादशाह ने बरार में इमादशाही वंश की नींव डाली थी। यह पहले एक हिन्दू था परन्तु धर्म त्याग करके मुसलमान बन गया था। 1565 ई॰ में तालीकोट का युद्ध लड़ने के लिए मुसलमान राज्यों ने एक संघ बनाया था जिसमें दक्षिण के चार राज्य बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर तथा बीदर शामिल हुए थे। परन्तु बरार इस युद्ध में शामिल नहीं हुआ था, इसलिए वहां के शासक तुफाल खां के ऊपर अन्य मुस्लिम शासकों ने 1572 ई॰ में आक्रमण कर दिया और दो वर्ष तक वह भटकता हुआ फिरता रहा तथा 1574 ई॰ में उसका राज्य मुर्तजा निजामशाह ने अहमदनगर में मिला लिया।[15]

इससे स्पष्ट है कि तालीकोट का युद्ध मुसलमानों ने धार्मिक युद्धों के नाम की संज्ञा देकर लड़ा था परन्तु उस युद्ध में भी सभी मुस्लिम शासक शामिल नहीं हुए थे, क्योंकि धर्म को अब स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रयोग किया जा रहा था और वे धर्म का वास्तविक अर्थ भूल गये थे।

1575 ई० के समय बीजापुर का शासक अली आदिलशाह पश्चिमी कर्नाटक में अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था। इसलिए उसने अनेक छोटे-छोटे राजाओ को जीता तथा बालकोण्डा को घेर लिया जहाँ वैंकटदारी शासक था। (सदाशिवराव का छोटा भाई जिसने तालीकोट युद्ध के बाद इस स्थान पर अपना राज्य स्थापित किया) वैंकटदारी बचकर चन्दरगिरी चला गया परन्तु एक सेना किले पर नियन्त्रण बनाये रखने के लिए छोड़ गया। तीन महीने के घेरे के बाद जब सामान की कमी के कारण किले का पतन होने वाला था उन्होंने अली के मराठा सैनिकों को रिश्वत देकर अपनी ओर मिला लिया। इस घटना से अली की सेना को किले पर अधिकार करने में सफलता नही मिली और 1578 ई० में बीजापुर लौट गया।[16]

इससे यह स्पष्ट है कि तालीकोट के युद्ध के समय बीजापुर हिन्दुओं के विरुद्ध लड़ रहा था और मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को भड़का रहा था। परन्तु उसने अपने सम्बन्ध हिन्दुओं से समाप्त नहीं किये थे। वह अपनी सेना में मराठा सैनिक भर्ती करता था। पारस्परिक मेल-जोल से दोनों धर्मों के लोगों में सामन्जस्य स्थापित हुआ।

1579 ई० में बीजापुर का शासक मर गया और उसकी मृत्यु के बाद इब्राहीम आदिलशाह शासक बना। परन्तु वह अल्प आयु का था इसलिए चाँद-बीबी उसकी संरक्षिका बनी। इससे दरबार के सरदारों में आपस में फूट पड़ गई और एक दूसरे को नीचा दिखाने में जुट गये। ऐसी घटनाओं से अहमद नगर के शासक ने लाभ उठाना चाहा तथा गोलकुण्डा के साथ मिलकर बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। बीजापुर की हालत बहुत खराब थी। चाँदबीबी ने हालत सुधारने के लिए दक्षिणी और विदेशी अमीरों का सहयोग माँगा। मुसीबत के समय सब अमीर मिलकर एक हो गये तथा घिरे हुए किले की सहायता के लिए उन्होंने मराठा और कर्नाटक सैनिकों को, जो गुरिल्ला युद्ध में दक्ष होते थे, बुलाया। उनके आते ही एन-उल मुल्क ने अहमदनगर और गोलकुण्डा की सेनाओं को भुखमरी से बचने के लिए उकसाया क्योंकि इन सैनिकों ने उनकी रसद आने की व्यवस्था को समाप्त कर दिया था। वापिस जाती हुई गोलकुण्डा की सेना का पीछा किया गया और उसे पराजित किया गया। परन्तु अहमद-नगर की सेना बिना किसी हानि के बच निकली।[17] इससे स्पष्ट है कि जब मुसीबत आती थी तो मुसलमान धर्म की भावना को भूलकर हिन्दुओं की सैनिक

सहायता लेने में संकोच नहीं करते थे।

इसी प्रकार मराठा सैनिकों का प्रयोग 1592 ई० में बीजापुर के सुल्तान ने अहमदनगर के शासक बुरहान द्वितीय के आक्रमण के विरुद्ध किया था और उसको युद्ध में हराया था।[18] इन राज्यों में मराठे उच्च पदों पर थे। शाहजी ने अहमदनगर की रक्षा के लिए शाहजहां से युद्ध किया था और अकन्ना तथा मदन्ना गोलकुण्डा के प्रधानमन्त्री एवं सेनापति थे।

बहुत से दिये गये उपरोक्त उदाहरणों से यह अवश्य स्पष्ट हो गया होगा कि जहाँ दक्षिण में विजयनगर और बहमनी राज्यों में संघर्ष बना रहता था वहाँ साथ ही साथ उन दोनों में धर्म को छोड़कर आपस में बहुत-सी बातों में बहुत सी बार मेल-जोल भी हो जाता था। संघर्ष और मेल दोनों ही मानव की प्रकृतियाँ हैं इनका कोई आधार नहीं होता। केवल स्वार्थ के आधार पर मानव कार्य करता है।

विजयनगर राज्य

बहमनी राज्य का वर्णन करते समय अनेक उदाहरण ऐसे दिये गये है जिनमें हिन्दू-मुस्लिम एकता को दर्शाया गया है। इस समय विजयनगर राज्य का वर्णन करते समय कुछ ऐसे तथ्य और दिये जायेंगे जिनमें हिन्दू-मुस्लिम एकता की कड़ी में कुछ और घटनाएँ एवं बातें जुड़ जाएँगी।

1440 ई० में विजय नगर ने बहमनी राज्य पर आक्रमण किया और उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा। शासक देवराय प्रथम ने 1442 ई० में अपने राज्य के प्रमुख अमात्यों एवं सरदारों को एक सभा में आमन्त्रित किया और बहमनी राज्य से सीमा, जनसंख्या एवं आय में श्रेष्ठ होने पर भी अपनी पराजय तथा मुसलमानों की विजय का कारण पूछा। कुछ व्यक्तियों का कहना था कि भाग्य के कारण ही विजयनगर के राय को पराजित होना पड़ा था। परन्तु बुद्धिमान व्यक्तियों ने मुसलमानों की विजय के कारण बतलाए---प्रथम यह है कि धनु-विद्या में मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक कुशल हैं। दूसरे मुसलमान अश्वा-रोही सेना के घोड़े दक्षिणी घोड़ों से श्रेष्ठ हैं। परिस्थितियों के इस विवेचन से राय ने मुसलमानों के प्रति अपने व्यवहार में परिवर्तन की आवश्यकता अनु-भव की। अब उसने मुसलमानों को अपनी सेना में भर्ती करना शुरू कर दिया। उनको जागीरें दी गयी। मुसलमानों को अपने धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी। देवराय प्रथम ने अपने सिंहासन के सामने कुरान की एक प्रति भी रखी। कुछ ही समय में 2000 मुसलमान धनुषधारी भर्ती कर लिए गये।[19]

एस० आर० शर्मा के अनुसार विजयनगर का उद्देश्य इस्लाम का दमन

करना नहीं था। उन्होंने बड़ी संख्या में मुसलमानों को अपनी सेना में भर्ती किया. यह निश्चय ही नीति-कुशलता थी, यही नहीं उन्होंने साम्राज्य में मुसलमानों को अपने धर्म की पूरी-पूरी सुविधा दी। बारबोसा लिखता है, "राजा ने इतनी स्वतन्त्रता दे रखी है कि प्रत्येक आदमी आ जा सकता और अपने धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत कर सकता है, कोई उसे कष्ट नहीं पहुँचाता और न उससे कोई यह पूछता है कि तुम ईसाई, यहूदी, मूर अथवा मूर्तिपूजक हो। सभी लोग न्याय तथा निष्पक्षता का व्यवहार करते हैं।"[20]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो ही जाता है कि बहमनी राज्य और विजयनगर राज्य के शासक धार्मिक भावनाओं की जटिलता से धीरे-धीरे दूर होते जा रहे थे।

1443 ई० में समरकन्द के शासक शाहरुख का राजदूत विजयनगर आया था और कुछ महीने वह वहाँ ठहरा था। उसने विजयनगर की बहुत-सी बातों के विषय में भी लिखा है।[21] इससे भी हिन्दुओं और मुसलमानों के आपसी सम्बन्धों का बोध होता है।

1530 ई० वेंकटराय और होम नरमल राज में शासक का संरक्षक बनने के लिए आपस में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। होम नरमल राज ने स्वयं सत्ता हड़पने के उद्देश्य से राजा की हत्या कर दी। विजयनगर की भीड़ ने इस घटना से क्रुद्ध होकर वेंकटराय से शासक बनने के लिए बातचीत प्रारम्भ कर दी। होम नरमल राज ने इब्राहीम आदिलशाह प्रथम की सहायता माँगी।[22] इस घटना से स्पष्ट होता है कि आपत्ति में अथवा आपस में किसी कारणवश संघर्ष होने की दशा में विजयनगर के शासक अथवा सरदार पड़ोसी राज्यों के मुसलमानों से सहायता लेते थे और मुस्लिम राज्य भी धर्म से अधिक राजनीति को महत्व देते थे तथा उसी आधार पर सहायता करते थे। फारस का राजदूत अब्दुर्रज्जाक विजयनगर आया था तथा उसने अपने यात्रा-वर्णन में विजयनगर राज्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि "हिन्दुस्तान में यह सर्वाधिकार सम्पन्न राज्य है। नगर इस प्रकार का है कि विश्व में न कभी देखा और न सुना गया है।"[23] स्पष्ट है कि विजयनगर राज्य के अन्य मुस्लिम देशों और धर्म वालों से सम्पर्क था।

बंगाल

धर्म की दृष्टि से बंगाल का भारत में एक महत्वपूर्ण योगदान है। यहाँ भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम चलता रहा। बंगाल धार्मिक अत्याचार से बहुत दिनों तक मुक्त रहा। वहाँ के शासक हुसैन शाह तथा नुसरत शाह की उदार नीति ने हिन्दुओं और मुसलमानों में अन्तर पैदा नहीं होने दिया। उन्होंने हिन्दू

और मुसलमान प्रजा के बीच में शासन की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं देखा। चौदहवीं शताब्दी से बंगाल में फकीरों के आन्दोलन अत्यधिक तेजी से चले और कुछ ही वर्षों में स्थान-स्थान पर इन शान्तिप्रिय फकीरों ने जनता को ईश्वर के प्रति प्रेम का जो पाठ पढ़ाया उसने जनता को, हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मों को एक दूसरे के काफी निकट ला दिया था।

बंगाल के शासकों का हिन्दी साहित्य में रुचि लेना दोनों धर्मों को निकट लाने में बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ। जैसा 'स्मिथ' ने लिखा है—"कुछ मुस्लिम सुल्तान ऐसे थे जो हिन्दू साहित्य के गुणों के प्रति उदासीन नहीं है। नुशारशाह की आज्ञा से 'महाभारत' का एक बंगाली रूपान्तर 14वीं शताब्दी में हो चुका था। दूसरा हुसैनीशाह के सेनापति परगल खाँ की आज्ञा से तैयार किया गया था। बंगला साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख आते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सुल्तान हुसैनी शाह के प्रति हिन्दुओं की अत्यधिक श्रद्धा थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुल्तानों ने बंगला साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया था और साहित्य के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की थी। कृतवासा ने 14वीं शताब्दी में 'रामायण' का बंगला अनुवाद किया था।

वुल्जे हेग ने बंगाल के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं— बंगाल न तो दिल्ली सल्तनत के प्रान्त के रूप में और न स्वतन्त्र राज्य के रूप में ही कभी सजातीय मुस्लिम राज्य रहा था। बड़े-बड़े हिन्दू सामन्तों के अधिकार में जो भूमि थी, वह यथार्थ में छोटे-छोटे राज्यों के सदृश्य थी। मुस्लिम शासकों के प्रति उनकी राजभक्ति शासक के चरित्र बल पर अवलबित थी। जैसे स्वयं बंगाल के शासक दिल्ली सुल्तान के प्रति। सामान्यतया बंगाल के मुस्लिम शासकों ने अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार किया। किन्तु पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या के आधिक्य से साफ स्पष्ट है कि समय-समय पर उस प्रान्त में धर्मान्तरण की तरंग अवश्य आई होगी।

इस्लाम हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के सम्पर्क से बंगाल में कुछ नये प्रभावों का सूत्रपात हुआ था, जिसमें हुसैन शाह द्वारा 'सत्यपीर' नामक एक सम्प्रदाय भी था जिसमें हिन्दू और मुसलमानों को प्रेम और सहयोग के एक ही सूत्र में बाँधा था। 'सत्यपीर' का नाम ही संस्कृत सत्य और अरबी पीर का मिश्रण है। 'सत्यपीर' के अनुयायी बंगाल में अब भी पाये जाते हैं।[24]

मोहम्मद हबीब और खलीफ अहमद निजामी के अनुसार हुसैन शाह ने जो स्वयं एक विद्वान था विद्या और बंगाली भाषा को संरक्षण प्रदान किया। उसने अपनी हिन्दू तथा मुस्लिम प्रजा का स्नेह प्राप्त किया। हिन्दू उसे सम्मान देने के लिए इस सीमा तक गये कि उन्होंने उसे कृष्ण का अवतार, नृपति, तिलक तथा 'जगत भूषण' कहा। उसने उदारतापूर्वक अपनी हिन्दू प्रजा को उच्च पदों

पर नियुक्त किया। एक प्रभावशाली हिन्दू गोपीनाथ बसु[25] उसका मन्त्री था। मुकुन्द दास उसका निजी चिकित्सक, केशव क्षत्री उसका प्रधान अंगरक्षक, अनु-पटकसाल अधीक्षक आर० गौड़ मलिक सेनापति था जिसने टिपरा अभियान का नेतृत्व किया था। दो यशस्वी भाईयों रूप तथा सनातन ने सल्तनत में उच्च पद ग्रहण किये और इनमें एक व्यक्तिगत सचिव (वजीरे खास) था। प्रसिद्ध बंगला लेखक मालाधार बसु विप्रदास, विजयगुप्त तथा जसराज खाँ उसके प्रबुद्ध शासन में फले-फूले। कहते हैं कि उसने चैतन्य के प्रति महान श्रद्धा व्यक्त की।[26]

बंगाल में हिन्दू ब्राह्मण राजा गणेश और उसके पुत्र जादू ने जो बाद में मुसलमान बन गये थे, हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के सहयोग से शासन किया था।

डा० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार 14वीं शताब्दी में अफ्रीका के यात्री इब्न-बतूता ने बंगाल की यात्रा की। उसने लिखा है कि; फखरुद्दीन के समय में बंगाल में फकीरों की 150 गद्दियां थी। इसी समय हिन्दू और मुसलमानों का सम्पर्क हुआ और उन शक्तियों का उदय हुआ जिनके कारण हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के निकट आये तथा हिन्दू दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ। बंगाल में वैष्णव धर्म की बड़ी उन्नति हुई; और चैतन्य महाप्रभु के उदय के साथ उसकी आश्चर्यजनक उन्नति होने लगी। उन्होंने भक्ति की शिक्षा दी और अपने प्रभाव-शाली व्यक्तित्व के कारण अपने शिष्यों और अनुयाइयों की आत्मा को प्रका-शित कर दिया। कृष्ण के गीत बंगाल भर में गाये जाने लगे। उनकी भक्ति के प्रवाह में पड़कर अनेक स्त्री पुरुषों ने सामाजिक बंधन तोड़ प्रेम का बंधन स्वीकार किया। एस० आर० शर्मा के अनुसार सामान्यतया बगाल के मुस्लिम शासकों ने अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार किया।[27]

काश्मीर

इस्लाम काश्मीर में 14वीं शताब्दी में पहुंचा। इसको वहां पहुंचाने वाला शाह मिर्जा एक उत्साही व्यक्ति था, जो 1315 ई० में सिंहदेव की सेना में भर्ती हुआ और उसने काश्मीर घाटी में अपनी सत्ता 1345 ई० में सिंहासन पर अधिकार करके स्थापित की। इसने बहुत ही उदार सिद्धांतों पर राज्य किया। क्योंकि पहले हिन्दू शासक मुसलमानों को काश्मीर में अपनी सेना में भर्ती करते थे जिससे हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल मिल रहा था।

काश्मीर में 1378 ई० में शमशुद्दीन शाह की मृत्यु पर हिन्दल कुतबुद्दीन की उपाधि धारण करके गद्दी पर बैठा। कुतुबुद्दीन 1398 ई० में मर गया। उनकी विधवा सुरा (Sura) ने सिकन्दर को उत्तराधिकारी बनाया और

सिकन्दर के अधिकार को गद्दी पर ठीक करने के लिए अपनी पुत्री और दामाद को मरवा डाला। उसी के इशारे पर उसने एक हिन्दू दरबारी राय मदारी से सिकन्दर के भाई हेबत खां को जहर दिलवा कर हत्या करवा दी।[28] इससे स्पष्ट है कि काश्मीर में मुसलमानों के समय में भी हिन्दू दरबार में उच्च पदों पर रहते थे तथा राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाते थे।

1416 ई० में सिकन्दर की मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसका सबसे बड़ा पुत्र नूर खां अलीशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। सिन्हा बट, जो उसके पिता के शासन में मंत्री था, अपनी मृत्यु तक अलीशाह के काल में भी मंत्री बना रहा। यह परिवर्तित मुसलमान था अर्थात् ब्राह्मण जन्म से था परन्तु बाद में इस्लाम स्वीकार कर लिया था। सिन्हा बट की मृत्यु के बाद अलीशाह ने अपने छोटे भाई शाही खां को अपना मंत्री बनाया। अलीशाह ने धार्मिक भावनाओं के वशीभूत होकर मक्का जाने का विचार बनाया और राज्य का संरक्षक शाही खां को नियुक्त करके वह चल दिया परन्तु बाद में अपने ससुर के समझाने पर वह वापिस चला आया कि इतनी दूर जाने पर आपको राज्य वापिस नहीं मिल सकता तथा उसकी सहायता के लिए एक सेना दी जिसकी सहायता से शाही खां को राज्य से बाहर निकाल दिया और पुनः सिंहासन प्राप्त किया। शाही खां ने खोखर राजा जसरथ के यहां शरण ली।[29] इससे स्पष्ट है कि आपत्ति के समय काश्मीर में मुसलमान भागकर हिन्दू शासकों के यहां शरण लेने में कोई दोष अनुभव नहीं करते थे। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि हिन्दू परिवर्तित मुसलमानों को शासन में उच्च पदों पर नियुक्त करने में कोई दोष अनुभव नहीं करते थे।

अलीशाह ने राजा जसरथ और शाही खां को दण्ड देने के उद्देश्य से उन पर आक्रमण कर दिया और बहुत तेजी से जसरथ के राज्य की सीमा पर पहुंचा जिससे सेना थक गयी। जब जसरथ को सेना की थकान के विषय में पता चला तो उसने अचानक ही आक्रमण करके उसे पराजित किया। शाही खां अब काश्मीर में शासक बना और जैनुल-आबदीन की उपाधि 1420 ई० में धारण की।

जैनुल-आबदीन इस वंश का महानतम शासक था। उसने अपने पिता सिकन्दर की असहिष्णुता के शिकार और पीड़ित लोगों पर अपनी दयालुता और धार्मिक सहिष्णुता की शीतल छाया की। सिकन्दर के काल में मुसलमान बनने से इंकार कर देने वाले कुछ लोग काश्मीर से निर्वासित कर दिये गये थे तथा केवल 11 ब्राह्मण परिवार काश्मीर में अपने धार्मिक कार्यों को कर रहे थे। निर्वासितों को वापिस बुलाया गया। बहुत से ऐसे व्यक्तियों ने जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था, को अपने पूर्वजों के धर्म को फिर अपनाने की अनुमति

दे दी। इसने हिन्दू और मुसलमानों को अपनी धार्मिक पुस्तकों में दर्शाएं गये सिद्धांतों को अपनाने की स्वतंत्रता दे दी जो अब तक प्रतिबन्धित थे। उसके काल में गरीबों को धन बांटे गये। गैर मुसलमानों से जजिया और अन्य धार्मिक कर समाप्त कर दिये गये। वह हिन्दू विद्वान तथा ब्राह्मणों की संगति में रहने लगा। नष्ट-भ्रष्ट कराये गये मंदिरों को दुबारा बनवाया गया तथा कुछ की यहीं मरम्मत करायी गयी। नये मंदिरों के निर्माण की आज्ञा प्रदान की गयी। गौ वध का निषेध कर दिया। उसने शिकार खेलना बन्द कर दिया तथा इस्लामी नियमों के अनुसार चार विवाह न करके केवल एक ही विवाह किया और अपने चरित्र को इतना ऊंचा उठाया कि कभी किसी दूसरी स्त्री की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखा। पूरे जीवन भर एक पत्नी-व्रत का पालन किया। वह न सुरा प्रेमी ही था और न मांसाहारी ही।

मौहम्मद हबीब और खलीफ अहमद निजामी के अनुसार सभी इस आधार पर सहमत हैं कि व्यक्तिगत जीवन में सुल्तान जैनुल आबदीन एक पवित्र, रूढ़िवादी तथा विद्वान मुसलमान था किन्तु पिता की भांति वह कट्टर नहीं था। उसे संगीत, नृत्य और ललित कलाओं से प्रेम था और वह हिन्दू तथा मुस्लिम अथवा मात्र प्राकृतिक घटनाएं जैसे झेलम की उत्पत्ति संबंधी त्योहारों में भाग लेता था। वह एक सुसंस्कृत व्यक्ति था और काश्मीरी, फारसी, संस्कृत और संभवतः अरबी लिख और समझ सकता था। अपना अवकाश का समय वह "नीलमत पुराण, वशिष्ठ, गीत गोविन्द" के अध्ययन और योगाभ्यास में व्यतीत करता था। वह फारसी में कविताएं भी लिखता था और उनमें अपना उपनाम "कुतुब" लिखता था। वृद्धाअवस्था में जब वह अपने अयोग्य पुत्रों से ऊब गया तो उसने 'शिकायत' नामक एक रिसाला लिखा। वह हिन्दू तथा मुस्लिम पुराण ग्रंथ सुनकर बड़ी शान्ति का अनुभव करता था। हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि उसने हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों सस्कृतियों को समान उत्साह से प्रोत्साहन दिया।

मुस्लिम सस्कृति—उसके पिता ने जिन विदेशी मुस्लिम विद्वानों को अनुदान दिए थे, वे जारी रखे गये और जो मुस्लिम विद्वान उसके शासनकाल में आयें उन्हें भी अनुदान दिये गये। जिन लोगों की सहायता की गयी उनमें "बहारिश्ता-नेशा-हा" ने दस सूफी गिनाए है जिनमें एक ऋषि भी था, जो काश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम रहस्यवाद का विशिष्ट मिश्रण था, सात (उलेमा) तथा चार शिक्षित दरबारियों "नदीम" के नाम दिए हैं किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य बहुतेरे हैं।

हिन्दू संस्कृति—बहाहिस्ताने शाही ने बड़े खेद के साथ लिखा है : परन्तु जहाँ तक इस शासक ने इस्लाम के विद्वानों और प्रमुख व्यक्तियों की सहायता

की वहीं काफिरों और गैर मुस्लिम गुटों के नेताओं के प्रति भी उतनी ही कृपा प्रदर्शित की। उसने कुफ्र और गलती के कानूनों तथा मूर्ति-पूजकों और अज्ञानियों के रिवाजों को सम्मान और लोकप्रियता दी। उसने सभी मंदिरों और हिन्दुओं के देवस्थानों का पुनर्निर्माण तथा जीर्णोद्धार कराया जिन्हें स्वर्गीय सुल्तान सिकन्दर के शासन काल में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। अनेक गैर मुस्लिमों (काफिरों तथा मुशरिकों) को जो इस्लाम की शक्ति के फलस्वरूप किश्तवार तथा जम्मू भाग गए थे, वापस बुलाकर बसाया। उनके पुस्तकालय तथा पवित्र पुस्तकें भी जिन्हें वे अपने साथ ले गए थे, वापस लाई गईं। "काफिरों" की शिक्षा तथा "मुशारिकों" के रिवाज पुनः स्थापित किए गए और सुल्तान ने इन गलत सम्प्रदायों को सम्मान तथा गौरव प्रदान किया। गांवों तथा स्रोतों के पास जहां कहीं कोई मूर्ति या विधर्मियों का तीर्थस्थान था, उसने उसके जीर्णोद्धार पर बल दिया। जहां कहीं किसी नगर या अन्य स्थान में निश्चित समय हिन्दुओं के धार्मिक समारोह होते थे उसने उन्हें और अधिक जोश से मनाने की सस्तुति की और वह स्वयं वहां उपस्थित होता था। उसने नाचने वालियों, गायकों और संगीतकारों को इतने इनाम दिए कि देश के सभी निवासी 'जवान तथा बूढ़े' उसके शासन काल में संतुष्ट थे। धीरे-धीरे हिन्दुओं और गैर मुस्लिमों के रिवाज इतने सम्मानित तथा व्यापक हो गए कि देश के मुस्लिम विद्वान तथा "उलेमा" सैयद तथा काजी भी बिना हिचक, इन रिवाजों का अनुसरण करने लगे। किसी के उनसे दूर रहने तथा उनके उन्मूलन का प्रश्न हो नहीं था।

ये सभी बयान गड़बड़ हैं और इनका गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिए। स्वभावतः राजकीय आदेशों द्वारा ब्राह्मणों का अवैधानिक धर्म-परिवर्तन राजकीय वैधानिक शक्ति द्वारा रद्द कर दिया गया और फिर से ब्राह्मण बना दिया गया। पवित्र संस्कृत धर्म-ग्रन्थों पर आधारित हिन्दू संस्कृति पुर्नास्थपित की गई और ब्राह्मणों से यह वचन ले लिया गया कि वे अपने धर्मानुकूल आचरण करेंगे।

जैनुल आबदीन के दो सजातीय दल थे हिन्दू तथा मुस्लिम। ब्राह्मणों में उपविभाजन थे। मूल काश्मीर के ब्राह्मण "मलकासी" कहलाए। जिन ब्राह्मणों ने फारसी भाषा का अध्ययन किया था तथा सरकारी नौकरियों और व्यापार आदि के उपयुक्त समझे जाते थे, "कारकून" कहलाये। जबकि वे ब्राह्मण जो पुरोहित के प्राचीन व्यवसाय में संलग्न रहे और जिन्होंने केवल संस्कृत का अध्ययन किया "बाची भट्ट" कहलाए। राज्य की नई नीति के अनुसार शमशान कर तथा 'जजिया" समाप्त कर दिये गये। गौवध पर प्रतिबंध लगा दिया गया और सती-प्रथा की पुनः अनुमति दे दी गई। स्वभाविक रूप से हिन्दुओं को उच्च पद मिले। कुछ अत्यन्त विशिष्ट हिन्दू अधिकारियों में थे: बौद्ध मन्त्री

तिलकाचार्य, श्रिय भट्ट न्याय, हिन्दू पुनर्वास मन्त्री तथा राजवैद्य जोनराजा तथा उसका शिष्य श्रीवर, इतिहासकार सिंह भट्ट तथा रूपभट्ट राज-राज्येतिषी, यदु भट्ट फारसी का विद्वान तथा "जैन प्रकाश" का लेखक, जैन चरित्र का लेखक उत्तमसोम तथा "जैन विलास" का लेखक भट्ट अवतार।

शिक्षा संबंधी नीति—व्यापक शिक्षा तथा एक संगठित राष्ट्रीय संस्कृति के लिए जैनुलआबदीन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि मातृभाषा में शिक्षा की व्यवस्था थी। सम्भवतः उसने यह अनुभव किया कि हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय और सहयोग प्राप्त कर उनमें परस्पर सद्भावना उत्पन्न की जा सकती है। यदि हिन्दुओं के लोकप्रिय ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया जाय और इसी प्रकार मुसलमानों के ग्रन्थों का संस्कृत तथा काश्मीरी में अनुवाद किया जाय। अस्तु उसने मुल्ला अहमद नामक अपने समकालीन बहुश्रुत विद्वान को "महाभारत" दशावतार" तथा "कल्हण की "राजतरंगिणी" का फारसी अनुवाद तैयार करने के लिए नियुक्त किया। उत्तम सोम पंडित ने काश्मीरी भाषा में काश्मीर के शासकों का इतिहास लिखा। यदु भट्ट ने "जैन प्रकाश" की रचना की जो काश्मीरी काव्य में "जैनुल आबदीन की जीवनी" है। महावतार ने, जिसने फिरदौसी के "शाहनामा" का अध्ययन किया था, फारसी महाकाव्य का अनुसरण करते हुए "जैन विलास" नामक काश्मीर का इतिहास लिखा। जोन राजा ने कल्हण की "राजतरंगणी" को 1458 ई० तक बढ़ाया। तत्पश्चात् उसके शिष्य श्रीधर ने उसे पूरा किया।[30]

इस प्रबुद्ध शासक ने अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध अपने समकालीन शासकों से स्थापित किये। वे आपस में पत्र तथा भेंट का आदान-प्रदान करते थे। उन शासकों में प्रमुख बाबर के दादा अबू सेदशाह जो उस समय खुरासान का शासक था, भी था। बहलोल लोदी, जहान शाह, जो उस समय अजरबेजान का शासक था, गुजरात के शासक महमूद बेगड, मिश्र का शासक बुर्जी मलूक, सिन्ध का जाम निजामुद्दीन, मक्का का शरीफ तथा ग्वालियर का तंवर राजा थे। इस प्रकार उसने सिद्ध किया कि मैत्री सम्बन्ध मुस्लिम शासकों के साथ रखने के साथ-साथ हिन्दू शासकों के साथ रखने में कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार हमारी आधुनिक सरकार अन्य देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखती है। सभी धर्मों के लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है तथा धार्मिक प्रवर्तकों के जन्म दिन पर पशु-वध निषिद्ध है और कानून में एक पत्नी रखना सरकारी कर्मचारियों के लिए अनिवार्य ही नहीं बल्कि एक पत्नी रखने का नैतिक आधार भी समाज को सिखाया जाता है।

1467 ई० में इस उदार तथा महान शासक की जो अपनी धार्मिक नीति में अकबर का पूर्वगामी था, मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के पश्चात् काश्मीर

का इतिहास महत्वपूर्ण घटनाओं से शून्य हो गया।

एस० आर० शर्मा के अनुसार इस वंश का महानतम शासक जैन-उल-आबदीन (1417-67 ई०) हुआ। धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से वह अकबर का पूर्वगामी था, उसने कठोरता से एक पत्नीव्रत का पालन किया, जो उस युग के मुस्लिम शासकों में दुर्लभ वस्तु थी। उसने सभी के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार किया, जजिया हटा दिया, सिकन्दर द्वारा निर्वासित ब्राह्मणों को अपने घरों को लौटने की आज्ञा दी, हिन्दुओं को मन्दिर बनाने दिये और गो-वध का निषेध किया। वह स्वयं मांस नहीं खाता था। "उसने साहित्य, चित्रकला तथा संगीत को प्रोत्साहन दिया और संस्कृत, अरबी तथा अन्य भाषाओं के अनेक ग्रन्थों को अनूदित कराया।[31]

गुजरात और खानदेश

1365 ई० में दक्षिण में खानदेश नामक राज्य की स्थापना अहमद मलिक ने की थी। 1365 ई० में मलिक अहमद ने बहराम खाँ मजवदरानी का महमूद प्रथम के विरुद्ध विद्रोह में साथ दिया और वह दक्षिण से भागा तो थालनेर पर अपना राज्य स्थापित किया। यह स्थान ताप्ती नदी के किनारे पर था। 1382 ई० में उसने इस क्षेत्र के आस-पास का स्थान जीत लिया और एक स्वतन्त्र राज्य की तरह इस पर राज्य करना प्रारम्भ किया। उसको मलिक राजाँ और अहमद राजा के नाम से भी जाना जाता था परन्तु इसके उत्तराधिकारी खान के नाम से जाने जाते थे और यहीं से परिस्थितियों के कारण इस क्षेत्र का नाम खानदेश अथवा "खानों का देश" (The Country of khans) पड़ा।

प्रो० मोहम्मद हबीब और खलिक अहमद निजामी के अनुसार 1411 ई० में शिहाबुद्दीन अहमद शाह गुजरात का राजा बना। अहमद शाह के राज्यारोहण का उसके चाचा मौदद सुल्तानी उर्फ फिरोज खाँ, जिसके पास बड़दा की "इक्ता" थी, विरोध किया। इस विद्रोह में फिरोज का समर्थन केवल उसके भाई अर्थात शेख मलिक सुल्तानी उर्फ हैबत खाँ, शेरखाँ तथा सआदह खाँ ही नहीं कर रहे थे बल्कि असन्तुष्ट हिन्दू अमीर जैसे जीवन दास खत्री और प्रयाग दास भी कर रहे थे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गुजरात में हिन्दुओं और कुछ असन्तुष्ट मुस्लिम सरदारों में एकता बनी हुई थी।

अहमद शाह ने नई राजधानी की स्थापना की ही थी कि उसे फिरोज खाँ, हैबत खाँ तथा मलिक बद्रे आला के नेतृत्व में एक अन्य विद्रोह का सामना करने जाना पड़ा। इस विद्रोह का समर्थन कुछ राजपूत सरदार कर रहे थे जिनमें प्रमुख था ईदर का राजा राव रणमल। अहमद शाह ने उनके विरुद्ध कूच किया

ओर मोदासा के निकट पड़ाव डाला। उसने सदा की भाँति पहले समझौते का प्रस्ताव रखा किन्तु कोई उत्तर न पाकर मोदासा दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। बद्रे आला सहित अधिकांश विद्रोही लड़ते हुए मारे गये। मोदासा के पतन का समाचार सुनकर रणमल हताश हो गया और उसने फिरोज का साथ छोड़ दिया। फिरोज अपना कोष छोड़कर अपने चाचा शम्स खाँ दवानी के पास नागौर भाग गया, उसके कोष पर रणमल ने अधिकार कर लिया और आधीनता स्वीकार करने के प्रतीक स्वरूप उसे अहमद को समर्पित कर दिया।

वद्रे आला के विद्रोह के दमन से सभी कठिनाईयों का अन्त नहीं हुआ। अब अहमद को शाह मलिक के नेतृत्व में असन्तुष्ट अमीरों के नए विद्रोह का सामना करना पड़ा जो मालवा के हुशंग तथा माडंल के राजा कान्ह छत्रसाल से मिला था। हुशंग ने अपनी राजधानी से प्रस्थान किया और गुजरात की दिशा पर अपने शिविर लगाये। जब अहमद शाह को इस घटना की सूचना मिली तो उसने भी चम्पानेर की ओर कूच किया और वहाँ शिविर लगाकर अपने सरदार इमाद्दुल को अपने विरोधी के विरुद्ध भेजा। इमाद को आता हुआ देख हुशंग इस बहाने अपने राज्य लौट गया कि अहमद के दास से लड़ना उसकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध था। फलस्वरूप कान्हा छत्रसाल ने भयभीत होकर हुशंग से सन्धि तोड़ दी। तत्पश्चात् अहमद ने विद्रोहियों के विरुद्ध शहजादा लतीफ खाँ को भेजा। विद्रोहियों को विवश हो भागना पड़ा। शाह मलिक ने सौराष्ट्र में गिरनार के राजा राव मेलागा के यहाँ शरण ली।

गंगाधर के अनुसार विद्रोही भगोड़ों को शरण देकर राव मेलागा ने अहमद से शत्रुता मोल ली। किन्तु अब्दुल हुसैन का मत है कि अहमद गिरनार का दुर्गम दुर्ग जीतने की लालसा से आकर्षित हुआ था जिस पर उसने 1414 ई० में आक्रमण किया। मेलागा ने अहमद का विरोध किया किन्तु पराजित हुआ और गिरनार के दुर्ग में शरण लेने के लिए विवश हुआ। अहमद ने दुर्ग घेर लिया और जब घेरे का समय बढ़ता गया तो मेलागा ने संधि-वार्ता आरम्भ की। उसने सुल्तान की सर्वसत्ता मानने तथा खराज देने का प्रस्ताव रखा। अहमद ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और सैयद अब्दुल खाँ तथा सैयद कासित खाँ को सलामी वसूल करने के लिए छोड़कर अहमदाबाद लौट गया।

अहमदाबाद लौटने के तुरन्त बाद अहमद ने सिद्धपुर की ओर प्रस्थान किया जो उत्तरी गुजरात का एक प्राचीन तीर्थ स्थान था। यह सुन्दर मन्दिरों से भरपूर था। जब वह सिद्धपुर में मन्दिर तोड़ रहा था तो अहमद को नन्दरबार पर असीर के नसीर द्वारा आक्रमण का सामना करना पड़ा। जैसे ही अहमद ने ये चिन्ताजनक समाचार सुने उसने मलिक महमूद तुर्क को संकटग्रस्त क्षेत्र में भेजा और स्वयं उसके पीछे जाने की अविलम्ब तैयारी करने लगा। इसी बीच ईदर के

राव पंजा, चम्पानेर के त्रयम्बकदास तथा माडल के राजा छत्रसाल अहमद के विरुद्ध मिल गये। उन्होंने हुशंग को आमन्त्रित किया जो केवल गुजरात में मोदाशा तक ही नहीं बढ़ा बल्कि नागौर में शम्सखाँ के पास सन्देश भेजा कि यदि वह संगठित राजाओं की ओर मिल जाए तो वह उसे पाटन दे देगा। शम्स खाँ ने रूखेपन से प्रस्ताव ठुकरा दिया और अपने युवा भतीजे को भावी संकट से सतर्क कर दिया।

नसीर खाँ युद्ध में परास्त हुआ और उसने आत्म-समर्पण कर दिया तथा सन्धि कर ली गई। इसके बाद अहमद ने राजपूत राजाओं की ओर अपना ध्यान किया। उसने 1426 में ईदर के राव पंजा के विरुद्ध पुन: आक्रमण किया। सुल्तान के दबाव से पंजा अपनी राजधानी छोड़कर पहाड़ियों मे शरण लेने के लिए बाध्य हुआ। शाही सेनाओं से एक झड़प में राव पंजा एक गहरे खड्ड में गिर कर मर गया। पंजा की मृत्यु के पश्चात् उससे पुन: हरराव ने क्षमा याचना की। इसे विधिवत क्षमा कर दिया गया। अगले वर्ष खिराज के भुगतान में देरी के कारण अहमद ने उस पर आक्रमण कर दिया तथा हरराव राजधानी से भाग गया और जंगल में शरण ली।

ईदर पर अधिकार से झालावाड़ के शासक राय कान्हा के मन में आशंका उत्पन्न हुई। वह पराक्रम से विवेक को बेहतर समझकर असीरगढ़ गया और 1430 में खानदेश के नसीर से सहायता माँगी। नसीर ने इस वर्ष पहले अहमद गुजराती द्वारा थोपी गई अधीनता से संतृप्त होकर अहमद बहमनी से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। उसने अपनी पुत्री आगा जेनब का विवाह अहमद बहमनी के पुत्र अलाऊद्दीन से कर दिया था। कान्हा को शरण देकर नसीर अहमद गुजराती को क्रोधित करने का साहस नहीं कर सका। उसने उसे एक सिफारिशी पत्र देकर अहमद बहमनी के पास भेजा। अहमद बहमनी ने राय कान्हा का स्वागत ही नहीं किया बल्कि उसे एक छोटी सी सेना भी दी जिससे उसने नन्दरबार तथा सुल्तानपुर लूटा। जब अहमद गुजराती के पास यह समाचार पहुँचा तो उसने तुरन्त एक शक्तिशाली सेना अपने पुत्र तथा युवराज मुहम्मद खाँ की अधीनता में भेजी। युवराज ने दक्खिनियों को अपने राज्य लौटने पर बाध्य किया। तत्पश्चात् अहमद बहमनी ने अपने पुत्र तथा युवराज अलाऊद्दीन अहमद खाँ को गुजरातियों को नियन्त्रित करने के लिए भेजा किन्तु इससे पूर्व कि दक्खिनियों के पास सहायता पहुँच पाती गुजराती दौलताबाद के निकट पहुँच गए थे। अलाऊद्दीन का ससुर खानदेश का नसीर उससे आ मिला और एक भीषण युद्ध में मित्र शासक पराजित हुए। राजकुमार अलाऊद्दीन बहमनी को दौलताबाद के दुर्ग में शरण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा तथा नसीर और कान्हा असीरगढ़ भाग गये। यह देखकर कि दौलताबाद का घेरा व्यर्थ होगा मुहम्मद ने खानदेश

के कुछ क्षेत्र उजाड़े और नन्दरबार लौट गया।[32]

बुल्जे हेग के अनुसार 1429 ई० में झालावाड़ का राजा कान्हा भागकर खानदेश के शासक के पास शरण लेने पहुँचा। वह शक्तिशाली शासक नहीं था इसलिए उसने कान्हा को बीदर के शासक अहमदशाह बहमनी के पास भेज दिया। उसने एक सेना नन्दरबार के विरुद्ध उसे तहस-नहस करने के लिए भेजी। इस सेना को हराकर पीछे धकेल दिया गया। इसके बाद कान्हा दक्षिण के शासक के पास सहायता के लिए पहुँचा। (इसके बाद दक्षिण के शासक ने अपने पुत्र अलाऊद्दीन अहमद के नेतृत्व में कान्हा को झालावाड़ में पुन: स्थापित करने के लिए तथा गुजरात पर आक्रमण करने के लिए सेना सहित भेजा।) यह सेना दौलताबाद में इकट्ठी हुई और यहाँ पर खानदेश का नसीर खाँ भी उनसे आ मिला। इन संयुक्त सेनाओं का मुकाबला करने के लिए गुजरात के शासक अहमद ने अपने सबसे बड़े पुत्र मुहम्मद खाँ के नेतृत्व में एक सेना भेजी तथा उसने संयुक्त सेनाओं को परास्त किया। अलाऊद्दीन अहमद दौलताबाद भाग गया तथा नसीर खाँ और कान्हा लौट गए।[33] इस घटना से यह स्पष्ट है कि झालाबाड़ के हिन्दू शासक का साथ खानदेश और दक्षिण के मुसलमान शासकों ने उसका राज्य वापिस दिलवाने के लिए दिया और धर्म राजनीति के बीच में बाधा नही बन सका।

बुल्जे हेग के अनुसार 1446 ई० में गुजरात के शासक मुहम्मद शाह ने ईदर के शासक पुन्ज जो राजा वीरसिंह का पुत्र था, के विरुद्ध आक्रमण किया। राजा वीरसिंह उसके सम्मुख आये और अपनी पुत्री की शादी मुहम्मद शाह से कर दी। इस पर मुहम्मद शाह ने ईदर का राज्य उसे वापिस कर दिया।[34]

1449 ई० में मुहम्मद शाह ने चम्पानेर के शासक गंगादास पर आक्रमण कर दिया। राजा गंगादास हार गया और पावागढ़ के पहाड़ी किले में चला गया। मुहम्मद शाह वहाँ स्थाई रूप से रहने लगा तथा "शंकर तलाब" के नाम से एक जलाशय बनवाया। यहाँ पर एक महल तथा कुछ भवन भी बनवाए। गंगादास ने मालवा के शासक महमूद खिल्जी से सहायता मांगी तथा महमूद उसकी सहायता के लिए आया। परन्तु जब उसे यह पता चला कि मुहम्मद शाह अस्वस्थ होने के बावजूद भी चम्पानेर छोड़कर गोदरा में उनसे युद्ध करने के लिए आ पहुँचा है तो महमूद खिल्जी पाण्डू की ओर चला गया। अधिक बीमारी के कारण मुहम्मद शाह अहमदाबाद चला गया जहाँ उसकी 1451 ई० में मृत्यु हो गई।[35]

1453 ई० में मालवा के शासक महमूद खिल्जी ने नागौर के विरुद्ध अभियान किया जिसका शासक फिरोज खाँ था। परन्तु युद्ध किए बिना ही परिस्थितिवश उसे वापिस लौटना पड़ा। इसी वर्ष फिरोज खां मर गया और

उसका भाई मुजाहिद वहाँ का शासक बना तथा फिरोज के पुत्र शम्सखाँ को भगा दिया। शम्सखाँ ने चित्तौड़ के राणा की मदद माँगी। राणा ने कुछ शर्तों पर मदद दे दी तथा शम्सखाँ को अपनी सेना की सहायता से नागौर का शासक बनवा दिया।[36]

एस० आर० शर्मा के अनुसार हमें यह पता लगता है कि सुल्तान महमूद नम्र, वीर, न्यायप्रिय तथा विद्वान था और उसके शासनकाल में हिन्दू तथा मुसलमान सभी प्रजाजन सुखी थे और एक दूसरे के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करते थे।[37]

उपरोक्त घटनाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण के गुजरात तथा खानदेश आवश्यकता पड़ने पर हिन्दुओं की सहायता करते थे। और हिन्दू-मुस्लिम राज्यों की सहायता करते थे जिससे हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रम चलता रहता था।

1470 ई० में गुजरात के शासक महमूद को पता चला कि सिन्ध में हिन्दू मुसलमानों पर अत्याचार कर रहे हैं, इसलिए रन के कच्छ से होकर तेजी से धार पहुँचा। उसे वहां 24,000 घुड़सवारों की एक सेना मिली। उनके नेता ने महमूद से विचार विमर्श किया तथा बताया कि वे इस्लाम स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु वे इस धर्म के सिद्धान्त तथा नियमों के विषय में कुछ नहीं जानते हैं और साथ ही वे मुसलमानों से शादी नहीं करेंगे तथा हिन्दुओं की भाँति ही रहेंगे। महमूद ने वे शर्तें मान लीं तथा उन्हें गुजरात में अपनी सेवा में आमन्त्रित किया और साथ ही इस्लाम धर्म की शिक्षा देने के लिए कुछ आदमियों की नियुक्ति भी की।[38]

यह दक्षिण में एक नया परीक्षण धर्म के क्षेत्र में था। हिन्दू मुसलमान बनने पर भी मुसलमानों से शादी नहीं करेगा तथा इस्लाम की शिक्षा लेने के बाद भी हिन्दुओं की ही भांति रहेगा और इस बात की अनुमति गुजरात के मुसलमान शासक ने सहर्ष दे दी यह बात आश्चर्यजनक दिखती है परन्तु हैं सत्य।

महमूद की अभियान योजनाओं से उसके सरदार तंग आ गए थे। 1480 ई० में "ईद-उल-फितर" मनाने के उद्देश्य से महमूद की अनुपस्थिति में ये सरदार अहमदाबाद में इकट्ठे हो गए और एक षडयन्त्र रचा कि महमूद को गद्दी से हटाकर उसके पुत्र अहमद खाँ को बैठाया जाय। उसके मन्त्री ' इमाद-उल-मुल्क" जो महमूद का पक्ष छोड़ने के लिए तैयार नहीं था, की हत्या का षडयन्त्र रचा गया परन्तु उसको विश्वासपात्र हिन्दू सरदार राय रैय्यन ने उसकी हत्या में एक दल बनने से इन्कार कर दिया।[39]

मो० हबीब और खलीक अहमद निजामी के अनुसार अहमद शाह ने अपने शासन के अधिकारी वर्ग में हिन्दूओं को सम्मिलित करने की आवश्यकता समझी

और उसके अन्तर्गत वैश्य अर्थात् व्यापारी वर्ग के मानिकचन्द औरमोती चन्द महत्वपूर्ण मन्त्री बनाये गए। कहते हैं कि सुल्तान के लिए एक उपयुक्त हिन्दू पत्नी खोजने के लिए उसने एक ब्राह्मण नियुक्त किया था।

इस विषय में यह कहा जा सकता है कि यदि अहमद शाह ने राजपूतों तथा मुसलमानों में वैवाहिक सम्बन्ध प्रोत्साहित किये तो उसने अपनी नई राजधानी अहमदाबाद में बनाए गए स्मारकों में भी जैन तथा मुस्लिम वास्तुकला का सामन्जस्य स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया। दो भिन्न शैलियों का यह सम्मिश्रण गुजरात में मुस्लिम वास्तुकला से भिन्न स्थानीय स्वरूप बतलाता है।

खान देश

मुहम्मद शाह द्वितीय— अपने पिता की नीति के अनुसार मुहम्मद शाह ने राजपूत राजकुमारियों से विवाह किये। ईदर के राव हर ने सुल्तान द्वारा अपना राज्य उजड़ता देखकर अपनी सुन्दरी कन्या का विवाह सुल्तान से कर उसकी आधीनता स्वीकार की। अपने पति पर उसका इतना प्रभाव था कि विवाह के तुरन्त पश्चात् उसने ईदर का राज्य अपने पिता को वापिस दिला दिया। उसके अधीन हिन्दुओं ने उच्च सरकारी पदों पर कार्य किया। कहते है कि एक वैश्य उसका परामर्श-दाता और प्रिय साथी बन गया था। **कुतबुद्दीन अहमद शाह द्वितीय** के हरम में अनेक रानियाँ थी किन्तु राजपूत राजकुमारी रानी मन्जरी उसे सर्वप्रिय थी जिसका अपने पति पर अत्यधिक प्रभाव था। इसके विपरीत उसने अपने अधीन उच्चतम पदों पर कुछ हिन्दू मुस्लिम नियुक्त किये। उसका एक अमीर अमीनचन्द्र मलिक था जिसे एक अभियान का नेता बनाकर मलिक गदाई के साथ राणा कुम्भा के विरुद्ध नागौर के फिरोज की सहायता के लिए भेजा गया था।

महमूद बीगड़—महमूद एक वीर सुल्तान था जिसने लगातार पड़ोसी राजाओं के विरुद्ध अभियानों का नेतृत्व किया। यह अभियान धार्मिक जोश से अधिक विजय की महत्वकांक्षाओं स प्रेरित थे। उसने सफलतापूर्वक पड़ोसी राजपूत राजाओं तथा मुसलमान शासकों से भी युद्ध किये। उसने अपने प्रशासन में कुछ उच्चतम पदों पर हिन्दू नियुक्त किये। उदाहरण के लिए एक ब्राह्मण मलिक गोपी सुल्तान का मुख्य मन्त्री था।

उसने संस्कृत को भी संरक्षण दिया। उसके दरबारी कवि उदय राज ने सुल्तान की प्रशंसा में 'महमूद चरित्र' नामक एक कविता लिखी। कवि अपने संरक्षक का वर्णन शाही वंश के सर्वोतम रत्न के रूप में इस प्रकार करते हैं कि मानो वह क्षत्रिय था। वह सुल्तान के विषय में बहुत बढ़ा-चढ़ा कर लिखता है।

('युद्ध में महमूद भीम के बराबर है, परोपकार में वह कर्ण से आगे है, क्रीड़ा में वह नारायण के समान है, दया में वह राम के सदृश्य है, ज्ञान में वह बृहस्पति से उत्तम है और सौन्दर्य में मन्मथ से अधिक है।')

मुजफ्फर शाह द्वितीय—मुजफ्फर एक कट्टर विशुद्धि वादी था। एक राजपूत माता रानी हीरा बाई का पुत्र होने के कारण उसकी रगों में यथेष्ट हिन्दू रक्त बह रहा था। वह इतना प्रगतिशील था कि उसने तीन राजपूत राजकुमारियों राणा महीपत की पुत्री राजबाई गुहिल, राजपूत कन्या लक्ष्मीबाई तथा बीबी रानी से विवाह किया। बीबी रानी एक अतीव सुन्दरी युवती थी और सुल्तान पर उसका सबसे अधिक प्रभाव था। राजमहल तथा सेना का नियन्त्रण उसी के हाथ में था। उसकी सेवा में सात हजार कर्मचारी थे और राज्य के मामलों में वह प्रभावशाली परामर्शदात्री थी।

इसके अतिरिक्त मुजफ्फर संगीत का, जिसके मुस्लिम मुल्ला कट्टर विरोधी थे, बड़ा प्रेमी था। वह स्वयं एक कुशल गायक था। वह न केवल अनेक वाद्य-यंत्रों को बजाने में कुशल था बल्कि संगीत शास्त्र के किसी भी विशेषज्ञ का मुकाबला कर सकता था। उसके दरबार में सुल्तान की मुख्य नर्तकी बाई झाऊ द्वारा सरस्वती नृत्य तथा नाटक से उसके प्रेम का भली भांति अनुमान लगाया जा सकता है। हंस अर्थात् सरस्वती का वाहन तैयार करने में छः मास लगे। वह सम्पूर्ण सोने का बना था तथा उसमें बहुमूल्य रत्न जड़ थे। निश्चित दिन देवी की वेश-भूषा में सज-धज कर बाई झाऊ अपने संगीत तथा नृत्य से दर्शकों पर उल्लसित हंसी की वर्षा करती थी।[40]

मालवा

चौदहवीं शताब्दी के अन्त में तैमूर लंग के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली सल्तनत की समाप्ति पर गुजरात की भाँति मालवा भी स्वतंत्र राज्य बन गया। यहां पर भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के अनेक उदाहरण इतिहास का अध्ययन करने पर मिलते हैं जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—

1442 ई० में मालवा के शासक के पुत्र महमूद ने राणा कुम्भा पर आक्रमण किया। आक्रमण का कारण यह था कि राजा ने मालवा और गुजरात के संघर्ष के समय गुजरात के शासक मुहम्मद शाह के पुत्र उमर खां की सहायता की थी।[41] 1450 ई० के अन्त में मालवा के शासक महमूद ने चम्पानेर के शासक कनकदास के समर्थन में गुजरात पर आक्रमण किया।[42] महमूद द्वितीय ने अपने पिता के मंत्री बसंत राय को अपने शासक बनाने के बाद उसी पद पर नियुक्त किये रखा। इसका विरोध अन्य मुस्लिम सरदारों ने किया और बसंतराय की हत्या कर दी।[43] इससे स्पष्ट है कि मालवा में भी हिन्दू उच्च पद पर

आसीन थे।

हुशंग शाह—1511 ई० में सुल्तान की मृत्यु के बाद महमूद द्वितीय का पुत्र हुशंग द्वितीय के नाम से शासक बना तथा मध्य मालवा की ओर बढ़ा जहां पर उपद्रवकारी इकट्ठे थे। यहां पर उपद्रवकारियों ने बताया कि उनको मुहाफिज खां नामक सरदार ने भड़काया है। हम दिल से आपके साथ हैं इसलिए मुहाफ़िज खां के बड़े भाई साहिब खां की हत्या करा दी जाय। मुहाफ़िज खां ने शासक के महल पर आक्रमण कर दिया परन्तु हार गया। अब मुहाफ़िज खां ने अपने भाई साहिब खां को महमूद द्वितीय के नाम से मालवा का शासक घोषित कर दिया तथा वह मांडू से निकल भागा और उज्जैन की ओर चला गया। उसने चन्देरी के गवर्नर बीहजात खां से सहायता मांगी परन्तु उसने इंकार कर दिया। अब महमूद बहुत ही दुविधा में था कि वह किधर जाये और कुछ समय तक ऐसे ही भटकता रहा। अन्त में मालवा की छोटी सी रियासत के सरदार मेदनीराय के पास पहुंचा जो अपने पराक्रम के लिए प्रसिद्ध था। उसने उसे सहायता दी तथा इसके बाद बीहजत खां ने भी अपना विचार बदल दिया तथा महमूद को सहायता देने के लिए अपने पुत्र सीदत खां के नेतृत्व में एक सेना भेजी।[44]

प्रो० हबीब तथा खलीक अहमद निजामी के अनुसार हुशंग शाह ने पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई और राजपूतों को अपने राज्य में लाकर निमार में बसने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने महाराणा मोकल के दो बड़े भाईयों चूड़ा और अज्जा का स्वागत किया और उन्हें मालवा में जागीरें दी। विक्रमानन्द 1481/1514 का ललितपुर का शिलालेख स्पष्टत: यह सूचित करता है कि हिन्दुओं द्वारा मंदिर बनवाने पर हुशंग शाह ने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया। मालवा में भारी हिन्दू आबादी थी और हुशंग शाह द्वारा अपनाई गई धार्मिक उदारता की नीति ने वहां सामान्य जीवन अशांत नहीं किया। अपने राज्य में व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन देने के लिए हुशंग शाह ने जैनियों को संरक्षण प्रदान किया जो उस समय मुख्य व्यापारी वर्ग और महाजन थे। उसने एक सफल जैन व्यापारी नरदेव सोनी को अपना खजांची नियुक्त किया और शाही परिषद में भी सम्मिलित किया। एक जैन महाजन मंडन ने जिसने हुशंग शाह की आर्थिक सहायता की थी, बदले में उससे सम्मान प्राप्त किया।[45]

1517 ई० में मेदनी राय और महमूद में अनबन हो गई तथा मेदनी राय ने अपने को मांडू से निकालकर चन्देरी तथा गगरान पर केन्द्रित किया और अपने भाई सिलाहदी को रायसेन, भिलसा तथा सारंगपुर सौंप दिया। महमूद ने अपने पुराने मुसलमान सरदारों को इकट्ठा किया तथा गुजरात के शासक के पुत्र आसफ की सलाह से उसने गगरान पर आक्रमण किया। मेदनीराय ने भी

राणा सांगा की सहायता ली तथा दोनों की संयुक्त सेनाओं ने महमूद की सेना को परास्त किया था परन्तु उन्होने उसके साथ सद्व्यवहार किया। उसके हीरे-जवाहरात मुकुट से उतार लिये किन्तु उसका राज्य उसे वापिस कर दिया।[46]

प्रो० हबीब तथा खलीक अहमद निजामी के अनुसार व्यक्तिगत जीवन में महमूद एक पवित्र और धार्मिक मुसलमान था किन्तु धर्मान्ध नही था। इसमें संशय नहीं कि हमें उसके द्वारा मदिरो को विध्वंस करने के प्रमाण मिलते हैं किन्तु उसने ये कार्य अपने शत्रुओं के क्षेत्र में किए। उसके अधीन राज्य में हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ शान्तिपूर्वक रहे और मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रहे।

गैर मुस्लिम प्रजा के प्रति महमूद ने उदारता की नीति अपनायी और उन्हें अपने शासन में सम्मिलित किया। हम संग्रामसिंह सोनी को कोषाध्यश तथा रायरायान शिवदास को महत्वपूर्ण दरबारी अमीरों की भांति कार्य करता हुआ पाते हैं।

'कृषि का विकास करने के लिए महमूद ने अपने अभियानों के समय सदैव इसका ध्यान रखा कि किसानों की फसल नष्ट न हो और जहां हानि अपरिहार्य थी वहां उसने क्षतिपूर्ति की। अपने राज्य में व्यापार कौर व्यवसाय को प्रोत्साहित करने के लिए उसने जैन पूंजीपतियों को संरक्षण प्रदान किया और उन्हें मालवा में बसने के लिए प्रोत्साहित किया।

गयास शाह

गयास शाह की नीति के फलस्वरूप मालवा ने शान्ति का भोग किया और जनता आर्थिक व्यवसायों में लगी। उसका शासन समृद्धि का युग था। उसने जैनियों को शासन में सम्मिलित करने तथा उन्हें उपाधियां देने की परम्परा बनाएं रखी। इस प्रकार मुंजा तथा पुंजराम को मुफरिरहुल मुल्क और संग्राम सिंह सोनी को नक्दुल मुल्क की उपाधि दी गयी।[47]

यह कार्य हिन्दू-मुस्लिम एकता के बीजारोपण के रूप में देखा जा सकता है।

संदर्भ

1. रतिभानु सिंह नाहर : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ० 654
2. वही ,, ,, पृ० 670
3. वही ,, ,, पृ० 671
4. वही ,, ,, पृ० 692

5. वूल्जे हेग : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 410
6. वही ,, ,, पृ० 435
7. वही ,, ,, पृ० 439
8. वही ,, ,, पृ० 471
9. वही ,, ,, पृ० 442
10. वही ,, ,, पृ० 443
11. वही ,, ,, पृ० 443
12. वूल्जे हेग : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 443
13. वही ,, ,, पृ० 444
14. वही ,, ,, पृ० 444, 445
15. वही ,, ,, पृ० 454
    एवं रतिभानुसिह नाहर : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ० 690, 694
16. वूल्जे हेग : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 454, 55
17. वही ,, ,, पृ० 460
18. वही ,, ,, पृ० 462
19. वही ,, ,, पृ० 491
20. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 182
21. वही ,, ,, पृ० 492
22. वही ,, ,, पृ० 493
23. रतिभानु सिंह : पूर्व मध्यकालीन भारत पृ० 713
24. वही ,, ,, पृ० 703
25. मो० हबीब नाहर : दिल्ली सल्तनत भाग 2 पृ० 361-521
    एवं डा० ताराचन्द : मध्यकालीन भारत का इतिहास पृ० 177
26. वूल्जे हेग : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 279
27. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 1671
    एवं वूल्जे हेग : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 280
28. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ० 35, 36; 87
29. वही ,, ,, पृ० 113--17
30. वूल्जे हेग : दी कैम्ब्रिअ हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 298
31. वही ,, ,, पृ० 300
32. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 168।
33 वही ,, ,, पृ० 201
34 वही ,, ,, पृ० 302
35. वही ,, ,, पृ० 306

36. वही ,, ,, पृ० 307
37. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत भाग 2 पृ० 119
38. वही ,, ,, पृ० 121, 23, 31, 32, 38
39. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 163
40. वूल्जे हेग : दी 'कैम्ब्रिज' हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 355
41. वही ,, ,, पृ० 356
42. वही ,, ,, पृ० 365
43. वही ,, ,, पृ० 366
44. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत भाग 2 पृ० 157 58
45. वूल्जे हेग : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० 367, 691
46. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत भाग 2, पृ० 171
47. वही ,, ,, पृ० 172

अध्याय 8

कला और साहित्य

कला और हिन्दू-मुस्लिम एकता

तुर्की शासकों ने सत्ता व सम्पत्ति के केन्द्रीकरण के लक्ष्य के साथ स्वयं को शहरी इलाकों में स्थापित किया जहां वे ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि अधिशेष का प्रमुख हिस्सा बंटा लेते थे। इस हिस्से को युद्ध या वास्तुकला या भोग-विलास की वस्तुओं के उत्पादन में लगाया जाता था। उत्पादन और तकनीकी विकास के केन्द्र होने के अतिरिक्त ये शहर उस नई संस्कृति के केन्द्र बन गये जिसने इस्लाम तथा हिन्दुत्व की परम्पराओं के समन्वय को जन्म दिया।

कई शताब्दियों के समन्वय एवं आपसी समीकरण की प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप 13वीं शताब्दी के बाद भारतीय इस्लामी संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था। यह संस्कृति मध्य एशिया में विकसित इस्लामी परम्परा के तत्वों के साथ-साथ भारत में तुर्की आक्रमण से पूर्व पनपने वाली हिन्दू, बौद्ध और जैन परम्पराओं के तत्वों के सम्मिश्रण से बनी थी। आरम्भ में ये एक दूसरे से परस्पर विरोधी रहीं किन्तु बाद में इन्होंने अपने आपको पारस्परिक समन्वय-प्रक्रिया में ढाल लिया।[1]

भारत भूमि पर दो विभिन्न दृष्टिकोणों और उनकी सभ्यताओं का संघर्ष चल रहा था जिसका परिणाम एक नई सभ्यता का उत्पन्न होना था। हिन्दू-मुस्लिम तत्वों से एक नई स्थापत्य कला का विकास हुआ। 13वीं शताब्दी के बाद हिन्दू तथा मुसलमानों द्वारा निर्मित भवनों में एक से गुण है। विभिन्नता केवल उनके प्रयोग और उद्देश्य में रही। उनकी शैलियों में विभिन्नता स्थानीय प्रथाओं और क्षेत्रीय विशेषताओं के कारण थी।[2]

इस्लाम की मेहराव शैली के विपरीत इस्लाम के आगमन से पूर्व कालिक स्थानीय शिल्प शैली को हम "शहतीरी शिल्प कला" (Trabeate) कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में उसकी मुख्य विशेषता आड़ी व खड़ी रेखाएँ थीं, जो कि स्तंभों (Pillars) पर कोष्ठकों (Brackets) की सहायता से कड़ियाँ रखकर

बनाई जाती थीं। कई तकनीकी साधनों (जैसे चूने का उपलब्ध न होना) के अभाव के कारण मंदिरों आदि के निर्माण में कड़ियों वाले छज्जों (Corbelting) और अंतगृर्थन्न (Dovetailing) जैसी शैलियों का प्रयोग आवश्यक हो गया था। अधिकतर मंदिरों के निर्माण में शिखर शैली अपनाए जाने का एक मुख्य कारण यह भी है। हमें स्थापत्य में सजावट के लिए प्रयुक्त होने वाले आसपास के फूल पत्तों व जीवों की प्रचुरता में देशी या भारतीय कला शैलियों का प्रभाव दिखाई देता है। मंदिर का प्रत्येक कोना जीवित वस्तुओं के विविध रूपों से अलंकृत रहता था। आरंभिक टकराव के बावजूद इन दोनों विपरीत परम्पराओं ने स्वयं को समन्वय के पथ पर ढाल दिया। इसी के परिणामस्वरूप एक ऐसी नवीन शैली का उदय हुआ जिसमें दोनों की ही विशेषताएं एक की मजबूती (Strength) तो दूसरे का मृदु सौंदर्य (Grace) सम्मिलित थी। विशेष स्थानीय शिल्प शैली की एक अन्य विशेषता उसकी धार्मिक मौलिकता का रूप था जिसे मिथक कला के संदर्भ में विश्लेषित किया जा सकता है। इसे ही "मांगलिक कला" (Auspicios Art) की संज्ञा दी गई है। वस्तुत. प्रतीकों के माध्यम से उसकी सजावट एवं डिजाइनें बनाई जाती थी. इसकी पृष्ठभूमि में पद्म, चक्र एवं स्वास्तिक अंकित होते थे। मंदिरों के शिखर पर आमलक एवं कलश होते थे। हिन्दु वास्तुकला मुख्यत: "लोक शैली की कला" (Folk Art) थी जो राजनीति और दरबारी संरक्षण से दूर जनता की भावनाओं और समय की धाराओं पर आधारित थी।

सल्तनत कालीन भवनों को धार्मिक या धर्म-निरपेक्ष अथवा लौकिक रूपों में विभाजित करना कठिन-सा लगता है, क्योंकि मस्जिद, मन्दिर से, किले मकबरे और खानकाहों आदि में विभिन्न सामाजिक कार्यों का निर्वाह होता था। अतः उन्हें धार्मिक एवं धर्म-निरपेक्ष श्रेणियों में नहीं बांटा जा सकता है। शासकों की जरूरतों के अनुकूल इन भवनों को प्राय. शहरों के बीचों-बीच स्थापित किया जाता था चूंकि इन भवनों का निर्माण विशाल जन-समूहों के जमाव के लिए किया जाता था। अतः उनके केन्द्र मे एक विशाल खुला आंगन होता था। उस आंगन के चारों ओर खुला गलियारा और ऊँची-ऊँची छत्तों वाला इबादत घर (मस्जिद) होता था।

सल्तनत-कालीन भवन शासकीय प्रश्रय एवं पोषण की उपज थे, अतः हिन्दू-इस्लामी कला में हर राजवंश एवं सुल्तान की पसन्दगी एवं नापसन्दगी साफ झलकती है। चूंकि आय का एक बड़ा हिस्सा इन -इमारतों में लगाया जाता था इसलिए प्रत्येक वंश अपनी विशिष्टता को स्थापित करने के प्रयत्न में नया निर्माण कार्य आरम्भ करता था। इस प्रकार भारतीय इस्लामी शिल्पकला के विकास में कई विशिष्ट राजवंशीय शैलियां (Dynastic style) उभरीं,

रन्तु भारतीय व इस्लामी शैली के विकास की दृष्टि से हम उसे तीन वर्गों में परख सकते हैं—

1. तुर्की विजय के एकदम बाद होने वाली तोड़-फोड़ के साथ-साथ शीघ्रता में कई भवनों का अनियमित और अनियोजित निर्माण।

2. इस देश में नई और पहले से स्थापित परम्पराओं के मध्य आपसी आदान-प्रदान तथा मिलाप की प्रक्रिया का आरम्भ, परन्तु इस शैली की तकनीकी जरूरतों के प्रति समकालीन कारीगरों की अनभिज्ञता के कारण उनके काम में दृढ़ आत्मविश्वास और तकनीकी पूर्णता का अभाव।

3. धीरे-धीरे एक विशिष्ट भारतीय मुस्लिम शैली का विकास।[3]

सल्तनत काल में कलाओं के विकास में प्रमुख रूप से भवन-निर्माण कला के विकास को ही राजाश्रय प्राप्त हुआ। सल्तनत काल में कला के विकास के दो स्वरूप हैं। प्रथम अन्य क्षेत्रों के समान कला में भी एकीकरण और समन्वय की प्रवृति दृष्टिगोचर हुई और धीरे-धीरे इसका विकास हुआ। हिन्दू स्थापत्य कला शैली और मुस्लिम शासकों द्वारा भारत में लायी गयी विदेशी शैली का समन्वय हुआ जिसमें हिन्दू कला के अन्तर्गत दिल्ली सुल्तानों और प्रान्तीय शासकों ने भवन, राजप्रसाद और मस्जिदें निर्मित कराई। प्रान्तों और उनकी राजधानियों में स्थानीय हिन्दू कला का प्रभाव अधिक रहा। इससे नवीन प्रान्तीय स्थापत्य कला शैलियों का सूत्रपात और विकास हुआ।

भारत में राजपूत युग में अनेक दुर्गों, राजप्रसादों और मन्दिरों का निर्माण हुआ। विविध प्रकार की देव प्रतिमाएँ भी बनायी गयी थीं। इन मन्दिरों में हिन्दू मन्दिर ही नही वरन जैन एवं बौद्ध मन्दिर तथा मठ भी सम्मिलित थे। इन मन्दिरों का सौन्दर्य इतना आकर्षक था कि महमूद गजनवी जैसे ध्वंसकारों एवं कट्टर मुसलमानों ने भी इनके सौन्दर्य की सराहना की थी। वास्तविकता तो यह थी कि महमूद गजनवी से लेकर तैमूर लंग तक जितने आक्रमणकारियों ने भारत में प्रवेश किया और राज्य स्थापित किया उन्होंने बड़ी सावधानी से न केवल सुविख्यात हिन्दू शिल्पियों की रक्षा ही की बल्कि अनेक शिल्पियों को अपने साथ ले भी गये।

13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब दिल्ली में मुस्लिम राज्य स्थाई रूप से स्थापित हो गया, तो सुल्तानों ने भवन-निर्माण की ओर अपना ध्यान दिया। परन्तु इसमें उनकी चार समस्याएँ थीं। प्रथम, वे निरन्तर विद्रोह के दमन और युद्धों में इतने अधिक संलग्न रहे कि उन्हें इतना अवसर ही नहीं मिल पाया कि वे उच्च कोटि की श्रेष्ठ कला-कृतियों का निर्माण कराते। द्वितीय दिल्ली के शासक सैनिक विजेताओं के रूप में भारत में आये थे। उनके सहयोगियों और सैनिकों में श्रेष्ठ कलाकारों और शिल्पियों का नितान्त अभाव था। उच्च कला-

त्मक आदर्शों और प्रवृतियों वाले शिल्पी उनके पास नहीं थे। अतएव विवश होकर उन्हें भारतीय शिल्पियों का आश्रय लेना पड़ा और उनकी सहायता तथा सहयोग से निर्माण कार्य कराये। तृतीय उनके पास विशाल भवनों के लिए प्रचुर एवं यथेष्ट भवन सामग्री का अभाव था। चतुर्थ वे नमाज और धार्मिक कार्यों के लिए सर्वप्रथम मस्जिदों का निर्माण कराना चाहते थे क्योंकि उस समय मस्जिदों का अभाव था।

इस प्रकार परिस्थितियों के कारण दिल्ली सुल्तानों ने मस्जिदों, मकबरों, और दुर्गों जो बाह्य आक्रमणकारियों से राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक थे का निर्माण कराया। प्रचुर संख्या में शीघ्र मस्जिदों के निर्माण के लिए उन्होंने हिन्दुओं के मन्दिरों और देवालयों के शिखरों को तोड़कर उनके स्थान पर गोल गुम्बद उनकी सामग्री से ही बना दिये। मूर्तियों को हटाकर नमाज के लिए बीच में विस्तृत आँगन बना कर शीघ्र ही मन्दिरों को मस्जिदों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। कुछ मन्दिरों का अलंकरण और बाह्य दीवारें ऐसी ही रहीं। कुछ विशाल प्रसिद्ध मन्दिरों को भूमिसात कर उनके ही भग्नावशेषों पर उनकी ही सामग्री से हिन्दू शिल्पियों की सहायता से मस्जिदें निर्मित की गईं। कुछ स्थानों पर नवीन राजप्रासाद बनाये गये। इस कार्य में कुशल, अनुभवी, हिन्दू शिल्पियों की सहायता ली गई। मुस्लिम आक्रमणकारियों के नृशंस कार्यों से भयभीत भारतीय कलाकारों ने अपने आपको अपने नये स्वामियों की धार्मिक रुचि के अनुकूल बनाने का सफल प्रयत्न किया। इसलिए सल्तनत काल के प्रारम्भिक भवनों और मस्जिदों की कला में कठोर अनुशासन पूर्ण धार्मिक विचारों के सादृश्य रखने वाली सरलता आ गई। इन भवनों में विशालता तो थी परन्तु अलंकरण और सजावट का अभाव था परन्तु धीरे-धीरे समन्वय, एकीकरण और सहानुभूति की विचारधाराओं के परिणाम स्वरूप इन मुस्लिम भवनों और मस्जिदों की कला शैलियों में परिवर्तन होता गया। हिन्दू शिल्पियों और कलाकारों में समय और परिस्थितियों के अनुकूल आवश्यक क्षमता थी। इसलिए उन्होंने अपने नवीन मुस्लिम स्वामियों की धार्मिक रुचि आवश्यकताओं तथा राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं के अनुकूल परिस्थितियों वश भवन और मस्जिदें बनाईं। उन्होंने विदेशी विचारों व कला के कुछ तत्वों को अपनाते हुए इन निर्माण कार्यों में अपनी कला के अनुसार ही सृजन किया। विचार विदेशी थे, कला भारतीय थी। इस प्रकार सल्तनत काल में एक नवीन स्थापत्य कला शैली का विकास हुआ। इसका प्रादुर्भाव परिस्थितियों की देन स्वरूप हुआ था। इसे 'इण्डो-सारसानिक' कला या हिन्दू-मुस्लिम कहते हैं। हैवल का मत है कि इस युग की स्थापत्य कला पूर्णतया भारतीय रही जिस में हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों की कला का सुन्दर समन्वय होता है। मुसलमानों की कला पर हिन्दू

शैली का गहरा प्रभाव पड़ा। सर जान मार्शल का मत है कि हिन्दू कलाकारों और शिल्पियों ने आक्रान्ताओं और उनकी कला को प्रभावित किया। हिन्दू कला में बौद्ध तथा जैन कला-तत्व शामिल हैं और इस सम्मिलित कला शैली ने मुसलमानों द्वारा भारत में लाई गई मध्य एशिया, अरब और उत्तरी अफ्रीका की कला शैलियों से समन्वय किया। इस सबका सम्मिश्रण सल्तनत काल के स्थापत्य कला में हुआ और नवीन भवनों का निर्माण हुआ।

मुस्लिम शासक और निर्माण कर्त्ता उन हिन्दू कला परम्पराओं के प्रभाव से नहीं बच सके जो उनके चारों ओर प्रचलित थी। उनके भवनों में हिन्दू कलात्मक अलंकरण आ गया। मुस्लिम कला में अलंकारित प्रवृत्तियों का एवं विविधतामय शैलियों का समावेश हो गया। मुस्लिम भवनों में विविध रंग के पाषाणों का स्थान श्वेत संगमरमर ने ले लिया। मुस्लिम गोल गुम्बद की सरल कर्कशता को हिन्दू कलश ने दूर किया। गुम्बदों के ऊपर फूल पत्तियों युक्त पाषाण के या स्वर्ण के कलश लगने लगे। महराबों की नक्काशी हिन्दू अलंकरण की शैली अपनाई गई। दरवाज़ों और स्तम्भों पर अलंकरण नक्काशी के रूप में होने लगा। मुसलमानों ने हिन्दुओं से भवनों तथा उसके विविध भागों को उचित अनुपात में बनाने की कला अपना ली जिससे मुस्लिम भवनों में सुन्दरता तथा सुडौलपन आ गया। यदि हिन्दू कला शैली के प्रभाव के ये उदाहरण हैं तो मुसलमानों ने भी हिन्दू कला में गुम्बद, मीनार और मेहराब जोड़ दिये। कभी-कभी मुस्लिम भवनों में मेहराबों और विशाल दरवाजों पर कुरान की आयतों को या ऐतिहासिक लेखों को अंकित किया जाता था। प्रान्तों में मुस्लिम-भवन-निर्माण में हिन्दू शिल्पियों ने अपनी ही शैली का अनुकरण किया और उनके स्वामियों ने उनके कार्यों में कोई बाधा नहीं डाली। इससे जौनपुर, बंगाल, गुजरात, मालवा और दक्षिण भारत में वहाँ की कला शैलियों का विकास हुआ है जिसमें स्थानीय कला का अधिक प्रभाव था।

भारत में पहली तुर्की मस्जिद थी कुव्वत-उल-इस्लाम। उसका निर्माण बहुत जल्दी में किला राय पिथौरा के स्थल पर हुआ। इसी स्थल पर तुर्कों के आगमन से पूर्व सत्ताईस मन्दिरों का निर्माण किया जा रहा था। चूंकि कारीगरी और निर्माण दोनों के लिए वस्तुएँ वहाँ उपलब्ध थीं, अत: आवश्यकता केवल मन्दिर के चबूतरे को रिवाक से सहन में परिवर्तित करने की थी। जिसके खम्भे एक पत्थर को दूसरे पर रखकर तैयार किये जाते थे। इस मस्जिद की सबसे बड़ी विशेषता इसका उत्कृष्ट मक्सूरा और उसके साथ जुड़ा कबला लिवान है। इसमें हिन्दू-इस्लामी स्थापत्य कला की मजबूती और सौन्दर्य की समन्वित विशेषताएँ पहली बार उभर कर आती हैं। इस भवन में मेहराब बहुत प्रभावशाली हैं और साथ ही उनके अनुपात बिल्कुल सही हैं। मकसूर को सजाने के लिए खड़ी

लाइनों में की गई नक्काशी में खुश नवीसी (Calligraphy) और ज्यामिति डिजाइनों तथा फूल-पत्तियों का सम्मिश्रण किया गया है। यद्यपि इन महराबों का निर्माण देखने में प्रभावशाली लगता है तथापि तकनीकी दृष्टि से इसमें कलात्मकता नहीं आ सकी। यह वह समय था जब देशी कारीगरों को नई शैली की पूर्ण समझ नहीं थी। इसलिए उनके स्थापत्य में मेहराब बनाने की सही तकनीकी जानकारी का अभाव झलकता है। मेहराब का सही रूप 'वास्तविक' मेहराब थी जिसके मध्य बिंदू में चारों ओर पत्थर लगाये जाते थे और इन पत्थरों के माध्यम से मेहराब का भार नीचे के स्तम्भ तक पहुँचा दिया जाता था। दूसरी ओर आरम्भिक भारतीय इस्लामी शिल्प कला में बनाई गई मेहराबों में कार्बोलिग या टोड़ा तकनीकी से पत्थरों को एक-दूसरे पर आड़े रखा जाता था जिसमें भार खाली स्थान पर पड़ता था। यह रिक्त स्थान उस भार को सँभालने में असमर्थ होता था। यही गलत तकनीकी मकसूरों के जल्दी ध्वस्त हो जाने का मुख्य कारण है। यही बात इस क्षेत्र में निर्मित इल्तुतमिश के मकबरे के गुम्बद पर भी लागू होती है। शैली की दृष्टि से यह मकबरा भी उस ढांचे के अन्तर्गत आता है जब कारीगर नई शैली की तकनीकी आवश्यकताओं से अनभिज्ञ थे। यह वर्गाकार इमारत है जिसके भीतरी भाग में भरपूर नक्काशी की गई है। इस इमारत का गुम्बद इसलिए नही ठहर सका क्योंकि जिन मेहराबों पर उसे ठहराया गया था वे वास्तविक मेहराब नहीं थीं। वस्तुत: सही रूप से मेहराब का प्रचलन बलबन के मकबरे में हुआ जो अब पूरी तरह से जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है।

हालाँकि साधारणतया मीनार का निर्माण मस्जिद के अहाते में ही किया जाता था, परन्तु अपनी ऊँचाई के कारण कुतुबमीनार इबादत के लिए बुलाये जाने के उपयोग के लिए अनयुक्त थी। अत: उसके निर्माण का उद्देश्य सम्भवत: तुर्की विजय से सम्बन्धित था अर्थात् एक नए शासक वर्ग की शक्ति को एक विजय-स्तम्भ की स्थापना के द्वारा घोषित करवाना। इससे पहले कई बार मध्य एशिया के राजाओं ने भी ऐसी ही मीनारों से जैसे ख्वाजा सियाह दोश की मीनार (जो लगभग 1150 ई० में बनी थी) यही काम किया था। दृढ़ता और सौन्दर्य का वही सम्मिश्रण. जो कि भारतीय शिल्प कला की अपनी विशेषता है, कुतुबमीनार में बखूबी देखने को मिलती है। 72.5 मीटर की प्रभावशाली ऊँचाई की इस मीनार की दीवारें ढलान लिए हुए हैं, जिससे जमीन पर उसकी 15 मीटर की चौड़ाई ऊपर जाकर केवल 3 मीटर की रह जाती है। इसका निर्माण लाल बलुआ पत्थर से हुआ है और उसकी पहली तीन मंजिलों पर अत्यन्त संयत नक्काशी की गई है। छज्जों के निर्माण में प्रयुक्त अवरोही टोडा (Stalactite bracketing) की तकनीक विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

छज्जों को साधारण दीवार गीरों पर ठहराने के बदले पूरे भार की छोटी-छोटी मेहराबों और दीवारगीरों द्वारा मीनार की मुख्य दीवार तक पहुँचाया गया है। इस कारण से ही वह इतने अधिक दिन तक स्थिरता से टिक सकी हैं इस मीनार का निर्माण कुतुबुद्दीन ऐबक ने प्रारम्भ किया था परन्तु इल्तुतमिश ने इसे पूर्ण कराने की कोशिश की और अलाउद्दीन खिल्जी जैसे सुल्तानों द्वारा इसके क्षेत्र-फल को बढ़ा दिया गया। अलाउद्दीन खिल्जी द्वारा निर्मित जिन भवनों को जोड़ा गया उनमें अलाई दरवाजा विशेष महत्वपूर्ण है। उच्चकोटि के लाल बलुआ पत्थर और श्वेत संगमरमर से बनाई गई यह शेरशाह के समय तक की सभी सल्तनती इमारतों से श्रेष्ठतम स्थान रखती है। प्रसिद्ध मकबरों में जैसे गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा, फिरोज तुगलक का मकबरा, आदि अलाई दरवाजे से ही प्रभावित थे। इसकी श्रेष्ठता अलाउद्दीन खिल्जी के राज्य में साधन जुटाने की क्षमता की ओर भी संकेत करती है। हम इस इमारत को वह बिन्दु मान सकते हैं जहाँ से पहले की अनिश्चिता और रुकावटों को लाँघकर एक स्पष्ट 'हिन्द-इस्लामी स्थापत्य शैली' का विकास होता है। इसमें निर्माण कार्य से सम्बन्धित दो सामानों, बलुआ पत्थर और श्वेत संगमरमर का, एक साथ प्रयोग हुआ है और बारीक कारीगरी तथा जालियाँ देखने योग्य है। तीन प्रवेश द्वारों की मेह-राबों का आकार घोड़े की नाल (Horse shoe arch) की तरह है जिनके भीतरी भाग को छोटे-छोटे नुकीले कंगूरों से सजाया गया है। चौथी मेहराब का आकार कुछ असाधारणता लिए हुए है क्योंकि इसका आकार त्रिदलीय प्रतीत होता है। शताब्दियों के बाद यही तकनीक शाहजहाँ द्वारा विकसित की गई। इसी शैली के अन्तर्गत निजामुद्दीन औलिया के खानकाह के साथ बनी जमाअत-ऐ-खाना मस्जिद भी आती हैं।[4]

हिन्दू-मुस्लिम शैली के सम्मिश्रण का दूसरा प्रमुख उदाहरण सिकन्दर लोदी का मकबरा है। इस गुम्बद के भीतरी भाग के अलंकरण तथा प्रवेश द्वार पर हिन्दू-कला का गहरा प्रभाव है। इस मकबरे में रंग-बिरंगे खपरैलों का उपयोग किया गया है। पाषाण में नक्काशी और अलंकरण की, रंग-बिरंगे खपरैलों और पाषाण की जो कला इस युग में प्रारम्भ हुई उसका समुचित विकास मुगल युग में हुआ।

भारत में हिन्दू-मुस्लिम कला के सम्मिश्रण से बनी गौड़ की सोना मस्जिद, छोटा सोना मस्जिद और नाथू (Nathu) अथवा नृतक लड़की की मस्जिद तथा पांडुआ की सुनहरी मस्जिद बनावट के विशेष नमूने हैं। इनमें कलाकारों की कोमलता, श्रेष्ठता तथा स्पष्टता अधिक है।[5] मालवा की मलिक मुगिथ मस्जिद (Malik Mugith Masjid) अपनी बनावट में आधी मुस्लिम तथा आधी हिन्दू है।[6] गुजरात में हिन्दू दस्तकारी का मुस्लिम स्थापत्य-कला पर अन्य

स्थानों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ा। एक शताब्दी के परीक्षण जो अहमदाबाद में चला के बाद हिन्दू दस्तकार नुकीला गुम्बद बनाने में सिद्धहस्त हो गये और वे दस्तकार इस्लामी भावना को अपनाने लगे थे।[7]

कश्मीर तथा बंगाल में भी हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य कला का सम्मिश्रण हुआ। बंगाल में हिन्दू मन्दिरों की शैली से वक्र रेखाओं द्वारा सुन्दर अलंकरण तथा सजावट के लिए कमल आदि सांकेतिक हिन्दू आकृतियों को अपनाया गया। जौनपुर के शर्की शासकों के यहाँ हिन्दू-मुस्लिम कला का सम्मिश्रण हुआ। जौनपुर शैली की विशेषता है कि भारी ढालू दीवारों, वर्गाकार स्तम्भों, छोटे गलियारों, सरल कला पूर्ण मेहराबों, प्रवेश द्वारों और दीवारों पर बने आले (Nitches) आदि। इसकी प्रसिद्ध कला कृतियाँ हैं इब्राहीम शाह शर्की द्वारा निर्मित अटाला मस्जिद, हुसेन शाह द्वारा निर्मित जाम-ए-मस्जिद, लाल दरवाजा मस्जिद, जहाँगीर मस्जिद आदि। अटाला मस्जिद हिन्दू-मुस्लिम कला शैली के सम्मिश्रण का श्रेष्ठ नमूना है।

मालवा की प्राचीन राजधानी धार में राजा भोज के सरस्वती-मन्दिरों को तोड़कर उसमें बनाई गई मस्जिद और परमार राजपूत नरेश के सूर्य महल के भग्नावशेषों पर निर्मित लाट मस्जिद कला पूर्ण हैं। इनमें हिन्दू शैली के अत्याधिक कलापूर्ण स्तम्भों की प्रधानता है। धार में ही सूफी-संत कमालुद्दीन का मकबरा भी है। इसमें भी हिन्दू शैली है।

गुजरात के मुस्लिम शासकों ने प्रचलित जैन, हिन्दू-भवन-निमाण कला को अपनाया और उसे अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। इसमें मुस्लिम शैली के कुछ भाग मिला लिये गये। गुजरात शैली हिन्दू-मुस्लिम कला शैलियों के पारस्परिक समन्वय का सुन्दर उदाहरण है।

हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता का कला के क्षेत्र में इतना अधिक सम्मिश्रण हुआ है कि मुस्लिम शासक अपनी मस्जिदों के नाम भी हिन्दू-देवी-देवताओं के नाम पर रखने लगे जैसे हिन्दुओं में काली देवी का मन्दिर होता है तो मुसलमानों ने भी काली मस्जिद बनवानी प्रारम्भ की। फिरोज तुगलक के प्रधानमन्त्री मलिक मकबूल के मरने के बाद उसके पुत्र खान-ऐ जुहान जनान शाह ने एक मस्जिद काली मस्जिद के नाम से बनवाई थी। यह दिल्ली में निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के समीप स्थिति है।

गुजरात में कुतबुद्दीन मुबारक शाह ने उखा मस्जिद (Ukha Masjid) का 1316-20 ई० में निर्माण कराया। इसका नाम उखा मस्जिद इसलिए रखा क्योंकि यह उखा मन्दिर को तोड़कर उसके भग्नावशेषों से बनाई गई थी। यह बयाना के भरतपुर क्षेत्र में स्थित है। वहाँ मुसलमानों ने इसका नाम भी परिवर्तित करने की कोशिश नहीं की। केवल मन्दिर के स्थान पर मस्जिद

पुकारना प्रारम्भ किया ।[8]

जौनपुर में अटाला मस्जिद (Atala Masjid) का निर्माण लगभग 1377 ई० में प्रारम्भ हुआ था परन्तु 1408 ई० में इसको इब्राहीम शाह शर्की ने पूर्ण कराया । इसका नाम अटाला मस्जिद इसलिए रखा गया क्योंकि यह अटाला देवी के नाम पर बने मन्दिर के भग्नावशेषों से बनाई गई थी । यहाँ पर भी मुसलमानों ने इसका नाम भी बदलने की कोशिश नहीं की ।[9]

दौलताबाद में देवल मस्जिद का निर्माण मुहम्मद तुगलक के काल में कराया गया । यह बोधन नामक स्थान पर स्थित है । इसके ढाँचे में भी परिवर्तन नहीं किया गया । यह एक हिन्दू धार्मिक स्थान था । इसमें नई आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बहुत कम परिवर्तन किया गया । इसमें मुस्लिम कला की कोई छाप नहीं है ।[10]

जूनाशाह ने दिल्ली में 1367 ई० के लगभग दो मस्जिद बनवाईं । एक काली मस्जिद तथा दूसरी खिरकी मस्जिद (Kali and Khirki Masjid)। यहाँ भी हिन्दू नाम ही इन मस्जिदों के रख दिये ।[11]

सल्तनत काज में कुछ महलों का निर्माण भी हुआ था । उनमें से कुछ के नाम ऐसे हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि उनके नाम भी भारतीय हैं जैसे — जहाज महल, जिसका निर्माण हुशंग नामक शासक ने मांडू में कराया था । कुशक महल (Kushak Mahal) इसका निर्माण मालबा के शासक महमूद शाह प्रथम ने कराया था । जब वह 1445 ई० में जौनपुर वापिस आ रहा था तो फतहाबाद के निकट उसने इस महल के बनवाने का आदेश दिया ।[12]

बीदर के किले में मुहम्मदशाह तृतीय ने सोला खम्ब मस्जिद (Sola Khamb Masjid) का निर्माण कराया था । इसके पास उसने राजप्रासाद भी बनवाये थे जिनमें गगन, तरकश, चीनी, नगीना महल थे ।[13] गगन और नगीना महल के नाम पूर्ण रूप से भारतीय हैं ।

जौनपुर के शासक इब्राहीम शाह शर्की ने लाल दरवाजा, जामा मस्जिद, अटाला मस्जिद बनवाई थीं । लाल दरवाजा मस्जिद का शिल्पकार हिन्दू था जिसका नाम कमाउ (Kamau) था । वह विसादरू (Visadru) का पुत्र था । अटाला मस्जिद का शिल्पकार भी हिन्दू था ।[14]

सर वूल्जे हेग ने हिन्दू-मुस्लिम कला तथा स्थापत्य कला के सम्मिश्रण का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है । सर हेग के अनुसार किन्हीं दो सभ्यताओं में कला तथा स्थापत्य कला में इतना सम्मिश्रण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता जितना हिन्दू-मुस्लिम कलाओं में मिलता है जबकि वे धार्मिक विचारधाराओं में एक दूसरे के पूर्णतया विपरीत थे ।[15]

प्रो० हबीबुल्ला के अनुसार कला तथा स्थापत्य कला में हिन्दू-मुस्लिम

विचारधार केसाथ-साथ बौद्ध विचारधारा का भी सम्मिश्रण है। दिल्ली की मस्जिद में ऐबक ने बौद्ध चैत्य हाल (Buddhist Chaitya Hall) का प्रयोग किया है। तुगलक और सैय्यद शासकों ने भी हिन्दू विचारधारा को अपनाया।[16]

राय कृष्णदास के अनुसार काश्मीर, मालवा, गुजरात और बंगाल की सल्तनतों ने अच्छी-अच्छी मस्जिदें, मकबरें, सराय और महल बनवाये। इन सभी मुस्लिम इमारतों का वास्तु और अलंकरण भारतीय है जिसमें सासानी वास्तु और अलंकरण के केवल वे ही अंश लिए गए हैं जिनमें चारुता में कमी नहीं आ सकती थी।[17]

एस० आर० शर्मा के अनुसार हिन्दू और मुस्लिम स्थापत्य शैलियों ने मिल कर तथाकथित हिन्दू-सारसानी शैली को जन्म दिया। अरब निर्माण कला में बहुत पिछड़े हुए थे और अपनी आवश्यकतानुसार उन्होंने विदेशी आदर्शों को ग्रहण कर लिया था। किन्तु स्थापत्य की दृष्टि से तुर्क प्रतिभाशाली थे। फर्ग्यूसन लिखते हैं, "भारत में इन पठानों के स्थापत्य सम्बन्धी कार्यों के प्रारम्भ से अधिक तेजोमय तथा साथ ही साथ विलक्षण अन्य कोई चीज नहीं हो सकती थी···वे सैनिकों की जाति के थे और केवल युद्ध के लिए सुसज्जित होकर आए थे; इसलिए अपने साथ वे न कलाकारों को लाए और न शिल्पियों को, किन्तु तूरानी नस्ल की अन्य जातियों की भाँति उनमें सुदृढ़ स्थापत्य-प्रवृत्तिया विद्यमान थी; उनकी अपनी एक शैली थी, इसलिए उनकी कोई स्थापत्य योजना विफल नहीं हुई। इसके अतिरिक्त अपनी नई प्रजा में उन्हें अगणित ऐसे शिल्पी मिल गये जो उनकी किसी भी प्ररचना को कार्यान्वित करने में समर्थ थे।"

मुस्लिम राज्यों के स्थापत्य कार्यो का परीक्षण करने से यह "निर्विवाद सिद्ध हो जायेगा कि विदेशी शासन के अन्तर्गत भी हिन्दू-कला में टिकाऊ जीवन-शक्ति विद्यमान रही और मुसलमानों में उस कला को आत्मसात् करने तथा उसे अधिक ओजपूर्ण आत्मा प्रदान करने की अद्‌भुत क्षमता थी।

यद्यपि मुस्लिम विजेताओं ने बर्बरतापूर्ण कार्य किए फिर भी यह कहना उचित न होगा कि वे नितान्त बर्बर थे। महमूद गजनवी भी, जिसने मथुरा तथा वृन्दावन के मन्दिरों को निर्दयता पूर्वक ध्वस्त किया, धर्म के नाम पर उन पर प्रहार करने के पहले उनके सौन्दर्य से एक क्षण स्तब्ध रह गया और सराहना करने लगा। बुतशिकन से लेकर तैमूर तक जितने भी विजेता भारत में आए उन्होंने बड़ी सावधानी पूर्वक सुविख्यात हिंदू शिल्पियों के प्राणों की रक्षा की और उन्हें मुस्लिम भवनों का निर्माण करने के लिए गजनी तथा समरकन्द ले गये। तुर्कों में केवल स्थापत्य की प्रवृत्तियाँ थी, इस विषय की उन्हें शिक्षा नहीं मिली थी; भारत में उन्होंने यहाँ के बेजोड़ हिन्दू शिल्पियों की सहायता से अपने जन्म जात कला-प्रेम की खुलकर अभिव्यक्ति की। मुस्लिम स्वामियों की आवश्यक-

ताओं तथा उनके भारतीय कारीगरों की कला-परम्पराओं में असंगति थी वह बाधा नहीं सिद्ध हुई बल्कि उससे दोनों की शैलियां और अधिक समृद्ध हुई।

"इस्लाम की एकेश्वरवादी कट्टरता की अभिव्यंजना, सपाट गुम्बजों की सरलता, नुकीली मेहराबों की सरल प्रतीकात्मकता और मीनारों के पतलेपन में हुई...इसके विपरीत, हिन्दुओं की बहुदेववादी भावनाओं ने रूप की विभिन्नता तथा जटिलता, उभरे हुए काम द्वारा प्रत्येक भाग की सजावट और मानव प्रतिमाओं द्वारा अपने को अभिव्यक्त किया।...विजेता उस कला परंपराओं के प्रभाव से न बच सके जो उनके चारों ओर प्रचलित थी। सरल इस्लामी रूप हिन्दू अलंकरण से प्रभावित होने लगे।...गुम्बद की सरल कर्कशता का स्थान कलश ने ले लिया और उसके सिरे पर धातु के जो फूल-पत्तियों के गुच्छे बने रहते थे उसकी जगह पत्थर में खुदे हुए चित्रों का प्रयोग होने लगा। इसके अतिरिक्त मुसलमानों ने हिन्दुओं से भवनों तथा उनके भागों को उचित अनुपात से बनाने की कला भी सीख ली। मुस्लिम शैली में संगति (Symmetry) का जो अभाव था वह दूर हो गया और ईसा खाँ तथा हुमायूं के मकबरों में हमें मुस्लिम कला आदर्शों तथा हिन्दू प्रतिपादन पद्धति का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।" स्थापत्य कला के क्षेत्र में दोनों जातियों का जो समन्वय हुआ उसका सर हेनरी शार्प के इस संक्षिप्त वर्णन से अच्छा सारांश नहीं दिया जा सकता।

भारतीय मुस्लिम शैली के विकास का जिसका आरम्भ दिल्ली मे कुतबुद्दीन की मीनार तथा मस्जिद से हुआ और जो आगरा तथा फतेहपुर सीकरी के भवनों में पराकाष्ठा को पहुँच गया, वर्णन शार्प ने चार स्पष्ट युगो में किया है : (1) पहले युग में पुरानी दिल्ली में गुलामों तथा खिल्जियों के शासन में भवन बनाये गये; (2) दूसरे में तुगलकों ने तुगलकाबाद तथा हिसार-फिरोजा का निर्माण कराया; (3) तीसरे में सैय्यदों तथा लोदियों की इमारतें आती हैं; और (4) चौथे में मुगलों के ऐश्वर्यपूर्ण भवनों का निर्माण हुआ। दिल्ली के सात नगरों में से पांच आधुनिक नगरों को छोड़कर, बाबर से पहले के युग के थे और अधिकतर प्रान्तीय नगर राजधानी के ही प्रतिरूप थे। इसीलिए सर हैनरी का कथन कि "दिल्ली के भवनों में उस नगर के तथा समस्त हिन्दुस्तान के इतिहास का सारांश अन्तर्निहित है, पूर्णतया सत्य है।

प्राक्-तुगलक युग के स्थापत्य में "मुस्लिम-शैली की ऊँची मेहराबें तथा हिन्दू-शैली के नीचे और उत्कीर्ण चित्रों से अलंकृत स्तम्भों का व्यतिरेक ही देखने को नहीं मिलता, उन मेहराबों तथा महान मीनार (कुतुब मीनार) की कारीगरी से भी मुस्लिम प्ररचना (Design) पर हिन्दू विशेषताओं का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ये स्मारक विजयी कल्पनाशील तथा अर्द्ध-बर्बर जाति

की भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं, जिन्हें शान्त तथा परिश्रमशील तथा अधिक सभ्य प्रजा के अनुभव ने मूर्तरूप दे दिया था।"

तैमूर के आक्रमण के बाद तुरन्त ही मखदूम सब्जवाड़ी का निर्माण हुआ "जो सैय्यद तथा लोदी वंशों की शैली को पहले की शैली से जोड़ने वाली एक सुन्दर कड़ी है। द्वार की हिन्दू विशेषताएँ, मस्जिद पर बाहरी ड्रिपस्टोन, कब्र के गुम्बद के भीतरी ओर पलस्तर की सजावट आदि से स्पष्ट होता है कि दिल्ली कला का कट्टर इस्लामी युग समाप्त हो चुका था।"

यद्यपि पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में साम्राज्य राजनीतिक दृष्टि से समाप्त प्रायः हो रहा था, फिर भी दिल्ली में एक स्थापत्य शैली का विकास हुआ जिसे फरगूसन के शब्दों में, "पतनशील पठानों का अन्तिम प्रयत्न अथवा महान् मुगलों के प्रयत्नों का उषाकाल कहना चाहिए और जो दोनों के ही योग्य है। शार्प लिखते हैं "यह युग वैभवहीन था किन्तु इसकी अनेक सुन्दर स्थापत्य कृतियाँ उपलब्ध हैं जो गम्भीर शान्ति के कारण तुगलक शैली से संबद्ध है किन्तु जिनमें हिन्दू-रूपों के साथ भी नये ढग का समन्वय दर्शाया गया है इसलिए वे मुगलों के अधिक ओजपूर्ण स्थापत्य का मार्ग प्रशस्त करती हैं।"

जहाँ तक प्रान्तीय स्थापत्य का संबंध है, गुजरात, बंगाल और काश्मीर में स्थानीय शैलियों का प्रभाव सबसे अधिक देखने को मिलता है, किन्तु मालवा, जौनपुर और दक्षिण ने या तो विदेशी शैलियों को अपना लिया था, जैसे बीदर ईरानी (महमूद गवाँ का मदरसा) अथवा केवल दिल्ली की इस्लामी शैली का ही अनुकरण कर लिया था जैसे माण्डू में, लकिन ये भी हिन्दुओं के लालित्य, ओज तथा सौन्दर्य से अछूती न रह सकीं। हम हैवेल के इस कथन से न भी सहमत हों कि "यह इस्लामी संस्कृति, जिसका प्रारम्भ उस समय हुआ जब महमूद गजनवी ने मथुरा तथा कन्नौज के शिल्पियों द्वारा 'स्वर्ग-बधू' नामक मस्जिद का निर्माण कराया, केवल नाम को छोड़कर, हर दृष्टि से हिन्दू संस्कृति का ही पुनरुत्थान है, "फिर भी उसके इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि मुस्लिम गुजरात की राजधानी अहमदाबाद का निर्माण राजपूताना के राज-शिल्पियों ने किया था; मुसलमान सुल्तानों का गौड़ एक नया लखनौती था; काशी, जौनपुर की जननी थी; धार माण्डू की माता थी; विजयनगर के राजाओं के शिल्पियों ने बीजापुर के मुसलमानों की राजधानी का निर्माण किया।[17]

उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भारत में सल्तनत काल में स्थापत्य कला के क्षेत्र में कार्य, नाम, सामान में इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया था कि वे एक दूसरे से किसी प्रकार भी अलग नहीं हो सकते थे और ये सब बातें हिन्दू-मुसलमानों को एकता के सूत्र में बांधती रहीं जिसका अच्छा परिणाम मुगल-काल में स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है।

चित्रकला और हिन्दू-मुस्लिम एकता

यद्यपि भित्ति-चित्र (Wall decoration) तथा सचित्र पांडुलिपियां दोनों ही रूपों में चित्रकला की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही रही है तथापि कला के इतिहासकारों द्वारा सर्व सम्मति से यह माना जाता है कि दिल्ली के सुल्तानों के दरबारों में भारतीय मुस्लिम कला की कोई परम्परा नहीं रही। गहराई से सोचने पर यह ज्ञात होता है कि अधिकतर सुल्तान अपने धार्मिक दृष्टिकोण में रूढ़िवादी थे और ऐसा कोई ठोस साक्ष्य भी मौजूद नहीं है जो इस बात के विपरीत प्रमाण दे सके। अतः यह मान लिया गया कि सुल्तानों की कलात्मक अभिव्यक्ति की इस विशेष शैली को कोई आश्रय नहीं दिया गया। किन्तु पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान हुई रोचक खोजों तथा ज्ञात सामग्रियों के पुनर्मूल्यांकन को दृष्टि में रखते हुए इस मत में संशोधन करना होगा, क्योंकि यह बिल्कुल स्पष्ट है कि दिल्ली के सुल्तानों के लम्बे शासनकाल के दौरान दिल्ली में और साथ ही साथ प्रांतों में भी चित्रकला को प्रोत्साहन दिया गया।

उत्तर मध्य काल में सम्पूर्ण इस्लाम जगत में राजकीय कक्षों तथा भवनों में निर्मित चित्रों (Murals) का बहुत प्रचलन था और दिल्ली सल्तनत भी निश्चित रूप से इसका अपवाद नहीं थी। इसी प्रकार सुल्तान लोग अरबी और फारसी की उन श्रेष्ठ साहित्यिक और ऐतिहासिक कृतियों की पांडुलिपियों से भी अनभिज्ञ नहीं रहे होगें जिन्हें उत्साही कुलीन वर्ग के लोग तथा पुस्तकों के प्रेमी तुर्कीस्तान, ईराक तथा फारस से निरंतर आयात करते रहते थे। इस पृष्ट भूमि में यह पता लगाना पूर्णतया आश्चर्यजनक नहीं होगा कि दिल्ली के सुल्तानों के दरबारों में तथा अन्य स्वतन्त्र तथा अर्ध स्वतन्त्र केन्द्रों में चित्रकला को वास्तविक प्रोत्साहन मिला। इस सामग्री की पहचान एक लम्बे समय तक नहीं हो सकी थी क्योंकि इनमे अधिकांश में प्रमाणिक पुष्टिकाएँ (Authentic Colophaus) नहीं हैं जिनकी वजह मे इन्हें या तो प्रांतीय फारसी रचनाएं मान लिया गया था या फिर ऐसी रचनाए, जिनके बारे में यह पता नहीं था कि उनकी रचना कहां हुई। इस काल के दौरान भित्ति-चित्रों के प्रचलन के बारे में कुछ प्रमाण मिले हैं जो साहित्यिक कृतियों में मिले छुट-पुट तथा अप्रत्यक्ष संदर्भों के रूप में है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि इन प्रमाणों की मात्रा भी बड़ी अल्प है।

सल्तनत काल में चित्र के प्रचलन का सबसे प्रारम्भिक उल्लेख बैहाकी द्वारा लिखित "गजनवियों के इतिहास" में मिलता है। इसमें सुल्तान महमूद की राजधानी हैरात तथा लश्करी बाजार नामक नगर की इमारतों तथा स्मारकों में आकृति सम्बन्धी चित्रों के विद्यमान होने का उल्लेख किया गया है। शुलम्बर्गर और अन्य फ्रांसीसी पुरातत्वविदों ने, हैरात एवं लश्करी बाजार के भवनों की

दीवरों पर उत्सवों में पहनी जाने वाली पोशाकें तथा शाही दरबार के गुलामों को दिखाने वाले प्रारम्भिक भित्ति-चित्रों के अवशेषों की खोज करके, बैहाकी के उल्लेख की पुष्टि की है। यद्यपि ये स्थान सुल्तान महमूद के विशाल साम्राज्य का अंग थे तथापि भौगोलिक दृष्टि से ये भारत की सीमाओं से बाहर स्थित हैं। सुल्तान महमूद के दरबारी कवि, फारूखी ने सुल्तान महमूद द्वारा लाहौर में बनवाए गए एक भव्य उद्यान में निगार खाना अर्थात् चित्र-वीथिका नामक मडप की दीवार पर चित्रित सजावट का उल्लेख किया है जिसे समकालीन इस्लामी जगत में चित्रकला के प्रचलित होने के पक्ष में एक प्रमाण माना जा सकता है। इस निगारखाना के बीचों-बीच महमूद गजनवी का भी एक शबीह या व्यक्ति-चित्र बना था जिसमें उसे शिकार करते हुए और उसके आस-पास खड़े उल्लसित जनसमुदाय को चित्रित किया गया था।

समसामयिक लेखक ताजउद्दीन रज़ा के साक्ष्य के अनुसार सुल्तान शमसुद्दीन इल्तुतमिश (सन् 1210-1236 ई०) के शासन काल के दौरान चित्रों के माध्यम से सजावट का काफी प्रचलन था। 1229 ई० में बगदाद के खलीफा के दूत के आगमन पर हुए समारोह का उल्लेख करते हुए रजा ने एक कसीदे में दरगाह या तख्त महल की प्रमुख मेहराब के चाप स्कंधों (Spandrels) पर मानव तथा पशु-आकृतियों के चित्रों और सज्जाओं का अस्पष्ट सा उल्लेख किया है। चौदहवीं शताब्दी के लेखक इसामी ने अपनी पुस्तक "फतूह-उस-सलातीन" में चित्रकला के संबंध में रज़ा के साक्ष्य की पुष्टि की है। उसने लिखा है कि इल्तुतमिश के समय में चीनी चित्रकार दिल्ली में लाए गए। कुछ भी हो, इल्तुतमिश के काल में चित्रकारों और चित्रकला की वास्तविक परम्परा के विद्यमान होने को प्रमाणित करने के लिए इसामी का संदर्भ बहुत ही तर्क संगत प्रतीत होता है। समकालीन फारसी और हिन्दी ग्रंथों में अलाउद्दीन खिल्जी के शासन काल में भित्ति-चित्रों, पांडुलिपि चित्रों और कपड़े पर बने चित्रों के प्रचलन के संबंध में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं। अमीर खुसरो देदलवी की बहु प्रशंसित सुप्रसिद्ध कृति "देवल रानी खिज्र खां" में स्पष्टतः कहा गया है कि चित्रों की डिजाइनों के लिए "चरकबों" अर्थात छेददार भावों (Perforated Pouncebs) का इस्तेमाल किया जाता था। खुसरो के "सनूह सिविहर ग्रन्थ" में सुन्दर बालों वाले चित्रित वस्त्रों का उल्लेख है। फारस के इलखानिद वंश के सुप्रसिद्ध विद्वान वजीर मलिक अलाउद्दीन द्वारा अलाउद्दीन खिल्जी के समकालीन ख्वाजा रशीदउद्दीन फजलउल्लाह को भेजे उपहारों की सूची में एक ऐसे चित्रांकित कपड़े का उल्लेख हैं जिसमें अपने दरबार का आयोजन करते हुए एक सुल्तान को दिखाया गया है। अमीर खुसरो के ग्रंथों के अनेक स्थलों पर आकृति मूलक रेखांकनों, आकृतियों में अंकित कालीनों और पर्दों

के अनेक उल्लेख हैं। "छिताई वार्ता" नामक एक हिन्दी ग्रंथ में भी एक चित्रकार एवं उसकी रचनाओं का स्पष्ट उल्लेख है। यह पुस्तक "अलाउद्दीन तथा देवगिरी के राजा रामदेव यादव की पुत्री छिताई से संबंधित है। इस कथा में सुल्तान उक्त कुशल चित्रकार को दिल्ली से देवगिरी भेजता है। इस कृति से सल्तनत कालीन चित्रकार की कुशलता और सल्तनत कालीन चित्रकला के स्वरूप का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है।

सल्तनत काल में चित्रकला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसंग शम्स-ए-सिराज अफीफ की "तारीख-ए-फिरोजशाही" में मिलता है। एक स्थान पर गैर इस्लामी प्रथाओं के प्रति फिरोजशाह तुगलक द्वारा अपनाए गये निषेधात्मक उपायों की चर्चा करते हुए अफीफ लिखता है कि "सुल्तानों में यह रिवाज है कि वे अपने आरामगृहों को आकृति मूलक चित्रों की दीर्घाओं से सुसज्जित करते हैं। खुदा के प्रति अपने भय के कारण सुल्तान फिरोजशाह ने आदेश दिया कि इन दीर्घाओं में हिन्दू नरेशों की जीवित आकृतियों के चित्रों को नहीं लगाना चाहिए क्योंकि उनका उक्त कार्य (शरा) के सिद्धांतों के प्रतिकूल हैं। सुल्तान ने उनसे आगे कहा कि इस प्रकार की आकृतियों को चित्रांकित करने के स्थान पर पुष्पित वृक्षों के रेखांकन कराएं। इस संबंध में अफीफ द्वारा किया गया उल्लेख बड़ा ही रोचक है क्योंकि वह सूचित करता है कि दिल्ली के सुल्तानों के महलों के निजी कक्षों की दीवारों पर आकृति मूलक चित्रों की एक अनवरत परम्परा थी जिसे "आजम के सुल्तानों, गजनवियों तथा इरानी जगत के अन्य शासकों द्वारा पोषित चित्रकला की परम्परा से ग्रहण किया था। जियाउद्दीन बरनी ने "तारीख-ए-फिरोजशाही" में बताया है कि सुल्तान कैकुबाद द्वारा शुरू कराए गए महल को जलालुउद्दीन फिरोज खिल्जी ने पूरा कराया तथा उसे चित्रों से सजाया गया, इसी प्रकार खान-ए-फिरोजाबाद में फिरोजशाह के महल की सजावट चित्रों से की गई थी।

डलमऊ में मुल्ला दाऊद द्वारा सन् 1378-80 ई० में अवधी भाषा में सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यानक काव्य 'चंदायन" में एक रोचक छंद है। इस छंद में कथानायिका "चंदा द्वारा अपनी सखियों के साथ मिलकर चित्रांकित महल की अटारी पर सोने" का उल्लेख है। "छिताई वार्ता" की भांति "चंदायन" में भी रामायण से लेकर महाभारत तक के प्रसंगों, आम जीवन के दृश्यों, शिकार के दृश्यों तथा लोकप्रिय लोक-कथानकों के चित्रांकनों का उल्लेख हैं। इन चित्रों की पृष्ठभूमि लाल रंग की आभा लिए हुए है और इनमें सुनहरे रंग का खूब प्रयोग किया गया है। इस विशेषता को समकालीन जैन पांडुलिपियों, दृष्टांत-चित्रों और भारतीय चित्रकला की अन्य विभिन्न परम्पराओं से ग्रहण किया गया था। साथ ही सिराज के इंजु वंश के काल में प्रचलित चित्रक शैली तथा मुब्रिगेन के

अमीर हम्जा की समस्या ग्रस्त हिन्दू-मुस्लिम पांडुलिपि के पृष्ठों पर अंकित दृष्टांत-चित्रों ने भी कुछ सीमा तक इन चित्रों को प्रभावित किया है।

भित्ति-चित्र के अवशेषों के कुछ दृष्टांत—उपर्युक्त चर्चा से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मुगल युग से पूर्व शयन-गृहों तथा दीर्घाओं में चित्रित भित्ति-चित्रों के रूप में चित्रकला काफी प्रचलित तथा लोकप्रिय थी। समय के थपेड़ों के कारण केवल नाम मात्र के चित्र ही शेष बचे हैं और लिखित साक्ष्यों की पुष्टि करने वाली बहुत थोड़ी सामग्री ही शेष बची। दिल्ली सल्तनत कालीन चित्रकला के बिखरे और बचे खुचे अवशेष हमें चंपानेर एवं सरहिन्द के मुगल पूर्व स्मारकों और सीरी एवं बेगमपुर के मध्य स्थित भखदूवली मस्जिद से प्राप्त हुए हैं। भित्ति-चित्रों के ये अवशेष फूल-पत्तियों और वनस्पतियों के रूप में है। ग्वालियर के मानसिंह तोमर के महल में अलंकरणों के अद्भुत सौंदर्य ने बाबर तथा अकबर दोनों को बहुत अधिक प्रभावित किया था। ग्वालियर तथा गुजरात में चित्रकला की उक्त परम्परा को इस सीमा तक समृद्ध रूप में सुरक्षित रखा गया कि सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अकबर द्वारा संस्थापित महान् चित्रालयों (Ateliers) में इनमें से कुछ कुशल कार्यरत चित्रकारों को चित्र बनाने के लिए नियुक्त किया गया।

लघु-चित्र एवं चित्रित पांडुलिपियां—पूर्वी भारत के पाल साम्राज्य में नवीं-दसवीं शताब्दी से बौद्ध, जैन और हिन्दू धार्मिक ग्रंथों की पांडुलिपियों के ताड़-पत्र पृष्ठों और लकड़ी की जिल्दों (पटरियों) पर मूर्ति शिल्प संबंधी दृष्टांतों के रूप में लघु चित्र बहुत व्यापक रूप से प्राप्त होने लगते हैं। बारहवीं शताब्दी में बख्तयार खिल्जी के विनाशकारी आक्रमण के बाद लघु-चित्रों एवं चित्रांकित पांडुलिपियों की यह परम्परा अपने मूल जन्म स्थान में ही सदा-सदा के लिए नष्ट हो गई। इस युग में पश्चिमी भारत में गुजरात एवं मारवाड़ की महान प्रेरणा से लघुचित्र चित्रकला अस्तित्व में आई। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में यह शैली एक शक्तिशाली आन्दोलन के रूप में विकसित हुई। तदुपरांत धनाढ्य जैन व्यापारियों के उदार संरक्षण के माध्यम से वह कला केन्द्रीय, उत्तरी और यहां तक कि पूर्वी भारत में भी फैल गई। दिल्ली सल्तनत की सत्ता के महान और गौरवशाली दिनों में सल्तनत की राजधानी में इस प्रकार की पांडुलिपियों को लिखने और उनके पृष्ठों को चित्रांकित करने का अर्थ है कि सल्तनत काल में भारत में ईरानी और भारतीय दोनों प्रकार के चित्रकार और चित्रकला शैलियां विद्यमान थीं। परन्तु अभी तक हमें कोई भी ऐसा लघु-चित्र या चित्रांकित पांडुलिपि नहीं मिली है जिसके बारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सके कि यह दिल्ली सल्तनत के दरबार के संरक्षण के अन्तर्गत चित्रांकित हुई है। मौजूदा ऐतिहासिक सामग्री में चित्रों के पूर्ण अभाव के आधार पर

अधिकांश विद्वानों का अनुमान है कि दिल्ली सल्तनत की चित्रकला की इस परम्परा के विद्यमान होने की कोई सम्भावना नहीं है। परन्तु हाल के कुछ वर्षों में अनेक पाँडुलिपियों की खोज की गई है जिसके द्वारा कम से कम तीन प्रान्तीय सल्तनतों के दरबारों—मांडू, जौनपुर और बंगाल में अर्थात् मालवा के खिलजियों, जौनपुर के शर्कियों और बंगाल के हुसैन शाही सुल्तानों द्वारा बड़ी सच्ची निष्ठा के साथ चित्रकला को संरक्षण देने के प्रमाण मिलते हैं। इसी संदर्भ में हम गुजरात का नाम भी जोड़ सकते हैं जहां शताब्दियों से चित्रांकित जैन पांडुलिपियों को तैयार किया जाता रहा था। इनके अतिरिक्त प्रो० रिचर्ड एटिंग-हाउसेन और इर्मा एल० फ़ाड़ ने हाल ही में ईरानी साहित्यिक ग्रन्थों और सम्बन्धित पांडुलिपियों की खोज की है जिनमें वेश-भूषा और रीति-रिवाजों, प्राकृतिक दृश्यों स्थापत्य' आंतरिक सजावट, फूलों और पौधों एवं उच्च कोटि के रंग चयन आदि से परिपूर्ण एक बहुत परिष्कृत ईरानीकृत शैली की खोज की गई है। ये विशेषताएं ईरानी शैली से सम्बन्धित नहीं है वरन् इस प्रकार के चित्र भारतीय चित्रकला शैली में ही प्राप्त होते हैं। ईरानी चित्रकला के फारसी विद्वानों ने इन चित्रों की उत्पत्ति गैर ईरानी अथवा इन्हें किसी प्रान्तीय शैली से सम्बन्धित बताया है। परन्तु ये विद्वान अभी तक इसे किसी विशेष प्रदेश या देश के साथ सम्बन्ध करने में विफल रहे हैं। अब ईरानी साहित्य और हिन्दू-ग्रंथों की कुछ तिथि युक्त पांडुलिपियों के साथ-साथ अनेक विधि-विहीन पांडुलिपियों के आधार पर इन्हें दिल्ली सल्तनत काल का बताया जा सकता है।

सल्तनत युग की प्रारम्भिक चित्रांकित हिन्दू-मुस्लिम पांडुलिपि अमीर खुसरो देहलवी की 'खम्सा' नामक पांडुलिपि के बिखरे हुए पृष्ठ हैं। इस पांडुलिपि के बीस पच्चीस बिखरे हुए पृष्ठ मिले हैं, जिनमें आड़े चित्र बनाये गये हैं। इनमें से दो चित्रांकित पृष्ठों को जो वाशिंगटन डी० सी० की कला-दीर्घा में रखे हुए हैं, 1961 ई० में रिचर्ड एटिंगहासिन द्वारा प्रकाशित किया गया। इसके बाद भी पाँडुलिपि के अनेक चित्रांकित पृष्ठों को प्रकाशित किया गया। इन चित्रों की शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये चौदहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और पन्द्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ के मामलुक चित्रों और ईरान की इंजु चित्र-कला शैली से मिलते-जुलते हैं। इन लघुचित्रों को रंगों के खुले प्रयोग और जिस उच्च कोटि की सफाई के साथ पूरा किया गया है उससे लगता है कि पांडुलिपि को शाही संरक्षण के अन्तर्गत तैयार किया गया होगा। एटिंग-हाउसन और फ़ाड़ ने पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण की आठ तिथि युक्त पांडुलिपियों और आठ अन्य पांडुलिपियों, तिथि-विहीन पृष्ठों एवं तीन तिथि-विहीन पांडुलिपियों की खोज की है। इनमें 1427 ई० का 'शाहनामा', 1338 ई० की 'मसनवी' की एक प्रति भी शामिल है, जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में संग्रहीत है। उनकी

शैली एक जैसी नहीं है पर ये सिराजी शैली के दक्षिण तैमूरी प्रादेशिक शैली के चित्रों से बहुत घनिष्ठ रूप से मिलते-जुलते हैं। साथ ही इसमें भारतीय मूल की शैली और मूर्ति-शिल्प सम्बन्धी विशेषताएं भी विद्यमान हैं।

मांडू, जौनपुर और बंगाल समूह

कुछ तिथि युक्त पांडुलिपियाँ मांडू और (दिल्ली) आगरा प्रदेशों से और हाल ही में एक पांडुलिपि बंगाल से प्राप्त हुई है। मांडू ने कम से कम चार अन्य अद्भुत पांडुलिपियों की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण और रोचक पांडुलिपि 'नियामतनामा' है जो पाकशास्त्र पर एक ग्रंथ है। दुर्भाग्य से इस ग्रंथ में तिथि नहीं दी गई है पर इतना निश्चित है कि इस पांडुलिपि को मांडू में चित्रांकित किया गया था। इस पाँडुलिपि की पुष्पिका में गयासुद्दीन खिल्जी के बेटे सुल्तान नासिरूद्दीन खिल्जी का उल्लेख है जिसमें व्यक्ति चित्रों (Portraits) को अनेक लघु चित्रों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। जैन लघुचित्र कला के क्षेत्र में मांडू एक बहुत व्यापक कलात्मक कला शैली के केन्द्र-बिन्दु या 'नियामतनामा' के चित्रांकनों से समकालीन ईरानी शैली के साथ इसके घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध होने और मालवा की इस चित्रकला शैली की विकसित एवं सुरूचिपूर्ण कलात्मक परम्परा का पता चलता है। इन चित्रों की रंग-योजना बड़ी चटकीली एवं जीवंत है। इन चित्रों में चित्रित बेल-बूटे बड़े समृद्ध और ताज़गी लिए हुए हैं और मानवीय आकृतियां बड़ी ही स्वाभाविक एवं सौष्ठवपूर्ण उन्मुक्तता लिये हैं। इसी प्रकार की प्रवृत्ति हमें 'फिताह्-उल-फुजाला' नामक एक अन्य पांडुलिपि में भी देखने को मिलती है। यह मांडू में तैयार किया दुर्लभ शब्दों का एक शब्दकोश है। 1502 ई० में हाजी महमूद नामक एक व्यक्ति द्वारा मांडू में चित्रांकित 'बोस्तान' पाडुलिपि में इससे सर्वथा भिन्न प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। इस पांडुलिपि के चित्र समकालीन ईरानी शैली से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं हैं। 'नियामतनामा' 'फिताह्-उल-फुआला' के दृष्टांत चित्रों की शैली इतनी भिन्न है कि इस तथ्य को स्वीकार करना कठिन हो जाता है कि ये सारे चित्र मांडू में चित्रित एक ही संरक्षण के अन्तर्गत बनाये गये होंगे। साइमन डिम्बी ने यांत्रिकी तरीकों का उल्लेख करने वाली एक अन्य पांडुलिपि 'अजैब-उस-सनाती' का उल्लेख किया है। इसे 1508 ई० में मांडू में चित्रित किया गया। इनकी अब्दुल्ला चगुताई ने जांच की थी। परन्तु 1976 ई० में कलात्मक वस्तुओं की नीलामी के समय ब्रिटिश संग्रहालय लदन द्वारा खरीद लिये जाने तक इसका कोई दर्शन भी नहीं कर पाया था। हाल ही में राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली द्वारा 'अनवार-ए-सुहेली' नामक पांडुलिपि को उपलब्ध किया गया है। इस पांडुलिपि को इसी समूह में शामिल किया जा

सकता है। इस ग्रंथ के लघुचित्र निम्नकोटि के हैं और 'नियामतनामा' की शैली से बहुत भिन्न हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें दिल्ली-आगरा प्रदेश के अर्धशाही समूह का बताया है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में जौनपुर समृद्ध साहित्यिक गति विधियों का केन्द्र बन गया। जौनपुर के शासकों ने कला, स्थापत्य और संगीत को समान मनोवेग से प्रोत्साहन प्रदान किया। इस नगर को दारू-उल-अमन अर्थात् शरण-स्थली कहा जाने लगा। जहाँ कुतबन ने अवधी में सुल्तान हुसैन शाहशर्की (1458-1496) के शासनकाल में मृगावती नामक प्रण्य-काव्य की रचना की। हाल ही में 1501 ई० में जौनपुर में लिखी गई फारसी की एक पांडुलिपि का भी पता चला है। इसके लघु चित्रों में प्रांतीय ईरानी तरीके के कुछ प्रभावहीन रूपों को प्रदर्शित किया गया है। कुछ वर्षों पूर्व जौनपुर की एक अन्य पांडुलिपि के एक लघु चित्र को प्रकाशित किया गया है, पर इस पांडुलिपि की पुष्पिका को प्रकाशित नहीं किया गया। हाल के वर्षों में जिन पांडुलिपियों की खोज की गई है वे हैं— पश्चिमी जर्मनी की तुबिगेन स्टेट पुस्तकालय में संगृहीत 'हम्जनामा', विभिन्न यूरोपीय एवं अमरीकी कला संग्रहालयों में संग्रहीत 'खम्सा-ए-अमीर खुसरो' एक व्यक्तिगत अमरीकी कला संग्रह में संगृहीत 'सिकन्दरनामा-ई-बहरी', भारत कला भवन वाराणसी में संग्रहीत 'शाहनामा', एन. सी. मेहता कला-संग्रह में फारसी 'मसनवी' (अब यह पांडुलिपि अहमदाबाद संस्कृति केन्द्र में संग्रहीत है) तथा 'सिकन्दरनामा' की एक अन्य पांडुलिपि प्रति (इसके बारे में अब पता नहीं है कि यह कहां है)। इसी संदर्भ में हम आर. एटिंगहाउसेन और एल. फ्राड द्वारा प्रकाशित चित्रों का भी उल्लेख कर सकते हैं। संभव है कि ये चित्र आगरा-दिल्ली-जौनपुर प्रदेश में तैयार किये गए हों, पर इस बात की पुष्टि करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नही है।

अहमदाबाद भी समृद्ध साहित्यिक और स्थापत्तिय गति-विधियों का एक महान् केंद्र था। यह अनेक जैन पांडुलिपियों और 1451 ई० में लिखे गये बसंत विलास (जो अब फ्रीज कलादीर्घा मे संग्रहीत है) जैसे धर्म निरपेक्ष ग्रंथों की भी रचना हुई, परन्तु हमें अभी तक केवल एक चित्रांकित इस्लामी पांडुलिपि मिली है। यह 'अनवार-ए-सुहैली' सुहेली की दृष्टांत चित्रों से युक्त पांडुलिपि कृति है। यह एक बहुत परवर्ती युग की रचना है, इसकी पुष्पिका में अहमदाबाद नाम दिया गया है, जहां इसकी रचना की गई थी।

1978 ई० में राबर्ट स्कैलटन ने, जिन्होंने मांडू की एक प्रख्यात पांडुलिपि 'नियामतनामा' की खोज की थी और उसे प्रकाशित किया था, सल्तनत कालीन चित्रकला से सम्बन्धित एक अन्य उपयोगी सामग्री का प्रकाशन किया। यह थी 1531-32 में बंगाल के सुल्तान नुसरत शाह के निर्देश पर तैयार की गई

'शरफनामा' की पांडुलिपि। इसमें नौ दृष्टांत चित्र है। निजामी के 'सिकन्दर-नामा' की पांडुलिपि की शाही प्रति के मुख पृष्ठों को बड़े सुन्दर ढंग से दृष्टांत् चित्रों द्वारा सुसज्जित किया गया है और इसके सत्तर पृष्ठों और मूल पाठ को सुन्दर नस्ख लिपि शैली में लिखा गया है। स्कैलटन का विचार है कि 'मुगल संस्कृति द्वारा प्रांतीय साम्राज्यों पर अपने अवश्यंभावी प्रभाव का विस्तार करने से पूर्व की सल्तनतकालीन बंगाली कला का यह अन्तिम समृद्ध रूप है।' ये चित्र स्पष्टत: ईरानी कला के प्रति ऋणी प्रतीत होते हैं परन्तु फिर भी उनमें विशिष्ठ भारतीय विशेषताएं विद्यमान हैं। यद्यपि हमें पूर्वी भारत के प्रारम्भिक सल्तनकालीन चित्रकला की कोई विशेष जानकारी नहीं है फिर भी सिकन्दर-नामा के दृष्टांत चित्रों की सूक्ष्म जांच करने पर पता चलता है कि नुसरत शाह के शासन काल से पूर्व भारत में ईरानी चित्रकला के तत्त्वों को आत्मसात किया जा चुका था। परन्तु प्रस्तुत परिस्थितियों में यह कहना अनिश्चित् है कि यह प्रक्रिया बंगाल में प्रारम्भ हुई या सल्तनत कालीन किसी अन्य राज दरबार में।

लौर-चन्दा-चौर-पंचासिका समह्

पूर्वोक्त समूहों की चित्रांकित या सचित्र जैन एवं इस्लामी पांडुलिपियों में जो परिवर्तन परिलक्षित होते हैं उन्होंने धीरे-धीरे कलात्मक परम्पराओं का रूप ग्रहण कर लिया। आगे आने वाले दशकों में यह एक नवीन चित्रकला शैली के रूप में उदित हुई। इस तथ्य की पुष्टि पांडुलिपियों के एक उस समूह से होती है, जिसमें चटकीली एवं जीवंत रंग-योजना, बेल-बूटों और अलंकरण विधानों से युक्त शान्त तथा परिष्कृत रूप में लघुचित्र विद्यमान हैं। इस विशेष समूह को सामान्यत: 'लौरचन्दा' और 'पंचासिका' समूह कहा जाता है, इसमें अनेक पांडु-लिपियों और उनके विविध प्रकार के बिखरे हुए पृष्ठ शामिल है, जैसे— बम्बई की ऐशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में संग्रहीत 'लौर चन्दा' की एक पांडुलिपि इसी चित्रकला समूह में लाहौर और चंडीगढ़ के संग्रहालयों में संग्रहीत 'लौर-चन्दा' की एक अन्य पांडुलिपि के बिखरे पृष्ठ, एन. सी. मेहता संग्रह की 'चौर पंचासिका' पांडुलिपि (अब कल्चर सेन्टर, अहमदाबाद में संग्रहीत), प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई में 'गीत गोविन्द' के कुछ अंश, विभिन्न भारतीय तथा विदेशी संग्रहालयों में 'भागवत पुराण' की तीन भिन्न-भिन्न पांडुलिपियों के बिखरे पृष्ठ, 'रागमाला' के पृष्ठ जो पहले ही श्री विजयेन्द्र सूरी के संग्रह में थे, भारत कला भवन, वाराणसी में 'मृगावती' पांडुलिपि के कुछ पृष्ठ और श्री दिगम्बर जैन अतिसय क्षेत्र जयपुर में जैन ग्रंथ 'महा पुराण' भी शामिल है। इनमें से दो पांडुलिपियों में चित्रकारों के नामों एवं चित्रों के रचना-स्थान का उल्लेख करते हुए पुष्पिकाएं दी गई हैं। प्रथम पांडुलिपि को 1516 ई० में

आगरा के निकट एक स्थान में चित्रित किया गया और परवर्ती को 1540 ई० में दिल्ली के निकट पालम में। ये लिपियां हमें पूरे समूह को सोलहवीं शताब्दी के प्रथम मध्य भाग में रखने में हमारी मदद करती हैं और उत्तर भारत के अधिकांश लघुचित्रों को कुछ स्पष्ट प्रतिबन्धों सहित इसी युग में रखा जा सकता है।

पूर्वोक्त लघु चित्रों में सामान्यतः लाल और कुछ चित्रों में नीली, हरी और पीली पृष्ठभूमि है। ये बड़ी सादी रचनाएँ हैं जिनमें पतली कटि, उन्नत उरोज, तीखी नासिका, विशाल नेत्र और चौकोर चेहरे वाली महिलाओं को चित्रित किया गया है। इसमें स्थापत्य या वानस्पतिक चित्रण बहुत थोड़े हैं और पारंपरिक वृक्षों और पत्तियों से भरी हुई चट्टानों और नीली आभा स युक्त आकाश को प्रदर्शित किया गया है। अनेक चित्र ऐसे भी हैं जिनमें एक ऐसे आह्लाद-युक्त जीवन को प्रदर्शित किया गया है जो हमें पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के धार्मिक चित्रों से प्राप्त नहीं होता। इनमें चित्रित आकृतियों के हाव-भाव उन्मुक्त और अनगढ़ हैं। इन चित्रों की विषय-वस्तु भी विविधा पूर्ण और पूर्व स्थापित परंपराओं से युक्त है। कृष्ण गाथा जैसे लोकप्रिय विषयों, राग माला या लौर चंदा, चौर पंचासिका, मृगावती आदि लोकप्रिय कथानकों ने कलाकारों के लिए विचारों के नए द्वार खोल दिए हैं। इन लघु चित्रों ने राजस्थानी चित्रकला शैली की उत्पत्ति और विकास में योगदान दिया है। परन्तु मुगल चित्रकला की शैली की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में इनके योगदान का अभी भी मूल्यांकन नहीं हो सका है। भागवत् पुराण की तीन पांडुलिपियों और शिमला राज्य संग्रहालय में रखी हाल ही में प्राप्त देवी माहात्म्य की पांडुलिपि उस प्रचलित शैली की ओर हमारा निश्चित रूप से ध्यान दिलाती है, जिसके अन्तर्गत अकबर द्वारा नियुक्त कलाकार।वशाल चित्रशालाओं में वस्तुतः काम करते थे। ये पांडुलिपियां दिल्ली सल्तनत के अन्तिम वर्षो में कलात्मक प्रगति की भी सूचक हैं।[18]

बहुत से सुल्तानों ने हिन्दू-प्रथाओं को इसलिए भी जारी रखा कि राजनैतिक परिस्थियां ऐसा ही चाहती थी। शाहबुद्दीन ने अपने सिक्कों पर देवी लक्ष्मी के चित्रों को अंकित करना जारी रखा।[19]

जैसाकि इस्लाम सब धर्मों से नया धर्म था, इस धर्म में अन्य धर्मों से परिवर्तन करके लोग शामिल हुए थे और ये नये परिवर्तित लोग अपने धर्मों से विशेष विश्वास तथा सामान्य बातें अपने साथ लाए। उदाहरणार्थ यहूदी धर्म के प्रभाव के कारण मुहम्मद साहब तथा धार्मिक खलीफाओं के चित्र तथा चित्रकला के लिए सख्त मनाही थी। जब मुहम्मद साहब ने मक्का की अपनी विजय के बाद बहुत सी तस्वीरों को तोड़ा परन्तु ईसा मसीह और मेरी की एक तस्वीर को

काबा में रहने दिया। यह तस्वीर मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद 53 वर्ष तक यहां रही। बाद में खलीफाओं की आपसी फूट के कारण उसे तोड़ दिया गया। खलीफा उमर मानव आकृति पर मदीना की मस्जिद में सुगन्ध पैदा करने के लिए धूपदानी किया करता था। मुबिया और अब्द-अल-मलिक प्रारम्भिक दो खलीफा थे जो अपने सिक्कों पर अपनी तस्वीर छपवाया करते थे। आज भी ईरान और कुछ पश्चिमी अफ्रीकी देशों में भी मुहम्मद साहब की तस्वीरों पर रोक नहीं है।[20]

राय कृष्णदास के अनुसार इस काल में गढ़ मांडू (मालवा) के भवन भी चित्रित किये गये थे। वहाँ के गदाशाह के भवन में अवशिष्ट मेदनीराय और उनकी पत्नी के चित्र इसके साक्षी है। हाल में ही इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन के संग्रह से प्रसिद्ध विद्वान राबर्ट स्केलटन ने नियामतनामा नामक ग्रन्थ की एक सचित्र प्रति का आविष्कार किया है। यह प्रति 15 वीं शती के अन्तिम दशकों में सम्भवत: मांडू के सुल्तान ग्यासुद्दीन खिल्जी के लिए प्रस्तुत की गई थी। इसमें अनेक चित्र हैं जो भारतीय एवं तत्कालीन ईरानी शैलियों के मिश्रण से तैयार हुए। इनकी मुखाकृतियाँ वेश-भूषाओं एवं सम्पुन्जन में राजस्थानी शैली बीज रूप में वर्तमान है। चेहरे तो प्राय: सर्वत्र ही एकचस्मी हैं।

इसी के साथ-साथ अन्य सुल्तानों की छत्र-छाया में ईरानी शैली वाले चित्रण चल रहे थे। डा० एटिहाउसन ने ऐसे अनेक चित्रों का पता लगाया है। इनमें स्थान-स्थान पर भारतीय अभिप्राय है।

महमूद गजनवी के आदेश से जो काम बने या जिन पर उसकी दरबारी संस्कृति का प्रभाव है, उनमें भारतीय अपभ्रंश शैली का प्रभाव कुछ विशेष रूप में पाया जाता है; क्योंकि उस सम्राट के समाज में भारतीय कलाकार भी थे।

चित्रकला पर धार्मिक पाबन्दी होने पर भी सुल्तान अल्तमश का चाँदी का सिक्का जिसने उसे बंगाल-विजय के उपलक्ष्य में चलाया था। इस पर घोड़ा उतारते हुए उसकी बड़ी ही शानदार तसवीर बनी है। फिर यह भी मानने का पूरा कारण है कि प्रादेशिक सल्तनतों में, विशेषरूप से माँडू में कुछ सचित्र प्रतियाँ, 16 वीं शती के प्रारम्भ में तैयार हुई। ग्यासुद्दीन खिल्जी के साथ-साथ उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी नासिरशाह (1500-1510 ई०) के लिए बोस्ताँ की एक सचित्र प्रति तैयार की गई, जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में में उपलब्ध है। इसके चित्रों में भारतीयता का पुट कम है।[21]

मुद्रा मुस्लिम भारत में सजावट तथा स्थापत्य के अतिरिक्त केवल सिक्के ही कला का अन्य रूप थे। मुस्लिम सुल्तानों के सम्बन्ध में जानकारी के जितने भी असंदिग्ध तत्कालीन साधन उपलब्ध हैं और जिनसे हम कुछ सीखते हैं, उनमें सिक्कों का अत्यधिक महत्व है। उनकी डिजायनें, लिखावट, टकसाली चिन्ह

तथा उत्कीर्ण लेख आदि ऐसे साधन है जिनसे बहुत ही रोचक जानकारी प्राप्त होती है। सिक्के ढलवाना ब्रल्तानों का ही विशेषाधिकार था और वे ईर्ष्यापूर्वक उसकी रक्षा करते थे किन्तु उनके भद्दे-भौंडे होने के कारण जाली सिक्कों के बनने का भय सदैव ही बना रहता था। सुल्तान की उपाधियों, तारीख तथा टकसाल नाम आदि से हमें राज्य का विस्तार तथा सुल्तान की स्थिति तथा चरित्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात हो जाता। उदाहरण के लिए, मुहम्मद तुगलक के सिक्के दिल्ली, दौलताबाद तथा अनेक प्रान्तीय राजधानियों में ढाले गये थे और कम से कम पच्चीस भिन्न प्रकारों के थे। इनमें सांकेतिक मुद्रा के सिक्के भी सम्मिलित थे। उनमें दिए तथ्यों से इस शुद्रा प्रयोग की तिथि निश्चित होती है। आदर्श वाक्यों में 'ईश्वर के लिए युद्ध करने वाला,' 'जो सुल्तान की आज्ञा मानता है वह दयालु ईश्वर की आज्ञा पालन करता है' आदि सम्मिलित है और कुछ में सुल्तान के स्थान पर काहिरा के खलीफा का नाम खुदा हुआ मिलता है। कुछ सिक्कों पर देवनागरी में भी लेख अंकित है। इस्लाम के अपने को विजित देश की परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने के विषय में भी प्रारम्भिक सिक्के काफी प्रकाश डालते हैं। उदाहरण के लिए, मुहम्मद गौरी के सोने के सिक्कों "जो कन्नौज के हिन्दू राजाओं के सिक्को के नमूने पर ढाले गये थे और जिनके अग्रभाग पर देवी लक्ष्मी की प्रतिमा अंकित है, मैसूर के हैदरअली के सोने के सिक्कों को छोड़कर इस्लामी इतिहास में बेजोड़ हैं।" 'देहलीवाला' के सिक्के जिनके अग्रभाग पर कुब्बड़दार नादिया और देवनगरी में सुल्तान का नाम तथा उल्टीं ओर दिल्ली चौहानों के ढंग का अश्वारोही अंकित है, अलाउद्दीन मसूद के शासन काल (1241-46 ई०) तक चलते रहे। इस वर्ग के कुछ सिक्कों पर इल्तुतमिश के साथ नरवर के चाहड़देव का भी नाम जुड़ा है। एक विचित्र नमूना ऐसा है जिसके अग्रभाग पर मुहम्मद-बिन-साम का और उल्टी ओर पृथ्वीराज का नाम अंकित है।[22]

उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णयता स्पष्ट है कि सल्तनत काल में चित्रकला का पूर्णतया विनाश नहीं हुआ जैसे कुछ शासकों ने धर्मान्धता तथा रूढ़िवादिता के कारण इस कला के कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। फिर भी कुछ मुसलमान शासक सल्तनत काल में ऐसे हुए जिन्होंने चित्रकला को प्रोत्साहन देकर हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल दिया। इससे भी अधिक बल जब मिला जब मुस्लिम चित्रकारों ने हिन्दुओं की भांति अपने चित्रों की भावना को हिन्दू चित्रकारों की भावना 'प्रेम' को अपना आधार बनाया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण डलमऊ के मुल्ला दाऊद का "चन्दायन" है। सल्तनत काल में खिल्जी वंश अनेक रूढ़िवादिताओं से हठकर आगे आया था जैसे प्रशासन, कला, साहित्य। इसी प्रकार यह वंश चित्रकला के क्षेत्र में भी रूढ़िवादिता को छोड़कर आगे आया

और इस वंश के काल में सबसे अच्छे चित्रकला के नमूने बनाए गए जैसे, छताई वार्ता। सल्तनत काल में जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में बंगाल और जोनपुर अन्य राज्यों से रूढ़िवादिता से हटकर चले इसी प्रकार ये राज्य चित्रकला के क्षेत्र में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता को आगे बढ़ाते रहे।

संगीत और हिन्दू-मुस्लिम एकता

सदियों से भारतवर्ष अरब जगत के साथ सम्बन्धित रहा है। अरब के व्यापारी कराची के तट को स्पर्श करते हुए दक्षिण तक पहुँचते थे। तत्पश्चात् भारतवर्ष को पूरा चक्कर लगाते हुए वापस लौट जाया करते थे। 711 ई० में अरबों द्वारा सिंध के क्षेत्र पर पहला आक्रमण हुआ। इस युद्ध के पश्चात् मुहम्मद बिन कासिम ने ब्राह्मणों को उच्च पदों पर सुशोभित किया और कुछ अरबों ने सिंध की नारियों से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किए। फलस्वरूप वे लोग यहां पर स्थायी रूप से बस गए। इस कारण यहाँ की बहुत सी मुसलमान बस्तियाँ विद्या और संस्कृति का केन्द्र बन गई, जिनमें से मंसूरा, कुजदार, मुल्तान आदि का नाम उल्लेखनीय है। 753 ई० से 774 ई० के मध्य अरबों द्वारा "बृहत-सिद्धान्त" और खण्ड खाद्यक" जैसे ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। इन ग्रन्थों के अनुवाद से यह प्रतीत होता है कि अरब भारतीय ज्योतिष विज्ञान से प्रभावित रहे हैं। साथ ही साथ भारतीय गायकों, शिल्पियों और दार्शनिकों ने भी अरबों को कम प्रभावित नहीं किया। 868 ई० में एक अरब लेखक ने भारतीय संगीत की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और इकतारे (एकतन्त्री) पर इस लेखक का खासतौर पर ध्यान गया है।

11वीं और 12वीं शताब्दियों के तुर्की आक्रमणों से भारत की सांस्कृतिक परम्परा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। महमूद गजनवी यद्यपि मूलतः एक योद्धा एवं सेनानायक था, पर वह स्वयं कलाकारों और विद्वानों का आदर करता था और एशिया के विभिन्न प्रदेशों के विद्वान उसकी सभा में अपनी विद्वता का परिचय देकर सम्मान के भागी बनते थे। महमूद गजनवी युद्धों में व्यस्त होते हुए भी संगीत का प्रेमी रहा और उसके लिए समय भी निकालता रहा।

जैसी कि गयासुद्दीन तुगलक का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि मुसलमान शासक संगीत को धर्म के विरुद्ध समझते थे और शमा के लगाने के समय संत निजामुद्दीन औलिया जैसे महान् संत को संगीत का प्रयोग करने से वंचित करना चाहते थे, परन्तु किसी कारणवश वह ऐसा नहीं कर सके। धीरे-धीरे सुल्तान, अमीर और सरदारगण सुरा और सुन्दरी प्रिय होने से संगीत और नृत्य-प्रिय हो गए और सुरा और सुन्दरी वेश्यावृति से सम्बन्धित हो गई। धीरे-

धीरे संगीत और नृत्य वेश्याओं का व्यवसाय हो गया । और इससे यह जनसाधारण की दृष्टि में निन्दनीय और हेय हो गया परन्तु हिन्दू और सूफी संतों के भजन, गीत, पद अधिक प्रचलित रहे । इससे धार्मिक क्षेत्र में संगीत और कीर्तन, गीतों और भजनों का प्रचार अधिक बढ़ा । नृत्य और संगीत में हिन्दू-मुस्लिम संगीतज्ञों ने एक-दूसरे की शैली अपनाई और उससे नवीन पद्धति का निर्माण हुआ । वाद्य-यन्त्रों और विभिन्न रागों में इसके उदाहरण हैं । तबला और सारंगी-वाद्य-यन्त्र इस समन्वय के उदाहरण हैं ।[23]

14वीं शताब्दी के अन्त तक यद्यपि हिन्दू दार्शनिक विचारों तथा सिद्धान्तों का मुस्लिम मस्तिष्क पर कम प्रभाव पड़ा था, परन्तु हिन्दी गीतों (भक्ति गीत) और उनके कहने के ढंग ने, सूफी-सन्तों को ही नहीं, बल्कि हिन्दू और मुसलमानों को निकट ला दिया । 'सियार-अल-औलिया' तथा 'जवामी-अल-कलीम' में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें हिन्दी गीत मुसलमानों में विभोरता की भावनाएँ लाये । शेख निजामुद्दीन औलिया संगीत से बहुत उत्तेजित हो उठते थे । कभी-कभी हिन्दी संगीत उन्हें उत्तेजित कर देते थे जबकि फारसी की गजल उन पर कोई प्रभाव नहीं डालती थी । 'जवामी-अल-कलीम' में एक वार्तालाप है जिससे पता चलता है कि गेसूदराज के समय में भारतीय संगीत का अध्ययन किया जाने लगा था और हिन्दी के भक्ति-गीतों ने शमा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था ।[24]

आचार्य बृहस्पति के अनुसार संगीत की ग्राह्यता अथवा त्याज्यता के विषय में भले ही मौलवियों और सूफियों में मतभेद रहा हो, मुस्लिम नरेश प्रायः संगीतानुरागी रहे हैं । विजित राजाओं की रानियों, राजपुत्रियों और दासियों को अपनी सम्पत्ति समझने का अधिकार इस्लाम ने मुस्लिम नरेशों को दिया था, अतः संगीत उनके जीवन मे रच गया था ।

सैनिक अभियानों के समय भी मनोरंजन के लिए गायक और संगीतकला-कुशल दासियाँ सेना के साथ चलती थीं ।

मुसलमानों की दृष्टि में संगीत 'गणित शास्त्र' की एक शाखा है, दर्शन और गणित के विद्वानों को संगीत का ज्ञान अनिवार्य रूपेण होता था । 'हकीम' शब्द का अर्थ 'सकल कला निष्णात्' आचार्य है ।

सल्तनत काल के कुछ मुस्लिम नरेशों के संगीतानुराग के विषय में संक्षिप्त चर्चा इस प्रकार है—

महमूद ग़जनवी (मृत्यु 1030 ई०)

महमूद गजनवी के मन में विद्वानों और कवियों के प्रति अत्यन्त आदर भाव था । उनके शास्त्रार्थों को वह ध्यानपूर्वक सुनता था । एशिया के कोने-कोने से उसकी सभा में विद्वान आते रहते थे ।

गणित, दर्शन तथा ज्योतिष का महाविद्वान् अल-बेरूनी, इतिहासकार उतर्वा, दर्शन तथा संगीत का प्रसिद्ध विद्वान् फ़रावी, 'तारीखे़ सुबुक्तगीन' का लेखक बैहाकी तथा शाहनामा का लेखक महाकवि फ़िरदौसी महमूद गजनवी के आश्रित थे।

महमूद ग़ज़नवी युद्ध की विभीषिका में भी सुमधुर संगीत अथवा कविता सुनने के लिए समय निकाल लेता था।

संगीत के सम्बन्ध में महमूद ग़ज़नवी के उत्तराधिकारी सुल्तान भी प्रायः यही दृष्टिकोण रखते थे।

मुहम्मद गौरी

मुहम्मद गौरी के प्रबल समर्थक और भारत में सूफ़ियों की चिश्ती परम्परा के आदिम प्रवर्तक ख्वाजा मुईजुद्दीन चिश्ती अजमेरी (मृत्यु 1235 ई०) परम संगीतानुरागी थे, अतः मुहम्मद गौरी का संगीतानुराग स्वयंसिद्ध है। वह विद्वानों का आदर करता था।

कुतबुद्दीन ऐबक़

कुतबुद्दीन ऐबक़ के पीर कुतबुद्दीन बख्तयार काकी थे, इनका स्वर्गवास हज़रत अहमद जन्म का एक शेर सुनते-सुनते हुआ। शेर है—

"कुश्तगाने खज़रे तस्लीमरा, हर जर्मा अज़ ग़ैब जाने दीगर अस्त।"

अर्थात्—"जो ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण और विनय की तलवार से भस्मसात् हो चुके हैं, उन्हें प्रतिक्षण परोक्ष से एक जीवन मिलता रहता है।"

ख़्वाजा बख़्तयार काकी चार दिन तक निरन्तर यह शेर सुनते रहे थे। रसमग्न अवस्था में ही उनका स्वर्गवास हुआ।

स्पष्ट है कि ऐबक़ भी अपने पीर से प्रभावित रहा।

ऐबक़ के सेनापति मुहम्मद बख़्तयार ने बंगाल और बिहार पर अधिकार किया। लखनौती और आसपास के प्रदेशों में उसके अमीरों ने मस्जिदों, मदरसों और खानक़ाहों की स्थापना कर दी। ये खानक़ाह चिश्तियों और क़व्वालों के गढ़ थे।

शम्सुद्दीन इल्तुतमिश

यह भी ख़्वाजा बख़्तयार काकी का भक्त और मुरीद था। शेख मुईजुद्दीन चिश्ती के मुरीद क़ाजी हमीदुद्दीन नागौरी इसके युग में दिल्ली आये। (इनका वास्तविक नाम शेख मुहम्मद इब्नेअता था। ये मुहम्मद ग़ौरी के ज़माने में बुखारा से आये और नागौर के क़ाजी बना दिये थे।) वे रात-दिन संगीत सुनते और

मस्त रहते थे। न्याय-विभाग के दो अधिकारियों, साद और एमाद के साथ संगीत के औचित्य के विषय में काज़ी हमीदुद्दीन नागौरी ने शास्त्रार्थ किया। अपने क़व्वाल महमूद से ग़ज़लें सुनवाईं और इतने भाव-मग्न हो गये कि उन्हें काँटों और अंगारों का पता ही न चला, जो साद और एमाद ने परीक्षा के लिए उनके पैरों के नीचे बिछवा दिये थे। क़ाज़ी नागौरी उन काँटों और अंगारों पर ही नाचते रहे।

यह घटना शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के संगीतानुराग को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के राज्यकाल में ही कश्मीरी आचार्य शार्ङ्गदेव ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संगीत-रत्नाकर' देवगिरि के यादव-वंशीय राजा के आश्रय में रहकर लिखा, जो सर्वथा स्वतन्त्र था।

शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों पर भी चिश्ती-परम्परा का प्रभाव था।

कुतबद्दीन बख़्तयार काकी के खलीफ़ा बाबा फरीदुद्दीन गंजशकर का स्वर्ग-वास 1256 ई० में हुआ था।

रज़िया

रज़िया गुलाम वंश के सुल्तान अल्तमश की बेटी थी। वह विद्वानों, कवियों और संगीतज्ञों का आदर करती थी। उसके दरबार में अनेक श्रेष्ठ संगीतज्ञ रहते थे। संगीत की वह महान् प्रेमिका थी। उसके समय में देश के अन्दर संगीत का खूब प्रचार हुआ। वह स्वयं भी गाना सुनती थी और गाना पसन्द आने पर पुरस्कार भी देती थी। उसके दरबार में नृत्यों का क्रम खूब चलता था। उसे भारतीय संस्कृति से बड़ा प्रेम था। कुछ विद्वानों का तो यह भी विचार है कि वह स्वयं गाती भी थी।

रज़िया मुसलमान होते हुए भी भारतीय संस्कृति से प्रेम करती थी। उसने कभी भी भेदभाव की नीति को नहीं अपनाया। उसके दरबार में हिन्दू-मुसलमान दोनों वर्गों के कलाकार रहते थे। सुप्रसिद्ध इतिहासकार गमालो कासी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्द ये ताकूल' (भारत की सांस्कृतिक परम्परा) में लिखा है-- "रज़िया ने जिस योग्यता से शासन चलाया, वैसी मिसाल विश्व के इतिहास में नहीं मिल सकती। वह एक स्वाभिमानी नारी थी। उसके अन्दर मानवता का प्रेम कूट-कूटकर भरा हुआ था। लोगों ने उसको समझ नहीं पाया। वह भारत की प्रथम महिला थी जिसने राजसिंहासन पर बैठकर मानव-विकास के लिए कदम बढ़ाया हो। उसको संगीत से बड़ा प्रेम था। उसके दरबार में अनेक संगीतज्ञ एवं कवि रहा करते थे। उसको यदि वक्त मिलता तो वह अवश्य भारतीय

संगीत की धारा को परिवर्तित करके नवीन रूप देती। पर ऐसा करने के लिए उसे अवसर नहीं मिला। पर वह यह अच्छी तरह जानती थी कि कला का जीवन में कितना महत्त्व है। वह जीवन को कला से दूर नहीं समझती थी। उसको हम इस डगमगाते युग के संगीत की रीढ़ की हड्डी कह सकते है, क्योंकि वह संगीत को संरक्षण न देती तो इस काल में सगीत नष्ट हो गया होता ?"[24]

ग़यासुद्दीन बलबन (रा० का० 1266-1287 ई०)

ग़यासुद्दीन बलबन की सभाओं में संगीत होता था। बलबन के पुत्र मुहम्मद ने शेख उस्मान तथा शेख बहाउद्दीन जकरिया के पुत्र शेख क़दवा को अपनी सभा में बुलाकर सूफियों की संगीत-गोष्ठी आयोजित कराई, जिसमें अरबी ग़ज़लें गाई गईं। वे और दूसरे दरवेश मस्ती में नाचने लगे। जब तक 'समा' होता रहा मुहम्मद हाथ बाँधे खड़ा रहा और फूट-फूटकर रोता रहा था।

बलबन का दूसरा पुत्र महमूद (बुग़रा खाँ) भी संगीत और नृत्य का परम रसिक था।

कैकुबाद (1287-1290 ई०)

कैकुबाद के युग में प्रत्येक गली में सुमधुर ग़ज़ल-गायक उत्पन्न हो गये। गायकों और सुन्दरियों के भाग्य जाग गये। देश के चारों ओर से रमणियां, चारण, विदूषक और भाँड़ दरबार में पहुँचने लगे।

उसके युग में वृद्धा वेश्याओं ने अपनी पुत्रियों तथा अन्य युवतियों को गाना-बजाना, नाचना, ग़ज़ल पढ़ना, शतरंज और चौसर खेलना सिखाया। उन्हें घुड़सवारी, गेंद खेलने और भाला फेंकने की भी शिक्षा दी गई। राजदरबार में उठने-बैठने के नियम भी सिखाये गये।

कैकुबाद की प्रशसा में ग़ज़ल, कौल; हुव तथा कीलानी लिखे गये। उसके दरबार में दक्ष गायक फ़ारसी एवं हिन्दी गाने गाते थे।

कैकुबाद के दरबार में गायकों के समूह अवध से पहुँचते थे, उन्हें सम्पत्ति से लाद दिया जाता था। कैकुबाद का एक अमीर मलिक निजामुद्दीन विद्वानों, वैद्यों, ज्योतिषियों और क़व्वालों को दान-दक्षिणा देता था।

जलालुद्दीन खिल्जी (1290-1296)

जलालुद्दीन खिल्जी के भोग-विलास की महफिलों में अद्वितीय नदीम (वन्दीजन), सुन्दर मधुबालाएँ और युवतियाँ एकत्र हो गई थीं।

उसके गायकों में मुहम्मद सना चंगी ढोल बजाता, फ़क़ाई की पुत्री फ़ुतूहा और नुसरत खातून गाना गाती थीं।

दख़्तर ख़ासा, नुसरत बीबी और मेहर अफ़रोज के हाव-भाव और कटाक्ष

साक्षात् मोहन-मन्त्र थे।

अमीर खुसरो अपनी ग़ज़लों में इन सुन्दरियों और सुन्दर किशोरों के रूप और छवि का वर्णन करते थे।[25]

सुल्तान जलालुद्दीन खिल्जी को संगीत से बड़ा प्रेम था और वह कलाकारों को आश्रय देता था। वह कविता भी कर सकता था और ग़ज़ल तथा दुबैती (एक प्रकार की कविता) लिख सकता था। उसके संगीत कला से प्रेम का इससे स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है कि अमीर खुसरो जो कि प्राचीन तथा अपने समकालीन कवियों में सर्वश्रेष्ठ था, उसका उसी समय से कृपापात्र था जबकि सुल्तान अजंमयालिक था। सुल्तान उसका बड़ा आदर करता था। एक हज़ार दो सौ तनके जो कि अमीर खुसरो के पिता का वेतन था वही उसको भी मिलता था।[26]

अलाउद्दीन खिल्जी (1296-1316)

प्रसिद्ध इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी ने 'तारीखे फिरोजशाही' में कहा है कि अलाउद्दीन की प्रत्येक सफलता के मूल में शेख निज़ामुद्दीन चिश्ती का अनुग्रह था। शेख साहब का संगीतानुराग प्रसिद्ध है।

अलाउद्दीन के राज्यकाल में शेख फ़रीदुद्दीन के उर्स के समय होने वाली सूफ़ियों की सगीत-गोष्ठी में भारत के विभिन्न प्रदेशों से असंख्य व्यक्ति आते थे।

मौलाना हमीदुद्दीन, मौलाना लतीफ़, उनके पुत्र अल्ताफ़ और मुहम्मद अच्छे गायक थे। ग़ज़ल गायकों में महमूद, मुहम्मद और ईसा खुदादी अद्वितीय थे। इस युग में कव्वाल भी अनेक थे।

गुजरात की राजकुमारी देवल देवी के साथ अलाउद्दीन के पुत्र खिज्र खाँ के विवाह की तैयारियाँ तीन वर्ष तक होती रहीं थीं। इस समय देवगिरि के कलाकार दिल्ली पहुँचे थे, उनमें अनेक गायिकाएं और नर्तकियाँ भी थीं। इनकी कला के प्रदर्शन निरन्तर हुए, इनके साथ भारतीय वाद्य भी थे।

सम्भवतः इसी अवसर पर गोपाल नायक भी दिल्ली पहुँचे। गोपाल नायक का एक ध्रुवपद उपलब्ध है, जिसमें अलाउद्दीन के प्रताप का वर्णन है।

अलाउद्दीन के युग में ही गुजरात की एक सुन्दर संगीतजीवी जाति 'बरवार' के असंख्य नर-नारी दिल्ली में बस गये थे और इनकी पहुँच अन्तःपुर तक थी।[27]

"अलाई राज्यकाल के प्रथम दस वर्षों में मुकरियों (अच्छे स्वर में कविता पढ़ने वाले) में से सबसे प्रसिद्ध मौलाना मसऊद मुकरी के पुत्र मौलाना लतीफ तथा मौलाना हमीदुद्दीन थे। अन्तिम दस वर्षों में मौलाना लतीफ के पुत्र अल्ताफ़ तथा मुहम्मद हुए हैं। उपर्युक्त चारों मुकरियों के मधुर स्वर के प्राण शरीर के

बाहर निकल आते थे। किसी मनचले में उनकी आवाज को सुनने की शक्ति न थी। जिस महफिल में भी उपर्यक्त मुकरी गाना गाते थे, उस महफिल की शोभा सौ गुनी बढ़ जाती थी। उनके उपरान्त इस प्रकार के मधुर स्वर वाले, रूपवान तथा महफिलों की शोभा बढ़ाने वाले, गवैये और चुटकले बाज समय की आँखों ने न देखे।

अलाई राज्यकाल में अनेक विचित्र ग़ज़लें गाने वाले भी थे। मुझे विश्वास है कि मुहम्मद बिन सिक्का ईसूनशिया, मुहम्मद मुकरी और ईसा खुदादी मिजमारी (बाँसुरी बजाने वाले) के गलों में भगवान ने दाऊद (दाऊद एक पैगम्बर हुए है जिनके लिए प्रसिद्ध है कि उनका स्वर बड़ा अच्छा था) का स्वर पैदा कर दिया था। जिन लोगों ने उन ग़ज़ल गायकों की ग़ज़लें सुन ली थीं, उन्हें भली-भाँति ज्ञात है कि इस प्रकार के ग़ज़ल गाने वाले न तो इससे पूर्व हो सके हैं और न ही हो सकेंगे। अलाउद्दीन राज्यकाल के अन्य कलाकार-कव्वाल गायक, चंग (डफ के आकार का एक छोटा बाजा), रबाब (सारंगी जैसा एक बाजा), कमान्या (एक प्रकार की वीणा) तथा नौबत (शहनाई) बजाने वाले जितने योग्य अलाई राज्यकाल में थे, उतने योग्य किसी अन्य समय में न थे। प्रत्येक कला के कलाकार भी अलाई राज्यकाल में भरे पड़े थे।

(सै० अतहर अब्बास रिजवी की 'खिल्जी कालीन भारत' से।[28]

अलाउद्दीन खिल्जी एक वीर योद्धा ही नहीं था, वह बड़ा संगीत-प्रेमी भी था। उसने संगीत का प्रचार एवं प्रसार करने में बड़ा योगदान दिया। उसके ही दरबार में फारसी कवि और संगीतज्ञ अमीर खुसरो ने समृद्धि पाई। अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। उसने ही सर्वप्रथम भारतीय संगीत में कव्वाली रीति को प्रविष्ट किया। साथ-ही-साथ कई प्रकार के आधुनिक राग 'लिलफ', 'साजगिरि', 'सरपदा' आदि को प्रचलित करने का श्रेय उसे ही प्राप्त है। उसकी विलक्षण प्रतिभा की कई दिलचस्प कहानियाँ प्रचलित हैं जिनमें एक का कुछ ऐतिहासिक महत्व भी है, जो उसके और दक्षिणी संगीतज्ञ गोपाल नायक के संगीतिक प्रतियोगिता एवं नायक की हार से सम्बन्धित है।

अलाउद्दीन खिल्जी के सगीत-प्रेम से सम्बन्धित घटना के सम्बन्ध में राजा सर एस० एम० ठाकुर ने अपनी पुस्तक 'History of universal music' में पृष्ठ 54 पर लिखा है "उस काल के मुसलमान ऐतिहासिकों ने लिखा है कि ढाका पर सन् 1294 ई० में अलाद्दीन का आक्रमण हुआ तथा सन् 1310 ई० में मुसलमान सेनापति मलिक काफूर के द्वारा दक्षिण की विजय का कार्य पूरा हुआ, उस समय संगीत की इतनी उन्नत अवस्था थी कि सब संगीतज्ञों और उनके हिन्दू गुरुओं को शाही सेना के साथ लाकर उत्तर में बसाया गया।"

अमीर खुसरो और गोपाल नायक के बीच जो संगीत-द्वन्द्व हुआ उसके बारे में कैप्टन विलर्ड लिखते हैं—

"ऐसा कहा जाता है कि जब गोपाल दिल्ली के दरबार में आया तो उसने उस श्रेणी का मान किया, जिसे 'गीत' कहते हैं। उसके समान योग्य पंडित के शक्तिशाली तथा सुमधुर कण्ठ के योग से उस शैली का सौन्दर्य निखर उठा। इस पर बादशाह ने अमीर खुसरो को अपने सिंहासन के नीचे छिपकर रहने का आदेश दिया, जहाँ से अदृश्य रूप में रहकर वह उस संगीतज्ञ को सुन सके। अमीर खुसरो ने उसकी शैली को याद रखने का प्रयत्न किया और एक दिन गोपाल नायक को आश्चर्य-चकित करता हुआ उस शैली की नकल से उसने कव्वाली एवं तराना गाया। इस प्रकार शठतापूर्वक उसे प्राप्त सम्मान के एक अंश से वंचित कर दिया।" (पृष्ठ 160 Treatise on the Music of Hindustan)।[29]

मुस्लिम सूफी-सन्तों ने भी मध्यकालीन संगीत के विकास में बहुमूल्य योगदान दिया। इन सूफी साधकों ने संगीत का एक खास ढंग से प्रचार किया है। सल्तनत काल भारतीय संगीत के इतिहास में अभिनव प्रयोगों का युग था। इस काल में नवीन वाद्यों, गायन-पद्धतियों एवं रागों आदि का आविष्कार हुआ। मध्यकालीन संगीत परम्परा के आदि संस्थापक कवि, इतिहासकार एवं दार्शनिक अमीर खुसरो थे।

अमीर खुसरो को संगीत तथा भाषा दोनों का पूर्ण ज्ञान था। इस काल में ध्रुपद गायन शैली प्रचलित नहीं हुई थी। जाति गायन की ही प्रथा थी और मूर्च्छना-पद्धति के आधार पर जाति गायन हुआ करता था या लोक-संगीत के नाम से कुछ धुनें गाई-बजाई जाती थीं। अमीर खुसरो दक्षिण के संगीतकारों के भी सम्पर्क में आये। दक्षिण की विजय के बाद अलाऊद्दीन खिलजी के दरबार में दक्षिण के संगीतज्ञ गोपाल नायक को भी उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया गया था। तत्पश्चात अमीर खुसरो एवं गोपाल नायक के मध्य संगीत प्रतियोगिता के आयोजन का उल्लेख मिलता है।

अमीर खुसरो का जन्म 1253 ई० में उत्तर प्रदेश के एटा जिले के निकट स्थित पटियाली ग्राम में हुआ था। इनकी पितृ-परम्परा तुर्क और मातृ परम्परा बृजवासी थी। खुसरो जैसे विद्वान ने भारतीय संगीत के बारे में विचार व्यक्त करते हुए कहा है—"यहाँ का संगीत मनुष्यों को नहीं, पशुओं तक को प्रभावित कर लेता है। भारतीय संगीत से हरिण कृत्रिम निद्रा में निमग्न होकर शिकारी का शिकार बन जाते हैं। यदि कोई अरब संगीत से भारतीय संगीत की तुलना करें तो मैं कहूँगा कि संगीत के सहारे यात्रा करने वाले ऊँट को चलने का तो होश रहता है, परन्तु भारतीय संगीत के द्वारा मोहित हरिण तो सर्वथा चेतना-

हीन हो जाते हैं।"

अमीर खुसरो भारतीय संगीत से बहुत अधिक प्रभावित थे और उन्होंने उनमें अनेक रागों तथा तालों की भी वृद्धि की। उन्होंने यह कार्य ईरानी और भारतीय संगीत के मिश्रण से किया था। खुसरो ने भारतीय रागों का वर्गीकरण संगीत में प्रयुक्त होने वाले बारह स्वरों के ईरानी नामों के आधार पर किया जो क्रमशः इस प्रकार है, रास्त, शहनाज, ढोका, कुर्द सीका, हिजाज, नवा, हिसार, हुसैनी, अगन और नीम माहुर।[30]

पुरानी प्रथाएँ अमीर खुसरो को संगीत में नए आन्दोलन का प्रमुख बनाती हैं। उनके लेखों से यह सिद्ध होता है कि वे फारस से क्या लाए और क्या भारतीय था। वे संगीत प्रतियोगिताओं में भाग लेते थे, जो उन दिनो प्रचलित थी। फकीर उल्लाह के राग दर्पण (Ragdarpan) में उन ढंगों का जिक्र है जिनका जन्मदाता अमीर खुसरो था। इस बात में बहुत कम संदेह है कि प्रसिद्ध आनन्दमय 'कव्वाल और गजल' की शुरुआत अमीर खुसरो ने की थी। वे भारतीय संगीत में 'ख्याल' के जन्मदाता भी थे। जो बाद में जौनपुर के राजदरबार में विकसित हुआ। ऐसा भी कहा जाता है कि 'सितार की खोज भी अमीर खुसरो ने ही की थी।[31]

अमीर खुसरो स्वयं एक बहुत बड़े संगीतकार थे। उन्होंने भारतीय धुनो के लिए न केवल कुछ कविताएँ लिखी बल्कि कुछ रागों की भी खोज की।[32]

अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत पर अमिट छाप छोड़ी है। ऐसा प्रचलित है कि उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय संगीत में कव्वाली गायन को प्रचलित किया। साथ ही साथ उन्हें कई प्रकार के आधुनिक रागों जैसे "तिलक", "साजगिरी" "सरपादा" आदि को प्रचलित करने का श्रेय भी प्राप्त है।

वर्तमान युग में वीणाओं के विभिन्न प्रकारों मे से सर्वाधिक लोकप्रिय वाद्य सितार है और उसके साथ लय और ताल की संगति करने वाला अवनद्ध वाद्य "तबला" है किन्तु इन दोनों के आविष्कार के बारे में मतभेद है। कुछ विद्वान इसके आविष्कारक अलाउद्दीन खिल्जी कालीन अमीर खुसरो को मानते हैं। इसके विपरीत कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार इसका अट्ठारहवीं शताब्दी में आविष्कार हुआ।

1296 ई० में गुजरात की विजय के उपरान्त अनहिलवाड़ा की रानी कमला देवी को दिल्ली लाया गया जो शीघ्र ही अलाउद्दीन के हरम का अप्रतिम रत्न बन गई। इसके बाद गुजरात के राजा ने अपनी पुत्री देवलदेवी सहित देवगिरि में जाकर शरण ले ली। इसी आक्रमण में परवार (बरवार) नामक जाति के लोग (जो गा बजाकर आजीविका अर्जित करते थे) बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिए गए। कुछ समय बाद ही अपने रूप और गुण के कारण दिल्ली

दरबार में उनका तेजी से प्रभाव बढ़ने लगा। दक्षिण भारत की विजय के दौरान गुजरात की रानी कमला देवी की पुत्री देवलदेवी को भी पकड़कर दिल्ली लाया गया और उसका विवाह अलाउद्दीन के लड़के खिज्र खाँ से कर दिया गया। संभवत: इसी समय दक्षिण के प्रसिद्ध गायक गोपाल नायक का भी दिल्ली आगमन हुआ।

अमीर खुसरो के संगीत की ख्याति का सुदूर दक्षिण तक विस्तार हुआ। कहा जाता है कि बहमनी सुल्तान मुहम्मद शाह प्रथम ने दिल्ली के गायकों से खुसरो की कृतियाँ सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की और विजयनगर के शासक बुक्का को आदेश भेजा कि गायकों को पुरस्कार विजयनगर कोष से दिया जाय।

मुबारक शाह खिल्जी (1316-1320 ई०)

मुबारक खिल्जी संगीत मर्मज्ञ बादशाह था। बरवार नामक एक सुन्दर संगीतजीवी-जाति का एक नौ-मुस्लिम नवयुवक खुसरो खाँ इसका कृपापात्र था। 'तारीखे फ़िरोजशाही' के अनुसार यह नारी वेश में जनता के सामने आ जाता था। इसका कार्य संगीत और नृत्य मे मग्न रहना था।[33]

खिल्जी युग में संगीत के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और भारतीय संगीत को एक नवीन वातावरण में से होकर चलना पड़ा।

इसी शताब्दी में मुसलमान फ़कीर निजामुद्दीन औलिया हो गया है, जो संगीत का बड़ा प्रेमी था और जिसने संगीत-प्रचार में बड़ा योग दिया।[34]

गयासुद्दीन तुगलक (1320-1325 ई०)

इसकी माँ जाटनी थी और पिता तुर्क। यह भोग-विलास से दूर था। सूफ़ियों के द्वारा सुने जाने वाले संगीन की वैधता के विषय में इसकी सभा में एक शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें 'समा' की वैधता को शेखजादा हुस्सामुद्दीन ने चुनौती दी और समा' की वैधता के पक्ष का समर्थन शेख निजामुद्दीन औलिया ने किया था। शेख़ बहाउद्दीन जकारिया के पोते मौलाना इल्मुद्दीन ने निजामुद्दीन औलिया के पक्ष में व्यवस्था देते हुए कहा था कि अन्य मुस्लिम देशों में भी सूफी-वाद्यों के साथ 'समा' सुनते हैं। शेख जुनैद बगदादी (मृ० 911 ई०) तथा शेख अबू बक्र शिबली (मृ० 946 ई०) के युग से सूफ़ी 'समा' सुनते आए हैं। यह व्यवस्था सुनकर ग़यासुद्दीन तुगलक ने 'समा' सुनने के विरुद्ध कोई आदेश न दिया।

मुहम्मद तुगलक (1325-1351 ई०)

यह शेख निजामुद्दीन औलिया का परम भक्त था और इसने शेख साहब के जनाजे को कंधा दिया था।

मुहम्मद तुगलक के दरबार में 1200 गवैये ऐसे थे, जो गान-विद्या भी सिखाते थे। दास गायक एक सहस्र थे। अरबी, फ़ारसी और हिन्दी के एक सहस्र कवि थे। सुल्तान के गायकों में से यदि कोई अन्यत्र गा देता, तो प्राण-दण्ड का भागी होता था।

जब सुल्तान महल में होता या यात्रा पर होता, तब दो सौ नक्कारे, चालीस बड़े तम्बूरे, बीस बड़ी दुन्दुभियाँ और दस बड़े झांझ बजते थे।

सेना के साथ ढोल, नफ़ीरी तथा सरना भी होती थीं। संगीतिज्ञों, वादकों और नर्तकों के अतिरिक्त सुल्तान के सामने कोई भी सवार होकर नहीं चल सकता था।

ईद के दरबार में उस वर्ष हारे हुए राजाओं की वन्दी बनाई राजकुमारियाँ गातीं और नाचती थीं और तत्पश्चात् वे मुख्य अमीरों या परदेशियों को बाँट दी जाती थीं।[35]

मुहम्मद तुगलक संगीत प्रेमी था। इसके समय में संगीत का विकास हुआ। इसका साम्राज्य सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैला हुआ था और दक्षिण में द्वार-समुद्र तथा पूर्व में बंगाल से पश्चिम में सिन्ध तक फैला हुआ था। राज्य 23 सूबों में विभक्त था। इन 23 सूबों के कलाकार कभी एक साथ मिल नहीं पाते थे क्योंकि राज्य की ओर से कोई भी ऐसा प्रयत्न नही हुआ। हाँ, प्रान्तीय संगीत समारोह तो बराबर चला करते थे, जिनमें संगीत प्रदर्शन के अतिरिक्त संगीत विषय पर विवेचन भी हुआ करता था। इन सम्मेलनों में मुसलमान और हिन्दू सब एक साथ मिलकर अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। कला के क्षेत्र में जातीयता की भावना पैदा न हो पाती थी। धार्मिक उभार भी कला के क्षेत्र में ऊँचा न उठ पाता था। हिन्दू-मुस्लिम कलाकार सभी मिलकर एक साथ कला के विकास में योगदान करते थे।

इस काल में संगीत को राजाश्रय न मिल सका, लेकिन फिर भी दरबारी आयोजनों मे संगीत का क्रम चला करता था। मुस्लिम नारियाँ भी संगीत प्रिय होती थीं। लेकिन वे सार्वजनिक संगीत समारोहों में भाग न ले पाती थीं, क्योंकि पर्दे की प्रथा भारतवर्ष में प्रारम्भ हो गई थी। इस प्रथा ने भारतीय नारियों की स्वतन्त्रता में रुकावट डाली। अतएव इस काल में भारतीय नारियों का संगीत-विकास एकदम रुक गया। नारियों को संगीत-शिक्षा देना कोई आवश्यक न समझा गया, पर जन साधारण में संगीत का छोटा दौर चलता रहा। नृत्य और गायन में आम जनता अधिक दिलचस्पी लिया करती थी।

विख्यात इतिहासकार केल डास्टी ने अपनी पुस्तक "The Indian music of Muslim Period" के पृष्ठ 50 पर लिखा है—"तुगलक काल में ही संगीत का विकास बहुत ही न्यून मात्रा में हुआ। संगीत की कोई नवीन

धारा का जन्म इस काल में नहीं हुआ और न कोई इस काल में महान संगीतज्ञ ही हुआ। लेकिन भारतीय जनता का जीवन पूर्ण संगीतमय हो रहा था, पर नारियाँ अवश्य संगीत से उदासीन-सी मालूम पड़ती थी। पर्दे का आवरण नारियों पर पड़ जाने से उनकी प्रवृत्तियों का विकास-सा खत्म हो गया था। उनकी सारी चहल-पहल घर की दीवारों के अन्दर सीमित कर दी गई थी। नाटकों का रिवाज आम जनता में था। अधिकतर धार्मिक नाटक खेले जाते थे, जो कि संगीत प्रधान हुआ करते थे। ग्रामीण वातावरण भी संगीत से दूर नही था; पर उनका संगीत नागरिक संगीत से पृथक था। नगर निवासी ग्रामीण संगीत में आनन्द नहीं लेते थे और न ग्रामीण लोग नगर के संगीत को पसन्द करते थे, इस प्रकार सर्वप्रथम इस काल में नगर और ग्राम के संगीत के मध्य में एक दीवार-सी बनती जा रही थी।"[36]

फिरोज़ तुग़लक (1351-1388 ई०)

फ़िरोज़ तुग़लक जब किसी यात्रा पर जाता, तब रूपवती दासी गायिकाएँ मनोरंजन करने तथा सम्भोग का आनन्द लेने के लिए साथ होती थीं। प्रत्येक शिविर में गायक गाना गाया करते थे। सुल्तान की यात्रा में सैनिकों को इतना सुख मिलता था कि वे घर लौटने की इच्छा न करते थे।

ईद के दरबार में समस्त गायक केसरिया वस्त्र तथा लाल पगड़ी धारण करते थे। नर्तकियाँ चालीस-चालीस हज़ार तन्कों के जड़ाऊ बहुमूल्य वस्त्र धारण करती थीं। कव्वाल वाद्य ले लेते थे और नर्तकियाँ नृत्य प्रारम्भ करती थीं। उन्हें पारितोषिक भी मिलता था।

शुक्रवार की नमाज़ के पश्चात् सुल्तान गाना सुनता था। दिल्ली के गायक अपने चार-पाँच वर्ष के पुत्रों तक को फिरोजाबाद ले आते थे, क्योंकि पारितोषिक में सभी संगीत-जीवियों और उनके बालकों का हिस्सा होता था।

फ़िरोज़शाह ने बड़े ढोल का आविष्कार किया था। लम्बाई और चौड़ाई में ऐसे ढोल सामान्य ढोलो की अपेक्षा एक हाथ अधिक थे।[37]

लोदी काल

लोदी वश में तीन सुल्तान हुए। पहला बहलोल लोदी, दूसरा सिकन्दर लोदी और तीसरा इब्राहीम लोदी। इस काल में भारतीय संगीत ने पुन. करवट ली। तुगलक काल में संगीत की स्थिति कुछ गिर गई थी, वह इस काल में सुधरने लगी थी। जनता में काफी उत्साह संगीत की ओर पाया जाता था। अनेक मुस्लिम कलाकार पैदा हुए और उन्होंने पूरे जोश के साथ संगीत के विशाल

क्षेत्र में कार्य किया। अनेक हिन्दू कलाकारों ने भी इस महान् कार्य में मुस्लिम कलाकारों से सहयोग किया।

कव्वाली, ग़ज़ल, ख्याल, ठुमरी आदि देश के अन्दर खूब प्रचलित हो गये थे, यहां तक कि गाँव वाले भी कव्वाली गाते हुए देखे जाते थे। नारियाँ भी कव्वाली गाती थीं। 'समूह गान' का रिवाज इस युग में बढ़ा। ख्याल भी गाये जाते थे। नवीन नृत्यों का निर्माण हुआ जिनमें अनेक अरबी, ईरानी रोमांटिक कथाएँ गूँथ दी गई थीं। यह रोमांटिक नृत्य आम जनता में खूब चलते थे, इनको हिन्दू लोगों ने भी दिल खोलकर अपनाया। नृत्यों के निर्माण में ईरानी और अरबी वातावरण को भी प्रस्तुत किया जाता था। यह हिन्दुओं के लिए कौतूहल की चीज़ होती थी, वे इस खुशनुमा वातावरण को पसन्द भी बहुत करते थे। इसी प्रकार नाटकों के कथानक भी रचे गये। वे कथानक भी अरबी और ईरानी वातावरणों से भरे रहते थे और इन नाटकों में संगीत की भरमार रहती थी। दरबारी लोग भी संगीतप्रिय थे।[38]

सिकन्दर लोदी (1488-1517 ई०)

मीरान सैयद नूरुल्लाह तथा सैयद ईब्नुर्रसूल सिकन्दर लोदी के दरबार में महान संगीत-मर्मज्ञ थे। बादशाह की सेवा में उपस्थित होने के इच्छुक प्रत्येक कलाकार को ये लोग पहले सुनते थे, उसके योग्य प्रमाणित होने पर ही उसे बादशाह की सेवा में उपस्थित होने की अनुमति मिलती थी।

सुल्तान के दरबारियों में मियाँ ताहा महान संगीत-मर्मज्ञ थे। बड़े-बड़े ब्राह्मण और संगीतज्ञ उससे शिक्षा लेते थे।

एक पहर रात बीत जाने पर शहनाई बजाने वाले दस व्यक्ति उपस्थित होते थे और क्रमशः 'गौरा', 'कल्याण', 'कानड़ा' और हुसेनी' राग बजाते थे। 'तारीखे दाउदी' ने 'गौरा' के स्थान पर मालकोस लिखा है पर जो ठीक नही प्रतीत होता।

"तारीखे दाऊदी' के अनुसार सिकन्दर लोदी के प्रिय राग केदारा, अडाना, हुसेनी और रामकली थे।

सिकन्दर लोदी के संगीतानुराग के कारण उसके राज्य में अद्वितीय संगीतज्ञ एवं गायक एकत्र हो गये थे। एक पहर रात्रि व्यतीत हो जाने पर वह संगीत-सभा का आयोजन करता था।

पन्द्रह सौ दीनार में उसने चार दास मोल लिए थे, जिनमें एक चंग वादक दूसरा क़ानूनवादक, तीसरा तम्बूरावादक और चौथा वीणावादक था।[39]

सिकन्दर लोदी विशेष रूप से भारतीय संगीत का प्रेमी था। वह भारतीय संगीत को समझने का भी प्रयत्न करता था। ऐसा केप्टन टर्नाहुल्स ने अपनी

पुस्तक "My Survey of Indian Music-Instruments" में पृष्ठ 40 पर लिखा है। पर कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि वह संगीत का ज्ञान नहीं रखता था। इन विद्वानों में प्रमुख है मिस्टर गार्ली ओविन्स, जिन्होंने एक पुस्तक लिखी है "Indian Music"। इसमें उन्होंने पृष्ठ 45 पर लिखा है, "सिकन्दर लोदी को संगीत ज्ञान कुछ भी नहीं था, लेकिन वैसे वह योग्य शासक था, विद्वानों का आदर करता था और उसके शासन काल में भारतीय संगीत की उन्नति हुई। ग़ज़ल और ख्याल अधिक बने।"

खैर जो कुछ भी हो इतना तो कहा ही जा सकता है कि लोदी काल में संगीत का विकास हुआ और इस क्षेत्र में अनेक नवीन कलाकार पैदा हुए जिन्होंने संगीत के पथ को प्रशस्त बनाया और जिन्होंने संगीत विषय पर नवीन दृष्टिकोण से पुस्तकें भी लिखीं।[40]

मुज़फ़्फ़रशाह गुजराती (रा० क० 1511-26 ई०)

इसका कंठ-स्वर अत्यन्त मधुर था और वह प्रत्येक प्रकार के वाद्यों को बजाने में निपुण था, उस युग के अनेक गुणी इसके शिष्य थे। इसने गुजरात को संगीत का केन्द्र बना दिया।[41]

बहमनी सुल्तान और संगीत हसन (रा० क० 1347-59 ई०)

1347 ई० में हसन ने बहमनी राज्य की नींव डाली थी। यह संगीतानुरागी था। शीराज निवासी हक़ीम नसीरुद्दीन, समरकन्द निवासी सदरुश्शरीफ़, मौलाना असामी और रजीउद्दीन, जगजोत (जमंज्ज्योति) जैसे महापुरुषों ने इसकी सभा का आश्रय लिया था।

मुहम्मदशाह प्रथम (रा० क० 1359-73 ई०)

मुहम्मदशाह बहमनी की सभा में खुसरो की ग़ज़लें गाने वाले तीन सौ गायक थे। यह स्थिति दक्षिण संगीत पर मुस्लिम प्रभाव की द्योतक है। इन तीन सौ गायकों के लिए मुहम्मद शाह ने विजय नगर के स्वतन्त्र शासक बुक्का से भयानक युद्ध करके पारिश्रमिक वसूल किया। इसके युग में विजयनगर के राग-वर्गीकरण पर भली-भाँति मुक़ाम-पद्धति का प्रभाव हो गया।

मुहम्मद शाह की मृत्यु के पश्चात् मुजाहिदशाह (रा० क० 1373-1378 ई०) और मुहम्मद शाह द्वितीय (रा० क० 1378-97 ई०) भी संगीतानुरागी हुए, परन्तु फ़िरोज़शाह बहमनी का संगीतानुराग अधिक था।

फ़िरोज़शाह (1397-1422 ई०)

फ़िरोज़शाह संगीत का दीवाना था और उसके अन्तःपुर में अनेक स्त्रियाँ

थीं। यह अनेक-भाषाविद् था और उन भाषाओं को भलीभाँति बोल सकता था।

फ़िरोज़ का क़ाज़ी सिराज और उसके कुछ सहयोगी गाने, बजाने और नाचने में यहाँ तक निपुण थे कि उन्होंने नर्तकियों के छद्‌मवेश में नाचते-नाचते हरिहर द्वितीय के पुत्र का वध कर दिया था।

1406 ई०में फ़िरोज़ ने विजयनगर के शासक देवराय प्रथम को युद्ध में पराजित करके उसकी पुत्री का पाणि-ग्रहण कर लिया था। इन सम्बन्धों के कारण विजय नगर के संगीत पर ख़ुसरो-परम्परा का रंग और गाढ़ा हो गया था।

अहमदशाह (रा० क० 1422-35 ई०)

अहमदशाह बन्दानवाज गेसूदराज का परम भक्त था। इसके बादशाह होने की भविष्यवाणी शेख साहब ने अपनी मृत्यु से पूर्व ही कर दी थी, संगीत के प्रति इसे भी रुचि थी।

अलाउद्दीन द्वितीय (1435-1457 ई०)

सामान्यतया यह भी संगीत-रसिक था। इसके युग में दक्खिनी मुसलमानों और विदेशी शिया मुसलमानों से पारस्परिक विग्रह बहुत बढ़ गये थे। नृशंस और क्रूर होने के साथ ही साथ यह आमोद-प्रिय भी था।

कुतुबशाही सुल्तान और संगीत

बहमनी साम्राज्य के विघटन के परिणामस्वरूप गोलकुण्डा, बीजापुर, अहमदनगर, बरार और बीदर पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र राज्य हो गये। गोलकुण्डा में कुतुबशाही राजवंश का संस्थापक सुल्तान कुली कुतुबशाह (1518-43 ई०) हुआ। इसके पश्चात् क्रमशः जमशेद कुली (रा० क० 1543-50), सुबहान कुली (1550-80 ई०) और इब्राहीम कुली (रा० क० 1550-80 ई०) का शासन रहा। इब्राहीम कुली का पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह का एक महत्त्वपूर्ण सुल्तान हुआ है।

मुहम्मद कुली क़ुतुबशाह (1580-1611 ई०)

इसने हैदराबाद नगर को सुन्दर बनाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। इसकी बारह प्रधान प्रेयसियाँ (प्यारियाँ) थीं, जिनके नाम नन्हीं, साँवली, कँवली, प्यारी, गोरी, छबीली, लाला, लालन, मोंहन, हैदरमहल, महबूब और मुश्तरी थे।

इनके अतिरिक्त बिलक़ी सजमानी, हातम, बहमनी हिन्दू, हिन्दी छोरी, पद्‌मिनी, सुन्दर, सज्जन, रंगीली, नूर की मूरत, कसबिन, नाज़नीन, चंचल

नैन, माह अबरू, काबारुख़, सरो खुशक़द, फ़ितना दकन, तिलंगन और दकन की पुतली नामक प्यारियाँ भी थीं।

इसकी प्रियतमाओं में कुछ गीत-नृत्य-विशारदा भी थीं जैसे हैदरमहल। एक प्रियतमा की प्रशंसा करते हुए मुहम्मद कुली ने उसे मुखारी, सबाही (सुहाई), घनाश्री, गौरी, सारंग, मल्हार और रामकली गाकर मन मोह लेने वाली बताया है।

मुहम्मद कुली ने अपनी इन प्रियतमाओं के विषय में काव्य-रचना की है, मुहम्मद कुली के काव्य में प्रियतम को पिया, पीउ, सजन, साईं, गुसाईं इत्यादि कहा गया है। उसके काव्य में मेनका, रम्भा, उर्वशी इत्यादि अप्सराओं की भी चर्चा है। इन्द्रधनुष, बसन्त ऋतु, मोर, चकोर, पपीहा, कोयल, हँस, भँवरा भी उसके काव्य में हैं।

शिया होने के कारण सभी कुतुबशाही सुल्तान मर्सिया सुनते थे, परन्तु उन सबमें अब्दुल्ला कुतुबशाह (रा० क० 1625-72 ई०) का अनुराग संगीत के प्रति विशेष रूप से था।

आदिलशाही सुल्तान और संगीत
युसुफ़ आदिलशाह (1489-1510 ई०)

बीजापुर में आदिलशाही राजवंश के संस्थापक युसुफ़ आदिलशाह ने मुकुन्द राव नामक एक मराठा सरदार की पुत्री का पाणि-ग्रहण किया। इसने हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त किया। यह संगीतानुरागी एवं विलासी था।

यों तो इस वंश के सभी सुल्तान संगीतानुरागी हुए, परन्तु इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय का नाम संगीत-जगत् में अमर है।

आदिलशाह द्वितोय (रा० क० 1580-1627 ई०)

यह मुहम्मद कुली क़ुतुबशाह का बहनोई था, चाँद बीबी इसे ब्याही थी। साथ ही साथ इसे अपनी पुत्री का विवाह अकबर के आदेश से शाहजादा दानियाल के साथ करना पड़ा था।

इब्राहीम आदिल अली शाह बन्दानवाज गेसूदराज का भक्त था और उनकी समाधि की प्रशंसा में काव्य-रचना करता था। वह अपने गेय गीतों के संग्रह का मंगलाचरण सरस्वती की स्तुति से करता था। इब्राहीम के ग्रन्थ नवरस में राग-रागनियों के शब्दचित्र हैं और कुछ लोगों की दृष्टि में राग-रागिनियों के चित्रों से युक्त 'रागमालाओं' का प्रवर्तक इब्राहीम आदिल शाह द्वितीय है।

'बसातीन-उस्सलातीन' नामक ग्रन्थ के अनुसार इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय के दरबार में चार सहस्र संगीतज्ञ थे, जिनमें चौदह सौ शिक्षक एवं शेष विद्यार्थी

थे।

इब्राहीम आदिल शाह का संगीत-गुरु बख्तर खाँ (तानसेन का शिष्य बख्तरखां) था, जिसे सुल्तान ने अपनी भतीजी ब्याह दी थी। सुल्तान की वीणा का नाम मोतीखान था, जिसकी सवारी हाथी पर निकलती थी।

राग-विबोधकार सोमनाथ इब्राहीम आदिलशाह का समसामयिक था। इब्राहीम ने 'किताबे-नवरस' में भोपाली, राम क्री, भैरव, हजीज़, मारू, आसावरी, देसी, पूरबी, बरारी, टोड़ी, मल्हर, गौरी, कल्याण, घनाश्री, कानरा, केदार तथा नौरोज का प्रयोग करते हुए इन्हें 'मक़ाम' कहा है। 'मकाम', 'संस्थान', 'मेल' और 'थाट' समानार्थवादी शब्द हैं।[42]

जौनपुर

रायकृष्णदास के अनुसार जौनपुर के इब्राहीम शाह शर्की (1400-1436 ई०) तथा उसके पौत्र हुसेन शर्की (1457-1479 ई०) के दरबारों में भारतीय संगीत की विशेष उन्नति हुई। वहाँ से ख्याल-गायकी की एक नई पद्धति चली और कम-से-कम तीन नये रागों की उपज हुई।

इसी शर्की सल्तनत में उस इलाके के जिसका केन्द्र कड़ा-मानिकपुर था, शासक मलिक सुल्तानशाह के पुत्र बहादुर मलिक ने सगीत के जीर्णोद्धार और संजीवन के लिए एक वृहत् सम्मेलन किया, जिसमें चारों दिशाओं के कलावन्तों को एकत्र करके तथा संगीत रत्नाकर आदि सगीत के 18 ग्रन्थों को बटोर कर सब विवादास्पद बातों का निर्णय कराया और 1428 ई० में सगीत शिरोमणी नामक ग्रन्थ प्रस्तुत कराया, जिसमें कुल निर्णीत बातें निहित थी। शीघ्र ही इस ग्रन्थ का प्रचार दूर-दूर तक हो गया।

काश्मीर

काश्मीर में परम उदार शासक जैनुल आबदीन अन्य कलाओं की उन्नति के साथ-साथ संगीत की उन्नति में भी प्रवृत्त था। उसके दरबार में भारतीय राग और पद गाये जाते थे तथा बीन बजती थी। उक्त संगीत शिरोमणी की एक प्रति उसके पास उपायन में पहुँची थी।[43]

डा० विरेन्द्र मोहन के अनुसार ईरानी और फारसी संगीत पद्धति का आगमन भी भारत में मुसलमान विजेताओं के पूर्व हो चुका था और जब मुसलमान आक्रान्ता भारत आये तो न केवल ईरानी संगीतकार बल्कि सूफ़ी संत भी साथ में आ गये थे। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का उदाहरण इतिहास में उपलब्ध है तथा इतिहास के ग्रन्थों, यात्रा-वृत्तान्तों से अनेक अरबी-ईरानी संगीतकारों, चित्रकारों का हवाला उपलब्ध होता है।

संगीतकला के क्षेत्र में मुसलमानी काल प्रगति और उन्नति का काल है। प्रारम्भ से लेकर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक संगीत के जितने ग्रन्थ नहीं रचे गये, उससे अधिक संगीत के संस्कृत ग्रन्थ इस काल में रचे गये। संस्कृत ग्रन्थ-कारों ने संगीत में आये प्रभावों को शास्त्रबद्ध किया। मुस्लिम शासकों ने इसमें विशेष सहयोग प्रदान किया।[44]

सूफियों द्वारा भी भारतीय संगीत का काफी प्रचार हुआ। क्योंकि सूफी सिलसिलों में संगीत को निषिद्ध नहीं माना जाता था। वे अपने अल्लाह की याद में गाने-बजाने को उचित मानते थे जबकि मौलवी लोग गाने-बजाने की अनुमति नहीं देते थे। यही संगीत धीरे-धीरे मुस्लिम बादशाहों की दृष्टि में मनोरंजन का साधन बनता गया। चिश्ती परम्परा का भारतवर्ष में विस्तार होने के साथ-साथ संगीत का प्रचार भी बढ़ता गया।

सूफी विचारों को लोकभाषा में व्यक्त करने वाले भारतीय भक्त गायक भी शेख मुईजुद्दीन चिश्ती को सुलभ हो गये। उन गायकों का गाना सुनने के लिए भीड़ इकट्ठी होने लगी। हिन्दू समाज द्वारा दलित और उपेक्षित व्यक्तियों को सूफी-संतों के दरबारों में स्थान मिला, जहां राजा-रंक सब बराबर थे। इस प्रकार भारतीय जनता सूफी परम्परा में दीक्षित होने लगी।

सूफियों ने संगीत के प्रचार में कोई कसर उठा नही रखी थी। राजा लोग भी इनका आदर-सम्मान करते थे। ये गजल के रूप में खुदा की इबादत करते थे, जो प्रेमकाव्य से ओत-प्रोत होती थी। हर व्यक्ति उसका अर्थ अपने-अपने ढंग से लगाता था। दरबारों में इन्हीं गज़लों का अर्थ वासनामय समझा जाता था और खानकाहों में उन्हीं गज़लों का अर्थ भक्ति-रूप हो जाता था। इन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया वह "हिन्दी की अवधी बोली" के बहुत समतुल्य थी। इस गेय काव्य ने समकालीन भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के मध्य भाषागत समन्वय की स्थापना की और इसी समय हिन्दी की गेय रचनाओं को भारतीय अथवा ईरानी दोनों ही धुनों में गाया जाने लगा।

गजल उस समय की प्रचलित और सर्वप्रिय शैलियां गजल और कव्वाली थे। ग़ज़ल को अरबी भाषा में स्त्रीलिंग मानते हैं और इसका अर्थ होता है "प्रेमपात्र से वार्तालाप"। ऐसी स्थिति में उर्दू और फारसी की विशेष प्रकार की कविता को भी गजल कहते हैं।

एक गज़ल में कम से कम पांच और अधिक से अधिक ग्यारह शेर होते हैं। सारे शेर एक ही "रदीफ" और काफ़िय में होते हैं और प्रत्येक शेर में एक स्वतंत्र भाव होता है। गजल का प्रथम शेर "मत्ला" और अंतिम शेर "मक्ता कह-लाता है। मक्ते में शायर अपना उपनाम रखता है। गजल का सग्रह "दीवान" कहलाता है। अधिकांश गज़ल शृंगार रस में ही लिखी होती थी। यही कारण

रहा कि गज़लों का गायन संगीत प्रेमियों को तो अच्छा लगता ही था साथ ही साथ सूफियों को भी प्रिय रहा। 1210-1388 ई० तक गज़ल का प्रचार और प्रसिद्ध गायक प्रत्येक बादशाह के दरबार में रहा । सुल्तान इल्तुतमिश, गयासुद्दीन बलबन का पुत्र शहजादा मुहम्मद, अलाउद्दीन खिल्जी, कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खिल्जी, गयासुद्दीन तुगलक, मुहम्मद तुगलक और फिरोज तुगलक तक के युग में गज़ल का सम्मान था। इन सब सुल्तानों को गज़ल सुनने का शौक था और इनके दरबार में प्रसिद्ध गायक भी सम्मान-पूर्वक रहा करते थे।

कव्वाली-गज़ल के साथ-साथ गायन की दूसरी लोकप्रिय शैली—कव्वाली थी। "कौल" का अर्थ हुआ कथन और कौल का गाने वाला "कव्वाल" कहलाता था और यही गायन शैली कव्वाली कही जाने लगी। गज़ल के विषय को पहले लौकिक प्रेम की दृष्टि से देखा जाए और पुनः यदि उसी विषय के प्रेमपात्र को ईश्वरीय मानकर भक्ति-रूप होकर गाया जाए तो वही कव्वाली का रूप ले लेती है। गज़ल और कव्वाली दोनों ही गायन शैलियां सुल्तानों और सूफियों में समान रूप से लोकप्रिय रहीं।

अमीर खुसरो गयासुद्दीन तुगलक के साथ बंगाल गए थे और वहीं से लौटते हुए वे अपने गांव चले गए थे। गयासुद्दीन तुगलक के बाद जूना खां मुहम्मद तुगलक के नाम से सिंहासन पर बैठा जिसका राज्यकाल 1325-1351 ई० तक रहा। मुहम्मद तुगलक भी बड़ा संगीत प्रेमी था और कलाकारों का आदर-सम्मान करता था। कहा गया है कि उसके दरबार में बारह सौ गायक थे, जो गाते भी थे और गाने के लिए शिक्षा भी देते थे।

लोदी वंश के राज्यकाल में संगीत ने पुनः करवट ली। इस काल में जनता में संगीत के प्रति काफी उत्साह था। इसी काल में अनेक मुस्लिम कलाकार पैदा हुए और इन कलाकारों ने पूरे जोश के साथ संगीत के लिए कार्य किया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अनेक हिन्दू कलाकारों ने भी उस महान् कार्य में मुस्लिम कलाकारों से सहयोग किया है।

"सियार-अल-अवालिया" के अनुसार शेख फरीद के पौत्र ख्वाजा मुहम्मद संगीत कला के विशेषज्ञ थे। फकीर उल्लाह राग दर्पण में दक्षिण के सूफी संत शेख बहाउद्दीन के विषय में लिखता है कि दक्षिण में संगीत विद्या में उनकी तुलना में कोई नहीं था। इस सूफी संत के कई शिष्य थे जो उनसे इस कार्य को चलाते रहे। बीजापुर के शासक अली आदिलशाह ने हिन्दू-देवी सरस्वती और गणेश की प्रशंसा में बहुत से गीत लिखे थे। अपने आलोचकों को उन्होंने उत्तर दिया कि इस देवी और देवता की प्रेरणा से ही उसने इन गीतों की रचना की है। सियार-अल-अवालिया तथा अवामी-अल-कालीम से यह स्पष्ट है कि सूफी दायरे में हिंदी गीत प्रचलित हो गए थे और भारतीय मुसलमान कुछ हद तक संगीत

की प्रशंसा करने लगा था तथा कुछ मुस्लिम संगीतकारों ने उसमें पूर्णता प्राप्त करने की कोशिश भी की थी।

जैसे कि हम बाद में देखते हैं कि राज-दरबारों में नर्तकियां होती थीं और नृत्य राज-दरबारों की शिक्षा का एक अंग बन गया था। अरब यात्रियों के अनुसार मंदिरों में देव-दासियाँ होती थीं। रीति-रिवाजों के अनुसार वे नाचती तथा गाती थीं। इन देव-दासियों के अलावा कुछ नर्तकियां तथा कुछ परिवारों के समूह होते थे जो नाचते-गाते थे। इन नाचने-गाने वालों ने शायद अपने संरक्षकों के धर्म को अपना लिया था और नृत्य को इसने धर्म-निरपेक्षता का रूप दे दिया था।

एक पुस्तक "गुनियात-अल-मूनियाह" लगभग 1375 ई० में गुजरात के सूबेदार मलिक रामसुद्दीन अबू राजा ने लिखी थी। इस पुस्तक से यह स्पष्ट है कि संगीत और नृत्य के लिए रूचि मुस्लिम समाज में उत्पन्न हो गई थी। इन कलाओं के लिए केवल रूचि ही उत्पन्न नहीं हुई थी परन्तु कलाओं को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के लिए इच्छा भी उत्पन्न हो गई थी।[45]

इस प्रकार सल्तनत काल संगीत-काल की दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। हिन्दू तथा मुसलमान कलाकारों ने आपसी तालमेल से इस काल में संगीत को एक विशेष दिशा प्रदान की है जो जाति-धर्म के बंधन से ऊपर उठकर मानव के प्रति प्रेरणा का संदेश देती है।[46]

इस प्रकार संगीत ने हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने में बहुत अधिक सहयोग दिया।

साहित्य और हिन्दू-मुस्लिम एकता

यह सत्य है कि दिल्ली के सुल्तान लड़ाकू थे तथा उन्हें साहित्य, काव्य, संस्कृति तथा ललित कलाओं के लिए समय नहीं मिलता था या रूचि नहीं थी, क्योंकि वह अधिकतर युद्धों में फंसे रहे। परन्तु यह भी सत्य है कि इस काल में हिन्दू और मुस्लिम साहित्य में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के काफी दृष्टांत देखने को मिलते हैं।

हिन्दी-साहित्य—प्रस्तुत विवरण में ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में जानना उपयोगी होगा। 'हिंदी' हिंद 'हिंदवी' और हिन्दुस्तान शब्दों का अर्थ भारत के उत्तर-पश्चिम में प्रवाहमान सिंधु नदी से संबंधित हैं। जैसा हम जानते हैं कि भारत में आने वाले अधिकांश विदेशी यात्री और आक्रमणकारी उत्तर पश्चिम सिंह द्वार से ही भारत में आए। अतः भारत में आने वाले इन विदेशियों ने जिस देश के दर्शन किए वह सिंधु का देश था। भारत के ईरान के साथ बहुत प्राचीन काल से ही संबंध थे और ईरानी सिंधु को हिंदू

कहते थे। हिंदू में फारसी भाषा के कई प्रत्यय लगाने से हिंद शब्द हिंदीक बन गया। संज्ञा के रूप में हिंदीक का अर्थ 'हिंदी का' भाषा में इस शब्द का संज्ञा के रूप में प्रयाग किया गया और हिंदी की भाषा हिंदी कही जाने लगी। 1424-25 ई० शर्फुद्दीन यंजदी द्वारा लिखित जफरनामा में हिंदी का पहली बार उपयोग किया गया।[47]

हिंदी-साहित्य में भी हिंदू-मुस्लिम एकता की झलक मिलती है। मुस्लिम कवियों जिन्होंने अकसर अपने ज्ञान को हिन्दी में प्रकट किया, ने ब्रज भाषा में लिखो, कभी-कभी उन्होंने दोनों भाषाओं, हिन्दी तथा ब्रज का प्रयोग हिन्दी संगीत पर दोहा गाने के लिए किया, दोहे अधिकतर अप्रत्यक्ष रूप से देवी-प्रेम के गीत थे और ये सूफी संतों की उपस्थिति में गाये जाते थे।

हिन्दी-साहित्य में प्रथम मुस्लिम कवि कुतबन थे जिन्होंने "मृगावती" (लगभग 1500 ई०) लिखी। मृगावती पूर्ण रूप से हिन्दू मूल का प्रेम काव्य है और इसके आधार में प्रत्यक्ष रूप से धर्म की झलक नहीं मिलती। इसकी कथा पौराणिक सीता के ढंग की है। एक सुन्दर राजकुमारी एक शैतान के चक्कर में फंस जाती है और अन्त दोनों पत्नियों द्वारा अपने पति की चिता पर आत्मदाह द्वारा होता है। इसका अन्त जायसी के पद्मावत का प्रत्यक्ष स्रोत बनता हैं। मंझन की मधुमालती भी इसी ढंग की पुस्तक है।

जायसी की पुस्तक पद्मावत मुस्लिम मस्तिष्क की अनोखी कृति है। इसकी भाषा अवधी है परन्तु साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि यह फारसी शैली में लिखी गई है। उन पर सूफी सम्प्रदाय के मार्ग प्रदर्शक बोदलीशाह का प्रभाव था जिन्होंने उनमें हिन्दू रहस्यवादी साहित्य का समावेश कर दिया था। उनमें राम और कृष्ण का कोई प्रत्यक्ष प्रलेख नहीं था। परन्तु न उन पर केवल कबीर का बल्कि प्रसिद्ध हिन्दू गाथाओं और योगियों का भी प्रभाव था।[48]

सूफी और हिन्दी

विचारों की अभिव्यक्ति, प्रचार और प्रसार के लिए भाषा सर्वश्रेष्ठ साधन है। भाषा वह होनी चाहिए, जो श्रोताओं एवं पाठकों के लिए बोधगम्य हो। इस तत्त्व को समझकर सूफ़ी लोगों ने लोकभाषा में अपने विचार व्यक्त किये और इस भाषा का नामकरण 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' किया। सूफियों की इस हिन्दी में स्थानीय प्रभाव भी रहता था, परन्तु यह भाषा सर्वत्र हिन्दी ही कह-लाती थी।

अपनी इस नीति से सूफी प्रचारक भारतीय जनता के निकट आ गये। सूफियों का दरबार सबके लिए खुला था। मलिक मुहम्मद जायसी ने अखरावट में इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि बड़े-बड़े सूफी हिन्दी भाषा का व्यवहार

करते थे।

शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के कव्वाल भारतीय भाषा में निबद्ध गीत गाते थे, जनता आकृष्ट होकर इकट्ठा हो जाती थी। शेख निजामुद्दीन औलिया हिन्दी भाषा से भलीभांति परिचित थे। उनके अनुवर्तियों ने हिन्दी भाषा में काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी। शेल फरीदुद्दीन गंजशकर की एक उक्ति है—

"आसा केरि यही सो रीत।
जाऊँ नायँ कि जाऊँ मसीत।।"

'झूलना-शंकरगंज' शेख फरीदुद्दीन गंजशंकर की एक छोटी-सी कृति है; जिसका कुछ अंश यों है—

"जली याद की करना हर घड़ी इक तिल हुजूर सो टलना नहीं।
उठ बैठ में याद सूँ शाद रहना गवाहदार को छोड़ के चलना नहीं।
पाक रख तूं दिल कों ग़र सेती आज साईं फरीद का आवता है।
कदीम-क़दीमी के आंवने से लाज़वाल दौलत को पावता है।"

इन सूफी-संतों के घरों में भी हिन्दी बोली जाती थी, क्योंकि इस युग में अनेक मुसलमान भारतीय नारियों की संतान थे।

शेख शरफ़ुद्दीन बू अली क़लन्दर इसी युग के एक प्रतापी संत थे, जिनका प्रभाव जनता पर अत्यधिक था। अमीर खुसरो ने इन्हें गा-बजाकर रिझाया था और अलाउद्दीन खिल्जी के लिए इनका अनुग्रह प्राप्त किया था। निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा—

"सजन सकारे जायँगे और नैन मरैंगे रोय।
बिधना ऐसी रैन को भोर कधी ना होय।"

शेख शरफुद्दीन बू अली कलन्दर की उक्ति है। मुबारजखाँ ने जब यात्रा का सकल्प किया, तब कलन्दर साहब के मुख से यह दोहा निकला था। शेख साहब का स्वर्गवास 1323 ई० में हुआ।

शेख निजामुद्दीन औलिया अपने मुरीद अमीर खुसरो और हसन अला संजरी को हिन्दी-काव्य-रचना के लिए प्रेरित करते थे।

शेख शरफुद्दीन याहया मनेरी (जन्म 1263, मृत्यु 1370 ई०) का प्रचार-केन्द्र बिहार था। इनके बताये हुए साँप-बिच्छू का जहर उतारने के मंत्र प्रसिद्ध हैं, जैसे—

"काला हँसा ना मिले, बसे समन्दर तीर।
पंख पसारे बिख हरे निरमल करे सरीर।।"

ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया के खलीफा और मुरीद शाह बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृत्यु 1337 ई०) तथा उनके भाई मुन्तखबुद्दीन देवगिरि (दौलताबाद) में जा बसे थे। ये लोग प्रादेशिक और सार्वदेशिक भाषओं को भलीभांति

बोलते थे ।

मुहम्मद तुगलक ने जब देवगिरि (दौलताबाद) को राजधानी बनाया, तब दिल्ली की सारी जनता यहाँ भेजी गई थी, फलतः दक्षिण में हिन्दी की आधार-शिला रखी गई। शेख नसीरुद्दीन चिराग देहली (मृत्यु 1356 ई०) के खलीफा गेसूदराज़ बन्दानवाज बहमनी शासन के पाँचवें सुल्तान फ़िरोज बहमनी (रा० क० 1397-1422 ई०) के युग में गुलबर्गा पहुँचे। अरबी और फारसी से अनभिज्ञ श्रोताओं के लिए ये अपने विचार हिन्दी में प्रकट करते थे। इन्होंने हिन्दी में 'मेराजुश्शाइक़ीन' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें गद्य-पद्य दोनों हैं।

इनकी भाषा का नमूना यों है—

"और माशूक बेमिसाल नूर नबी न पाया।
और नूर नबी रसूल का मेरे जीव में भाया।
अपसें अपी दिखावने कँसी आरसी लाया॥"

अहमदशाह गुजराती (रा० क० 1411-1441 ई०) के पीर हजरत कुतुब आलम हिन्दी बोलते थे। रात के समय एक बार ठोकर लगी तो बोले—

"लोहा है कि लकड़ी है कि पत्थर है।"

इनके काव्य का नमूना है—

"मोहम्मद पर मैं खड़्या साईं प्रेम चखाय।"

सैयद मुहम्मद जौनपुरी एक बुद्धिवादी सूफी थे। इनके अनुयाई इन्हें 'अंतिम महदी' मानते हैं। इनकी भाषा का नमूना है—

"हौं बलिहारी सजना हौं बलिहार
हौं सिरजन सिहर्रा साजन मुझ गल हार।"

मृत्यु से कुछ पूर्व उन्होंने कहा—

"हीरों तत्त परवान तूं कान पर धोय मधोय।
ओझल होवें नद्वत से सुख निंदरी ना सोय।"

शेख बहाउद्दीन बाजन (जन्म 1388 मृत्यु 1506 ई०) बुरहानपुर के सूफियों में हैं वह शेख अजीजुल्लाह के मुरीद थे। इनकी एक रचना है—

"यों बाजन, बाजे रे असरार छाजे।
मन्दल मन में धमके, रबाब रंग में झमके,
सूफी इन पर ठुमके
यों बाजन बाजे रे असरार छाजे।"
"यह फ़ितनी क्या किसी से मिलती है
जब मिलती है, तब छलती हैं॥
अव्वल आँ छल बहुत छलाये।
आँ छोहरी भुर्ता कमाये॥

आँ रोकर बहुत रुलाये।
यह फ़ितनी क्या किसी से मिलती है।
जब मिलती है, तब छलती है।"

शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही (जन्म 1455, मृत्यु 1538 ई०) के पीर शेख मुहम्मद थे, जो शेख अब्दुल हक चिश्ती साबिर के पुत्र थे। शेख गंगोही हिन्दी के कवि थे और इनकी मुद्रा 'अलखदास' थी। इनके दोहे हैं—

"यह जग नाहीं बाज पी बूझ विरहम ग्यान।
सो पानी सो बुलबुला, सोई सरवर जान।।"
"जिधर देखूं हे सखी, देखूं होर न कोय।
देखा बूझ विचार मैं, सभी आपीं सोय।।"[49]

बन्दानवाज गेसूदराज़ जो भाषा दिल्ली से लाये, वही दक्षिण भारत की हिन्दी के रूप में फली-फूली।

इनकी सभी उपलब्ध कृतियां हिन्दी में हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में अपने पीर कमालुद्दीन की ओर संकेत करते हैं—

इस कमालियत का संग। इस खान्दान का रंग।।
उन गमाये अपना हाल। तो हुए पीर कमाल।।
कुछ थे नसीब मेरे। पग देखें तो उन केरे।।[50]

गुजरात में चिश्ती-परम्परा का केन्द्र कुतुबद्दीन बख्तयार काकी (मृ० 1236 ई०) के युग में स्थापित हुआ।

शेख कमालुद्दीन (मृत्यु 1363) उनके पुत्र सिराजुद्दीन (मृत्यु 1388 ई०), उनके पुत्र शेख इलमुल्हक (मृ० 1426 इ०), उनके पुत्र शेख महमूद राजन (मृ० 1446 ई०) तथा उनके पुत्र शेख जमालुद्दीन 'जुम्मन' (मृ० 1485 ई०), गुजरात में चिश्ती-परम्परा के महापुरुष हुए हैं।

इसी परम्परा में कमालुद्दीन के सरपोते, मजदुद्दीन के परपोते, नसीरुद्दीन के पोते और शाह मुहम्मद के पुत्र हसन मुहम्मद (मृ० 1574 ई०) और उनके पुत्र मुहम्मद आज़म चिश्ती (मृ० 1630 ई०) भी चिश्ती सिद्धांतों के प्रचारक हुए। मुहम्मद आज़म के उत्तराधिकारी याहया मदनी (मृ० 1689 ई०) थे।

अपने विचारों के प्रचार के लिए कुछ गुजरात-निवासी सूफियों ने हिन्दी-काव्य की रचना की, उनमें कुछ लोगों की चर्चा की जा रही है।

क़ाजी महमूद दरियाई बीरपुरी (मृ० 1340 ई०) गुजरात के बड़े सूफियों में हैं। इनके पिता क़ाजी हमीद 'शाह चालिन्दा' के पीर शाह आलम थे।

क़ाजी महमूद दरियाई को सूफी-संगीत में अत्यन्त रुचि थी। इनकी प्रत्येक रचना के संबंध राग-रागिनी का नाम अंकित हैं। इनकी दो पंक्तियां हैं—

"नैनों काजल मुख तम्बूला नाक मोती गलहार।

सीस नवाऊँ नेहा पाऊँ अपने पीर करूँ जुहार ॥"

शाह मुहम्मद ज्यू गामधनी (मृ० 1515 ई०) की गणना भी गुजरात के बड़े सूफ़ियों में हैं। रचनाओं का नमूना इस प्रकार है—

'एक समन्दर सात कहावे, धोनोस बादल मेंह बरसावे।
वही समंद हो बूंद दिखाले, नदियाँ नाले होकर चाले।
पीउ मिला नल लाग रही है, सुख-मँह दुःख वा बात न कीजे :"

इस समय तक हिन्दी समस्त भारत की भाषा हो गई थी। सूफ़ियों का लक्ष्य इस भाषा के द्वारा अपने विचारों का प्रचार करना था, हिन्दी-प्रचार उनका लक्ष्य नहीं था। यद्यपि अरबी और फारसी के विद्वान हिन्दी भाषा में अपने विचारों का प्रतिपादन घटिया बात समझते थे, तथापि सूफ़ियों ने लोक-मानस तक पहुँचने के लिए जहाँ हिन्दी भाषा को अपनाया, वहाँ भारतीय लोक-गीतों के छन्द भी अपनाये। इनकी रचनाएँ कव्वालों द्वारा गाये जाने के लिए थीं और उनमें प्रचारात्मकता प्रधान थी।[51]

दक्षिण भारत के कुछ और मुसलमान हिन्दी कवि

सूफ़ियों की दृष्टि में लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की प्राप्ति होती है। सौन्दर्य की ओर मनुष्य स्वभावतः आकृष्ट होता है, यदि कोई सहृदय व्यक्ति किसी अन्य रूपवान व्यक्ति पर इतना आसक्त हो जाये कि खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते उसके नेत्रों के समक्ष अपने प्रियतम की ही छवि रहे, प्रियतम के दर्शन के लिए वह प्रतिक्षण जलहीन मीन की भाँति तड़पता हो, तो उसका मन एक बिन्दु पर एकाग्र हो जाता है। पीर या गुरु की कृपा से यही एकाग्रता ईश्वर की ओर मुड़ जाती है और साधक ईश्वर-प्राप्ति में सफल हो जाता है।

एक अच्छी गज़ल सुनकर लौकिक प्रेमी को अपना प्रेम-पात्र याद आता है, तो ईश्वर-भक्त के लिए उसी गज़ल का अर्थ ईश्वर-परक होता है और ईश्वर-प्रेम में निमग्न हो जाता है। इसीलिए सादी और खुसरो की गज़लें दरबारों में भी लोकप्रिय हुई और सूफ़ियों को भी भाई। ऐसे ही गेय काव्य को आकर्षक रूप में प्रस्तुत करने के कारण कव्वाल और गवैये विलासियों और बादशाहों को भी प्रिय हुए और सूफ़ियों के भी लाड़ले बने। यही स्थिति शायरों की भी थी। अच्छे शायरों की माँग बादशाहों के दरबार में भी थी और सूफियों के दरबार में भी।

प्रेम, काव्य और संगीत की त्रिवेणी पूर्वोक्त कारणों से ही सर्वसाधारण के मानस को आप्लावित करती रही। इसी त्रिवेणी की धारा मुहम्मद तुगलक के साथ देवगिरि पहुंची और बहमनी साम्राज्य के विघटन के परिणामस्वरूप यह गोलकुण्डा और बीजापुर को सिंचित करती रही।

दिल्ली से दक्षिण की ओर गये हुए कव्वालों के पास गाने के लिए फारसी सामग्री की कमी न थी। खुसरो ने अपनी गज़लों के रूप में उन्हें प्रभूत सामग्री दी, परन्तु जन-साधारण को रिझाने के लिए उन लोगों को दक्खिनी हिन्दी के कवियों ने सामग्री दी थी।

सूफ़ी-संतों के काव्य का विषय अद्वैतवाद (तसव्वुफ़) था, जिसे वे सामान्य बोल-चाल की भाषा में व्यक्त करते थे, परन्तु दक्षिण के मुसलमान हिन्दी-कवियों ने शृंगार-रस की रचनाएँ भी कीं।

प्रस्तुत पंक्तियों में 'बहमनी-युग', 'कुतुबशाही युग' और 'आदिलशाही युग' के कवियों के विषय में कुछ संक्षिप्त जानकारी दी जा रही है।

बहमनी युग में निम्नलिखित कवियों का पता चलता है—

1. बन्दानवाज गेसूदराज मृत्यु 1421 ई०
5 सैयद मुहम्मद अकबर हुसेनी मृत्यु 1420 ई०
3. निज़ामी अहमद के समकालीन (1422-1435 ई०)
4. सद्रुद्दीन मृ० 1472 ई०
5. अब्दुल्ला अल् हुसेनी अहमदशाह के समकालीन
6. मुश्ताक-मुहम्मद तृतीय के समकालीन (1463-82 ई०)
7. लुत्फ़ी मुश्ताक का समकालीन
8. शाह मीरानजी बीजापुरी मृत्यु 1496 ई०
9. आज़री 'मलिकुश्शुअरा' अहमदशाह का समकालीन।

इस युग में दक्खिनी हिन्दी में गद्य और पद्य दोनों लिखे गये। रचनाओं का विषय प्राय: तसव्वुफ़ था, परन्तु प्रेमाख्यान भी लिखे जा रहे थे। इसी समय बहमनी-नामा नामक इतिहास-ग्रंथ भी लिखा गया था।

मसनवी के साथ ही साथ इस युग में गज़ल और कसीदे भी लिख गये। फारसी छन्दों का आश्रय लेने पर भारतीय परम्परा के अनुसार उक्ति नारी की ओर से होती थी।

1526 ई० में बहमनी साम्राज्य पाँच इकाइयों में बँट गया। गोलकुण्डा के कुतुबशाही वंश और बीजापुर के आदिलशाह वंश ने काव्य और संगीत के लिए बहुत कुछ किया। कुतुबशाही युग के कवि निम्नलिखित हैं—

1. कुतुबुद्दीन 'फ़िरोज'-इब्राहीम का समकालीन (1550-80 ई०)
2. सैयद महमूद 'महमूद'
3. मुल्ला खयाली
4. असदुल्लाह 'वजही' इब्राहीम इत्यादि चार सुल्तानों का समकालीन
5. सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह मृत्यु 1611 ई०
6. जिल्लल्लाह

7. अब्दुल्लाह कुतुबशाह
8. ग़वासी मृत्यु 1649 ई० से पूर्व
9. अहमद
10. आजिज़
11. क़ुतबी
12. सुल्तान
13. खुदावन्द 'खुदानुमा' मृत्यु 1667 ई०
14 शेख अब्दुल्लाह
15. जुनैदी-अब्दुल्लाह कुतुबशाह का समसामयिक
16. बुलाकी
17. इब्ननिशशाली-अब्दुल्लाह कुतुबशाह का दरबारी
18. तबई ,, ,, समसामयिक
19. शाहराज़ हुसेनी 20. तानाशाह
21. मुहिब 22. कबीर 23. औलिया-तानाशाह का दरबारी
24. खवास 25. गुलाम अली 26. सेवक 27. फ़ाइज
28. लतीफ़ 29. अफ़ज़ल 30. फ़त्ताही 31. सालिक 32. मियाँ नूरी।

क़ुतुबशाही राज्य में आंध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र के कुछ भाग सम्मिलित थे, इसलिए क़ुतुबशाही हिन्दी में इन तीनों प्रदेशों की भाषाओं के शब्द भी सम्मिलित हैं।

हिन्दी की आदिलशाही धारा ने भारतीय संगीत को बहुत कुछ दिया।

आदिलशाही युग के हिन्दी कवि निम्नलिखित हैं—

1. बुरहानुद्दीन जानम मृत्यु 1582 ई० 2. इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय 3. अब्दुल 4. हकीम सैयद आतिशी 5. मुक़ीमी 6. अमीन 7. शौक़ी 8. सनअती 9. मलिक खुशनूद 10. रूस्तमी 11 शाही (अली आदिलशाह द्वितीय) 12. दौलत 13. नुसरती 14. शाह मलिक 15. अमीन (बुरहानुद्दीन जानक के पुत्र) 16. जहूर 17. सैयद मीरान हाशमी 18. अयाग़ी 19. शग़ली 20. अली 21. क़रीम 22. मुर्तजा 23. हुसेनी 24. मुख़्तार 25. क़ुदरती 26. मूमिन 27. क़ादिर 28. शाहमन उर्फ़ 29. मुअज्ज़म।[52]

सैय्यद सुलेमान नदवी के अनुसार अरबी में एक 'बारजा' है। अलबरूनी लिखता है कि असल में यह हिन्दी शब्द 'बेड़ा' है। दूसरा शब्द 'दो नेत्र' है जिसे हिन्दी में 'डोंगी' कहते हैं। ऐसे ही एक शब्द 'ना खुदा' है जो वास्तव में 'नाव खुदा' है। नाव हिन्दी शब्द है। खुदा मालिक के अर्थ में फारसी में आता है।

अरब शब्द कोष में मसालों और दवाओं के हिन्दी नाम हैं। भारत से अरब वाले मसाले और दूसरी वस्तुएँ ले जाते थे। निम्नलिखित शब्द अरबी में

हिन्दी से लिये गये हैं जो अपनी वास्तविकता और मातृभूमि का पता देते हैं—

हिन्दी नाम	अरबी नाम
चन्दन	सन्दल
मुश्क	मसक
ताम्बोल (पान)	तम्बोल
कपूर	काफ़ूर
नीलोफल	नीलोफट
जायफल	जायॅफल
त्रिफल	अतरीफ़ल
शिखर (तूतिया)	शखीरा
हर	हलीलज
नील	नोलज
करमज	कुरमुज
नारयल	नारजील
आम	अम्बुज

क़ुरान पाक में हिन्दी शब्द

क़ुरान शरीफ़ में ऐसे शब्द हैं जो मूलरूप में हिन्दी के शब्द है। परन्तु अरबों ने उनका अपनी भाषा में प्रयोग किया। ऐसे ही तीन शब्दों का प्रयोग क़ुरान पाक में भी किया गया है— जन्नत (स्वर्ग) की प्रशंसा में तीन सुगन्धों का वर्णन है। वह है मसक (मुशक), काफ़ूर (कपूर) और जंजबील (सोंठ, अदरक)।[53]

उर्दू-साहित्य

हिन्दी का उल्लेख करते समय उर्दू का भी उल्लेख कर देना बहुत आवश्यक है क्योंकि "उत्पत्ति" एवं विकास, की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू दोनों ही "बन्धु भाषाएँ" हैं। "उर्दू" एक मंगोल शब्द है जिसका अर्थ है "सैनिक शिविर" अथवा "खेमा", जिसका प्रारम्भ फारसी भाषा में "अल-जुवेगनी (AlJuwagni) द्वारा किया गया था और जिसको खिज्र खां द्वारा अपनी सेना तथा राज-दरबार के लिए अपनाया गया। बाबर की विजय के बाद यह साधारणतया शाही शिविर के लिये ही प्रयोग किया गया। सतरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इसका प्रयोग सेना की भाषा के रूप में ही किया जाता रहा। भाषा जो उर्दू के नाम से जानी जाती है और जिसका प्रयोग तथा विकास भारतीय मुसलमानों द्वारा किया जा रहा था, अनेक नामों में पुकारी जाती रही; अमीर खुसरो इसे हिंदवी अथवा "हिन्दी" (भारतीय) कहकर पुकारते थे और अबुल फजल इसे

"देहलवी "अथवा" दिल्ली की बोलचाल के नाम से पुकारते थे। दक्षिण में जहाँ इसमें बहुत अधिक साहित्य की रचना हो रही थी; इसे "दकनी" अथवा "दक्षिणी" अथवा हिन्दी के नाम से पुकारते थे, गुजरात में इसे अधिकतर "हिंदी" अथवा गुजराती के नाम से पुकारते थे, ये भ्रमात्मक शीर्षक हैं, क्योंकि यह आज की भाषा के नाम से पूर्णतया अलग है।[54]

दूसरे विद्वानों के अनुसार "उर्दू" मूलतः तुर्की भाषा का शब्द है; जिसके अर्थ हैं "शाही शिविर या "खेमा"। सल्तनत काल में तुर्की शासकों के मध्य एशिया के अपने प्रदेश के साथ संबंध टूट गये और उन्हें विभिन्न मिश्रित तत्वों को लेकर अपनी सेना का गठन करना पड़ा। इन मिश्रित तत्वों के आपसी सम्पर्क एवं बोलचाल के लिए "भाषागत" समस्या का सामना करना पड़ा। परन्तु आवश्यकता आविष्कार की जननी है। परिणामस्वरूप सल्तनतकालीन सेना के मिश्रित तत्वों ने बोल-चाल की एक मिश्रित भाषा ईजाद की जिसे मूलतः फौजी खेमों में बोला जाता था। इस मिश्रित भाषा को उर्दू कहा जाने लगा। मध्यकाल में उर्दू को मुख्यतः हिन्दी कहा जाता था। खिल्जी और तुगलक काल में जब सल्तनत का दक्षिण भारत में विस्तार हुआ तो दक्षिण में जाकर बसने वाले सैनिकों, सूफियों, अमीरों और अधिकारियों को भी इस भाषागत समस्या का और अधिक कठिनाई से सामना करना पड़ा। क्योंकि वे दक्षिण भारत की प्रादेशिक भाषाओं से भी पूर्णतः, अनभिज्ञ थे। परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में मिश्रित भाषा के रूप में जिस उर्दू का विकास हुआ, वह "दक्खनी" कहलाई। "दक्खनी" ही उर्दू भाषा का आदि या शास्त्रीय" (Classical) रूप है। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू को "हिन्दवी" "हिन्दी", "रेखता" (मिश्रित भाषा) अथवा दक्खनी के रूप में पुकारा जाता रहा और आम लोग उर्दू को "हिन्दुस्तानी" या "दक्खनी" ही पुकारते थे। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक उर्दू भाषा को इन्हीं नामों से जाना जाता रहा। पर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में "उर्दू" के उक्त नामों का प्रचलन बन्द हो गया और इसे आधुनिक रूप में "उर्दू" कहा जाने लगा। इस प्रकार मध्यकाल में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मिलन के बड़े रोचक परिणाम निकले। "समकालीन भाषाएँ एवं उनके साहित्य उसके सबसे उत्कृष्ट रूप हैं।[55]

अमीर खुसरो पहला मुसलमान था जिसने अपनी रचनाओं में हिन्दी शब्दों, भारतीय अलंकारों तथा विषय वस्तुओं का वर्णन किया। सूफी संतों ने भी अपने पदों व ग्रंथों से हिन्दी की श्री-वृद्धि की। इसी प्रकार हिन्दी के कवियों ने हिन्दी भाषा के शब्दों के साथ अन्य भाषाओं जैसे उर्दू आदि का प्रयोग किया। नामदेव तथा रामानन्द की कृतियों में भी अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग मिलता है।

प्रो० एहते शाम हुसैन के अनुसार, "उर्दू को इतिहास ने जन्म दिया, बढ़ने का वातावरण पैदा किया और एक ऐसे स्तर पर पहुंचा दिया कि 18वीं-19वीं शताब्दी में अनेक विद्वानों ने ''हिन्दुस्तानी'' के रूप में इसे देश की जनभाषा की संज्ञा प्रदान की। भारत वर्ष का इतिहास देखा जाए, तो यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है कि यहाँ की भाषाओं में उस समय कोई न कोई बड़ा परिवर्तन हुआ, जब इस देश के धार्मिक या राजनीतिक जीवन में कोई बड़ा आन्दोलन हुआ है। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जब कभी भारत की धार्मिक सभ्यता में उथल-पुथल हुई और केन्द्रिय शक्ति टूटकर छोटे-छोटे राज्यों में बंटी, तब भाषा पर भी उसका प्रभाव पड़ा। उस समय तक बौद्ध धर्म का जोर भी घट चुका था और ब्राह्मणवाद फिर अपने दार्शनिक तर्कों कों संभालकर आगे बढ़ रहा था। भाषा वैज्ञानिकों ने अपभ्रंश को भारतीय आर्य भाषाओं के द्वितीय और तृतीय या मध्यकालीन और आधुनिक युग को मिलाने वाली कड़ी कहा है। अपभ्रंशों का सिलसिला वैसे तो चौदहवीं शताब्दी तक मिलता है परन्तु 1,000 ई० के लगभग भारत की आधुनिक भाषाओं का विकास प्रारम्भ हुआ और उर्दू भाषा और साहित्य का इतिहास लिखते समय हमें इसी युग को विशेषकर दृष्टि में रखना चाहिए।

अनेक भाषा-शास्त्रियों का विचार है कि भारत की वर्तमान आर्य भाषाओं का डौल अपभ्रंशों के अन्दर ही पड़ा और इस दफा भी यह परिवर्तन एक महान ऐतिहासिक और सामाजिक क्रम में हुआ। दो बड़े-बड़े भाषा सम्बन्धी परिवर्तनों की भाँति 1,000 ई० के निकट यह नया आन्दोलन उस समय हुआ, जब हिन्दुस्तान में मुसलमान बड़ी संख्या में आये। वैसे तो अरब और मुसलमान यहाँ बहुत पहले से आ जा रहे थे; परन्तु दसवीं शताब्दी के अन्त में उनको ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व प्राप्त हुआ। इस बात को न भूलना चाहिए कि यदि यहाँ मुसलमान न आते, तो भी भाषाओं में परिवर्तन अवश्य होता परन्तु उसका रूप कुछ और होता। मुसलमानों के आगमन से भाषिक परिवर्तन का वेग बढ़ गया। वे जो बोलियाँ बोलते हुए भारत में आये थे, उन बोलियों ने भी स्वाभाविक रूप में यहाँ की बोलियों पर प्रभाव डाला। इस परिस्थति को भली-भाँति समझने के लिए भारत के सामाजिक जीवन को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है।

जब दो राष्ट्र अथवा दो जातियों के लोग एक-दूसरे से इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं, जैसे बाहर से आने वाले मुसलमान और हिन्दुस्तान के वासी, तो उनका प्रभाव एक-दूसरे पर इतने असंख्य रूपों में पड़ता है, जिनको अलग-अलग व्यक्त करना या उन्हें पूर्णतः समझना बहुत कठिन हो जाता है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक भावनाओं को मिला-जुलाकर देखना बहुत-सी उलझी हुई

समस्याओं पर प्रभाव डालेगा। भाषा को मनुष्यों के सामाजिक व्यवहारों ने ही जन्म दिया है और उसी व्यवहार के बदल जाने से उसमें परिवर्तन होता है। मुसलमानों के आने से भारत का वह सामाजिक जीवन एक नयी राह पर चल पड़ा, जिसमें बहुत दिनों से कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटी थी। भाषा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के विश्लेषण में बड़ी सहायता करती है और साथ ही साथ अपने विकास का मार्ग भी खोलती जाती है। वह न तो निर्जन स्थान में पैदा होती है और न उन्नति कर सकती है। मुसलमानों के आने से पूर्व जो भाषाएँ प्रचलित थीं, उनमें भी कई भाषाओं में मुसलमानों के आने के कारण वैसा ही परिवर्तन हुआ जैसा संगीत, चित्रकला और भक्ति आदि में हुआ। यदि ऐसा न होता तो भाषा विज्ञान और भौतिक घटनाओं के प्रभाव के विचार बिल्कुल गलत हो जाते।

पाँचवीं से सातवीं शताब्दी तक अरब व्यापारी दक्षिण भारत में मालाबार के तट पर आते रहे, परन्तु उनकी अरबी भाषा का प्रभाव वहाँ की भाषाओं पर अधिक नहीं पड़ा। इसी प्रकार अरब के मुसलमान 8वीं शताब्दी से आरम्भ में सिन्ध में आये किन्तु उन्होंने भी भारतवर्ष के भाषा सम्बन्धी जीवन पर कोई गहरा चिह्न नहीं छोड़ा। परन्तु इसके पश्चात् जो मुसलमान ईरान की ओर से 10वीं शताब्दी के अन्त से यहाँ आने लगे, उनका अपना ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। जो मुसलमान दो सौ वर्ष से ईरान में रहते थे, उनमें कई सांस्कृतिक धाराएँ मिलती थीं। उनका धर्म तो अवश्य सामाजिक (Sometic) था, परन्तु उनकी सभ्यता में जोरो, आस्ट्रियन, बौद्ध और मसीह धर्मों के तत्व भी देख पड़ते, हैं। उनमें से अधिकतर की बोलचाल की भाषा फारसी थी, जो स्वयं एक बड़ी प्रभावशाली आर्य भाषा है। अब भी हम भारत की, और विशेष-कर पंजाब और मध्यभारत की भाषाओं के विकास का अध्ययन करें तो इन बातों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। यदि भाषाओं का सामाजिक अध्ययन करना चाहें, तो नई हिन्दुस्तानी भाषाएँ जिस युग में विकसित हुईं, उस समय के हिन्दुस्तानी समाज में हुए परिवर्तनों और ऐतिहासिक घटनाओं को देखना ही पड़ेगा।

हर्ष वर्धन के बाद भारत छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया और ऐसी स्थिति पैदा हुई, जब किसी प्रकार की राजनीतिक एकता का विचार भी नहीं किया जा सकता था, क्योंकि उसी समय अर्थात् 1,000 ई० के लगभग मुसलमानों ने पंजाब के बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया। जब तक मुहम्मद गोरी ने अपना राज्य स्थापित नहीं किया, उस समय तक वहाँ गजनवी वंश राज्य करता रहा। मुहम्मद गोरी के समय राज्य की सीमा पंजाब से बढ़कर मध्यभारत तक पहुंच गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1206 ई० में गुलाम वंश का राज्य स्था-

पित हुआ। इस समय मध्य एशिया में चंगेज खाँ ने ऐसी हलचल मचा रखी थी कि बहुत से ईरानी हिन्दुस्तान में भाग आये। फिर खिल्जियों का राज्य स्थापित हुआ जिसकी सीमा थोड़े ही समय में पूर्व में बंगाल तक और दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैल गई। तुगलकों के समय में एक याद रखने योग्य घटना यह हुई कि मुहम्मद तुगलक ने 1327 ई० में अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर दक्षिण भारत में देवगिरी कर दी और दिल्लीवासियों को देवगिरी जाने का आदेश दिया। उर्दू के उद्भव और विकास पर इस घटना के प्रभाव का अनुमान हम आगे लगायेंगे। दिल्ली को केन्द्र बनाकर कई वशों के शासकों ने भारत पर राज्य किया उनके सैनिक और अधिकारी बेशक इधर-उधर आते-जाते रहे।

इस ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में उर्दू भाषा और साहित्य का जन्म भली-भाँति हमारी समझ में आ जायेगा। पंजाब में गजनवी शासकों के पौने दो सौ बर्ष के शासन काल मे अच्छा खासा सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ। महमूद गजनवी में चाहे जो त्रुटियाँ रही हों, परन्तु वह बड़ा विद्या प्रेमी था और संस्कृत का महत्व स्वीकार करता था। भारत में अपना सम्बन्ध प्रकट करने के लिए उसने अपनी मुद्रा पर संस्कृत भाषा के शब्दों को भी जगह दी थी। अल बेरूनी, जो उस समय का सबसे प्रसिद्ध विद्वान था और जिसे भारत के धर्म, गणित और सामाजिक संस्थाओं से बड़ा प्रेम था, इस मेलजोल की सबसे बड़ी यादगार है। उसने भी लिखा हैं कि उस समय संस्कृत की बहुत-सी पुस्तकों के अनुवाद अरबी और फारसी में हुए।। इस युग के बड़े-बड़े फारसी कवियों की रचनाओं में भी एक आध शब्द हिन्दुस्तान की भाषाओं के मिलते हैं। इतिहासकारों ने ख्वाजा मसऊद साद सलमान को हिन्दी का पहला कवि माना है। मसऊद लाहौर का रहने वाला था और अरबी फारसी का विद्वान था। लगभग 1166 ई० में लिखी गई उसकी कविताएँ उपलब्ध हैं। उसने भारतीय भाषा में भी योग्यता प्राप्त कर ली थी और एक संग्रह भी तैयार कर लिया था। उसकी भाषा को हिन्दी की संज्ञा दी जाती है। परन्तु यह कहना कठिन है कि उसकी भाषा का स्वरूप क्या था। उस समय फारसी शब्दावली में किसी भी भारतीय भाषा को हिन्दी कहते और लिखते थे। उसके हिन्दी संग्रह की चर्चा अमीर खुसरो और मुहम्मद औफी ने की है परन्तु अब वह उपलब्ध नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दुओं और मुसलमानों का मेलजोल व्यर्थ नहीं जा रहा था बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दिव्य रूप से प्रकट हो रहा था, यहाँ तक कि राजपूत राजसभाओं के कवि नरपति नाल्ह और चन्द्र बरदाई ने भी फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग किया। फिर जब दिल्ली मुसलमानों की राजधानी बनी तो मेलजोल की यह आवश्यकता और भी बढ़ गई और भाषिक घनिष्ठता का केन्द्र पंजाब से

दिल्ली आ गया तथा यहाँ की भाषाओं में सम्मिश्रण आरम्भ होने लगा।

जब लड़ाइयों, चढ़ाइयों, आक्रमणों और संग्रामों से उत्पन्न होने वाली घृणा की लहर बैठी तो हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदय में मेल-मुहब्बत के सोते फूट पड़े; जिन्होंने कला और धर्म सबको लपेट में ले लिया और उनकी भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं को एक दूसरे के समीप ला दिया। भक्ति को एक लोकप्रिय और उस समय की समस्याओं को देखते हुए प्रगतिशील आन्दोलन बनाने में, हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के भक्तों का हाथ है। जब आचार-विचार की सीमाएँ इस प्रकार निकट आ गई हों तब एक ऐसी भाषा के जन्म लेने की सम्भावना दूर नहीं रह जाती; जो मिले-जुले सामाजिक जीवन का चिह्न हों। ऐसे सामाजिक जीवन के विकास के लिए उसका निखरकर ऊपर आ जाना ही आवश्यक हो जाता है।

दिल्ली के आस-पास की खड़ी बोलियों में अरबी-फारसी के शब्द प्रवेश करते रहे; जिनका प्रयोग राजनीतिक एकता के लिए आवश्यक था। इस खड़ी बोली में जो परिवर्तन हुआ, उससे वह भाषा बनी जिसको साधारणतः 'हिन्दुस्तानी' कहा जाता है। इस हिन्दुस्तानी के दो साहित्यिक रूप हैं : (1) उर्दू जिसमें अरबी-फारसी के शब्द अधिक होते हैं और जिसे फारसी लिपि में लिखा जाता है और (2) हिन्दी जिसमें संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग होता है और जिसे देवनागरी में लिखते हैं। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि खड़ी बोली का यह रूप पहले उर्दू ही की शक्ल में निखरा और जिसने भी हिन्दुस्तानी को साहित्य के काम में लाना चाहा उसने उर्दू ही को अपनाया। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि शौरसेनी अपभ्रंश से विकास पाने वाली अन्य भाषाओं में एक उर्दू भी है। यही कारण है कि उर्दू, पंजाबी और हरियाणवी के व्याकरणों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है।

1000 ई० के बाद से भारतवर्ष में कई नयी भाषाएँ दिखाई देने लगती हैं, इस बात का अनुमान लगाना कुछ कठिन नहीं है। 200 वर्ष बीत जाने के बाद जो मुसलमान भारत में पैदा हुए होंगे और यहाँ के लोगों में घुल-मिल गए होंगे, उनकी मातृ-भाषा फारसी नहीं हो सकती थी, परन्तु धार्मिक, सांस्कृतिक कारणों से फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग अनिवार्य रहा होगा और अनुमानतः वे जिस भाषा के क्षेत्र में रहे होंगे उसी क्षेत्र की भाषा का प्रयोग करते होंगे। यह सच है कि भाषा का कोई धर्म नहीं होता, सामाजिक आवश्यकताएँ उसको प्रचलित करती हैं। यदि हम भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओं का इतिहास पढ़ें तो हमे ज्ञात होगा कि भाषा से काम लेने के सम्बन्ध में हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं था; मुसलमानों ने ब्रजभाषा और अवधी में उसी प्रकार रचनाएँ की हैं, जिस प्रकार हिन्दुओं ने। भारतीय साहित्य के इतिहास में कुतबुन, रसखान, जायसी

और रहीम के नाम उसी आदर से लिए जाते हैं, जैसे तुलसीदास, सूर और मीरा के। इसलिए उर्दू-साहित्य के इतिहास को इसी दृष्टि से पढ़ना चाहिए; नहीं तो उसका सांस्कृतिक महत्व सामने नहीं आ सकेगा।

इससे पहले कि उर्दू-साहित्य के प्रारम्भिक चिह्नों की खोज की जाए हमें यह भी देख लेना चाहिए कि प्राचीन इतिहासों में उर्दू के क्या-क्या नाम मिलते हैं; क्योंकि इसका प्रभाव उसके साहित्य के इतिहास पर पड़ता है। आरम्भ के जिन लोगों ने फारसी में भारतवर्ष के इतिहास लिखे या हिन्दुस्तान में सैर करने के लिए आए और अपनी यात्रा का हाल लिखा है, इन लोगों की पहुँच अधिकतर पंजाब, गुजरात और उत्तरी भारत तक ही थी। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि उन्होंने यहीं की भाषाओं के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया होगा। अमीर खुसरो ने भी जहाँ भारत की भाषाओं का वर्णन किया है वहाँ 'हिन्दी' और 'हिन्दुई' के अतिरिक्त 'जबाने देहली' भी लिखा है। मुहम्मद तुगलक और फिरोज तुगलक के राज्यकाल में जो इतिहास की पुस्तकें लिखी गईं, उनमे भी उत्तरी भारत की बोल-चाल की भाषा के लिए 'हिन्दुई' लिखा गया है। 14वीं और 15वीं शताब्दियों में दक्षिण में उसको 'जबाने-हिन्दुस्तान' 'हिन्दी' अथवा हिन्दुस्तानी कहा जा रहा था, कभी उसी को 'दकनी' या 'दखनी' भी कहते थे। 16वीं सदी में हर प्रान्त की अलग-अलग भाषा का वर्णन किया है और उसमें "हिन्दुई" शब्द का प्रयोग किया है। गुजरात में इसे "हिन्दी" या 'हिन्दुई', 'गुजरी', एवं 'उर्दू' तीनों नामों से सम्बोधित किया गया था। लगभग 18वीं शताब्दी के अन्त तक" उर्दू शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं मिलता, उसकी जगह रेख्ता या "हिन्दी" दो ही शब्द कवियों की जबान पर चढ़े हुए थे। "रेख्ता" संगीत का एक पारिभाषिक शब्द था, इसमें राग-रागनियाँ मिलाई जाती थीं। अधिकतर वह शब्द पद्य के लिए काम में लाया जाता था, गद्य के लिए हिन्दी ही बोलते और लिखते थे, इस प्रकार उर्दू के कई नाम मिलते हैं जिनमें से कुछ तो किसी विशेष प्रान्त या क्षेत्र में बोले जाते थे और कुछ किसी विशेष समय में। मुगलों की उन्नति के समय में महल और सेना से सम्बन्धित बाजार होते थे, वहाँ मिली-जुली बोलियाँ बोली जाती थीं, उसके लिए कभी-कभी जबाने उर्दू या जबाने उर्दू-ए-मुअल्ला का प्रयोग किया जाता था। 19वीं शताब्दी के आरम्भ से कुछ पहले साधारणतः उर्दू शब्द भाषा के अर्थ में बोला जाने लगा। उसी समय से यूरोपियन लेखकों ने इसे "हिन्दुस्तानी" कहना भी आरम्भ किया।

इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि ग्यारहवी शताब्दी में ख्वाजा मसऊद ने हिन्दी में कविताएँ लिखी थी, परन्तु उनका पता नहीं चलता। आगे बढ़ते हैं तो 12वीं और 13वीं शताब्दियों में कई सूफी-फकीर देश के कोने-कोने

में फिरते दिखाई देते हैं। यह बात बिना किसी संकोच के मानी जा सकती है कि ये लोग साधारणतः लोगों के सामने फारसी और अरबी न बोलते होंगे बल्कि किसी ऐसी भाषा से काम लेते होंगे, जो उनकी समझ में आ सके। हम यह भी समझते हैं कि उस समय कोई ऐसी बनी बनाई भाषा प्रचलित नहीं रही होगी, जिसमें वह धर्म व भक्ति के गहरे विचार सरलता से प्रकट कर सके, इसलिए उनको मजबूरन बहुत से फारसी-अरबी के शब्द बोलचाल की भाषा में मिलाने पड़ते होंगे। इस तरह के बहुत से वाक्य और कई कविताएँ मिलती हैं; जिनमें हम उर्दू की खोज लगा सकते हैं जो बन रही थी। इस सम्बन्ध में सबसे पहला नाम बाबा फरीद शंकर गंज (मृत्यु 1265 ई०) का मिलता है। भाषा विज्ञान के जानकारों ने कई दोहों को उनका नहीं माना है, परन्तु प्राचीन पुस्तकों में उनके बहुत से कथन और शेर मिलते हैं। इसी प्रकार शेख हमीमुद्दीन नागौरी (मृत्यु 1274 ई०) शेख शर्फुद्दीन बू अली कलन्दर (मृत्यु 1323 ई०) शेख शर्फुद्दीन मनेरी (मृत्यु 1324 ई०) मखदूम अशरफ जहाँगीर (मृत्यु 1355 ई०) शेख अब्दुल हक रूदौवली (मृत्यु 1433 ई०) हजरत गेसूदराज (मृत्यु 1421 ई०) सैयद मुहम्मद जौनपुरी (मृत्यु 1504 ई०), शेख बहाउद्दीन बाजन (मृत्यु 1506 ई०) शाह हाशिम अलवी (मृत्यु 1649 ई०) इत्यादि के बोल और दोहे इस बात का पता देते हैं कि 13वीं शताब्दी से फारसी-अरबी शब्दों के मेल से एक ऐसी भाषा बन रही थी, जो जनसाधारण की समझ में आ सकती थी और जिसको सूफी फकीर प्रचार के काम में लाते थे।

इन नामों में अमीर खुसरो और गेसूदराज उर्दू साहित्य के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अमीर खुसरो फारसी के महान लेखक थे और उनकी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, जो ईरान और भारत में समान रूप से आदरणीय समझी जाती हैं। उनकी पुस्तकों में भारत की बोलियों, त्यौहारों, ऋतुओं, फलों, फूलों की चर्चा की गई है। यहाँ की जलवायु, सुन्दरता और जीवन के विभिन्न रूपों को सराहा गया है। यहाँ की संगीत-कला में वह केवल निपुण ही नहीं थे बल्कि अपनी ओर से उन्होंने उसे बहुत कुछ दिया है। वे अमीर भी थे और फकीर भी। एक ओर उनकी पहुँच राजदरबार तक थी तो दूसरी ओर वह जनता के बिल्कुल निकट थे, इसलिए फारसी के अतिरिक्त उन्होंने जन भाषा में भी बहुत-सी कविताएँ, दोहे, पहेलियाँ और मुकरनियाँ लिखी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें से सभी चीजें उनकी नहीं हैं पर जो कुछ माना जाता है उनका अध्ययन किया जाए, तो ज्ञात होगा कि उन्होंने खड़ी बोली, ब्रजभाषा, मिली-जुली खड़ी और ब्रज भाषा का प्रयोग किया है। गीतों में वह अधिकतर ब्रज ही से काम लेते थे। उनके नाम से एक कविता "खालिक बारी" भी मिलती है, जिसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कि वह खुसरो लिखित है भी या नहीं।

खालिकबारी में प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची शब्द कविता के रूप में लिखे गए हैं। मध्य एशिया में बहुत से ईरानी विद्वान और व्यापारी चंगेज खाँ और तातारी-लूटेरों के आक्रमणों से डरकर भारत में प्रवेश कर आये थे। उनको यहाँ के शब्द और बोलचाल के वाक्य जानने की आवश्यकता रही होगी और यदि अमीर खुसरो ने उनके लिए एक ऐसा शब्दकोष तैयार कर दिया, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यह बात हम विश्वास से नहीं कह सकने कि हिन्दी में खुसरो की कितनी रचनाएँ हैं, पर इसमें तो बिल्कुल सन्देह नहीं कि उन्होंने दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली बोली का प्रयोग अपनी कविताओं में किया। वह एक फारसी शेर में लिखते हैं :

चु मन तूतिए-हिन्दम, अर रास्त पुसी।
जे मन हिन्दुई पुर्स, ता नग्ज गोयम॥

(मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ. अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दी में पूछो, जिसमें कि मैं तुमको अनुपम बातें बता सकूँ।)

अमीर खुसरो ने जिस भाषा को हिन्दुई कहा है, सच तो यह है कि हम उसी से हिन्दी भाषा का इतिहास भी आरम्भ कर सकते हैं। ऊपर इस बात की ओर संकेत दिया जा चुका है कि भाषा सामाजिक जीवन के आधार पर बनती है, उसका कोई धर्म नही होता। विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले जब एक दूसरे के निकट आते हैं तो शब्दों का लेन-देन आवश्यक होता है। जिस प्रकार पृथ्वीराज रासो में चन्दर बरदाई ने अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया था, उसी प्रकार फारसी कवियों ने भी यहाँ के शब्द लिए। चन्दर बरदाई ने जो शब्द लिये अगर उन पर विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि अधिकतर वही शब्द हैं जिनका कुछ सामाजिक महत्त्व था और जिनको सम्पर्क के कारण साधारण लोग भी समझने लगे थे।

अमीर खुसरो का युग खिल्जियों और तुगलकों का युग था। फिरोजशाह तुगलक के समय में भी जो ऐतिहासिक ग्रन्थ फारसी में लिखे गये, उनमें न जाने कितने शब्द भारतीय भाषाओं के लिए गये हैं जैसे "ठग" "लौडी", 'मण्डल", "ढोलक", "मण्डी", "चौधरी","घड़ियाल", "राज" 'चूना' इत्यादि। इन बातों के अतिरिक्त समकालीन इतिहासों से यह भी मालूम होता है कि पाठशालाओं में जो फरसी पुस्तकें पढ़ाई जाती थी, उनका अर्थ भारतीय भाषाओं में समझाया जाता था। इससे भी पता चलता है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल-जोल से भारतवर्ष की नवीन आर्य भाषाएँ प्रभावित हो रही थी और जिस प्रकार राजस्थानी, बुन्देली, व्रज, अवधी इत्यादि का विकास हो रहा था, उसी प्रकार

उर्दू भी अपनी जड़ें भारतवर्ष की भूमि और समाज में फैला रही थीं। उत्तरी भारत में यह भाषा बन तो रही थी, परन्तु साहित्य में उसका प्रयोग नहीं किया जा रहा था। इसके विपरीत दक्षिण भारत में उसे साहित्य के काम में भी लाया जा रहा था।

यदि हम इस भाषा के इस तेजी से बढ़ने पर विचार करें, तो उसका एक बड़ा और स्पष्ट कारण यह प्रतीत होता है कि दिल्ली की फौजों में हर स्थान के लोग होते थे, उनमें हिन्दू भी होते थे, और मुसलमान भी, वे एक जगह से दूसरी जगह आते-जाते रहते थे, उनमें से अधिकतर राजभाषा से, जो फारसी थी, और संस्कृत से जो यहाँ के अधिकतर लोगों की धर्म-भाषा थी, अपरिचित थे। इसलिए उनके आपसी व्यवहार का माध्यम बोल-चाल की कोई ऐसी भाषा हो सकती थी, जिसमें आवश्यकता के अनुसार फारसी, अरबी और संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी होता हो, किन्तु जिसका मूल-आधार केन्द्रीय क्षेत्रों की बोल-चाल की भाषा हो। दिल्ली के राजधानी होने के कारण खड़ी बोली के सिवा यह और कोई नहीं हो सकती थी। उस पर पंजाबी, हरियाणवी और ब्रज का प्रभाव पड़ना भी अनिवार्य था।

उर्दू के बनने और फैलने का दूसरा बड़ा कारण यह था कि मुसलमान बादशाहों ने यहाँ प्राचीन ग्रामीण जीवन और भूमिका के नियमों को साधारणतः वैसा ही रहने दिया। कुछ नये कर तो अवश्य बढ़ा दिये, लेकिन जनसमूह की आर्थिक स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। इसका मतलब यह है कि शासन प्रबन्ध चलाने और कर वसूल करने के लिए उन्हें गाँव के मुखिया और स्थानीय कर्मचारियों पर निर्भर होना पड़ा। ये लोग राजदरबार की फारसी भाषा और जनता की स्थानीय भाषाओं के बीच में एक कड़ी का काम करते थे और अगर एक ओर वह कभी-कभी फारसी पारिभाषिक शब्दों से काम लेते थे, तो दूसरी ओर स्थानीय शब्दों का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करते थे, इस प्रकार वे सामग्रियां एकत्रित हो गईं जो एक नई भाषा में शक्ति पैदा करती हैं और उसके क्षेत्र को विस्तृत करके उसका स्वभाव इस प्रकार का बनाती हैं कि वह अपनी आवश्यकताओं को देखते हुए दूसरी भाषाओं से शब्द लेकर अपना काम चलाये।

उर्दू के क्षेत्र के निकट पंजाबी थी, जिसमें बहुत दिनों तक थोड़ी-सी कहावतों और दोहों को छोड़ किसी प्रकार के साहित्य का पता नहीं चलता। यही हाल हरियाणवी का भी था। राजस्थानी बोलियों में अवश्य राजपूत राजाओं के दरबार में काफी साहित्य इकट्ठा हो गया था, परन्तु दूसरी भाषाओं की उन्नति के सामने वह काफी दब-सा गया। ब्रज भाषा ने 16वीं और 17वीं शताब्दी में महत्त्वपूर्ण उन्नति की और उसकी चलाई हुई परम्पराओं ने 20वीं शताब्दी के

आरम्भ तक कवियों को प्रभावित किया। बुन्देली में कुछ प्रबन्ध काव्य मिलते हैं जिनके समय के बारे में मतभेद है। अवधी ने ब्रजभाषा के ही समान 16वीं और 17वीं शताब्दी में असाधारण प्रगति की। बंगला और उड़िया में भी उसी समय से साहित्य मिलने लगता है। मराठी में 13वीं और 14वीं शताब्दी में भक्तों ने काव्य का एक प्रभावशाली भण्डार एकत्र कर दिया। इस प्रकार यह बात निश्चित हो जाती है कि जिन आधुनिक आर्य भाषाओं का उद्भव 11वीं शताब्दी में हुआ था, उनमें साहित्य उस समय पैदा होना आरम्भ हुआ, जब मुसलमान यहाँ कई सौ वर्ष तक रह चुके थे। इनमें से कई भाषाओं में उनकी रचनाएँ मिलती हैं, जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि फारसी के अतिरिक्त वे स्थानीय भाषाओं में भी लिखते थे और यद्यपि वे धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों से फारसी और अरबी जानने की चेष्टा भी करते थे पर यह बात सब के लिए सम्भव न थी।

दक्षिण में उर्दू-साहित्य

यह कहना कठिन नहीं होगा कि दक्षिण भारत सदैव उत्तरी भारत से अलग रहा, इसलिए इनमें यह पृथकता पायी जाती है, क्योंकि प्रारम्भिक आर्य प्रभाव के बाद बुद्धमत का प्रचार भी उत्तर की ही ओर से हुआ और 6वीं-7वीं शताब्दी से दक्षिण भारत के बड़े भाग में जो राज्य स्थापित हुए, उनकी जड़ भी उत्तरी भारत ही में मिलती है। प्रसिद्ध चालुक्य वंश वाले उत्तर ही से वहाँ पहुँचे थे। यही बात यादव वंश के लिए भी कही जाती है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुसलमानों के आने से पहले भी दक्षिण भारत के निवासी उत्तरी भारत की बोलियों से अपरिचित नहीं थे। जब आधुनिक आर्य भाषाओं का युग प्रारम्भ हुआ, उसके दो सौ वर्ष के अन्दर ही मुसलमान उत्तर से दक्षिण में पहुँच गए और उस पुराने सम्बन्ध ने एक नया रूप धारण कर लिया।

मुसलमान बादशाहों में सबसे पहले अलाउद्दीन खिल्जी की सेनाएँ दक्षिण भारत में पहुँची और दिल्ली के केन्द्रीय राज्य का क्षेत्र नीचे दूर तक फैल गया। यह 13वीं शताब्दी थी। मुसलमान सेनाएँ, कर्मचारी, पेशे वाले और उत्तर भारत के लोग अपने साथ वह मिली-जुली भाषा भी दक्षिण ले गये, जो अभी भली-भाँति बन भी नहीं पाई थी। यह तो सभी जानते हैं कि महाराष्ट्र को छोड़कर (जहाँ एक आर्य भाषा बोली जाती थी) सारे दक्षिण में द्रविड़ भाषाएँ प्रचलित थीं। उन प्राचीन भाषाओं में साहित्य भी उपलब्ध था। ये भाषाएँ आर्य भाषाओं से इतनी भिन्न थी कि इनके सम्पर्क से कोई नयी भाषा जन्म नहीं ले सकती थी, इसलिये उत्तर भारत के जो सैनिक, कर्मचारी, उनके परिवार, व्यापारी, सूफी फकीर वहाँ बस गये थे वे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये आर्य भाषा

का ही प्रयोग कर सकते थे, जिसे वे दिल्ली से अपने साथ लाये थे। इस भाषा में पंजाबी, हरियाणवी, और खड़ी बोली का मेल था। यह ब्रजभाषा के प्रभाव से बची नहीं थी और सबसे बड़ी बात यह थी कि इसमें फारसी-अरबी के अनेक शब्द भी सम्मिलित हो गये थे। इतिहास से पता चलता है कि आरम्भ में उन्होंने उसी भाषा से काम चलाया, यहाँ तक कि उन्नति करके यह साहित्य की भाषा बन गयी। साहित्यकारों ने उसको कभी "हिन्दी" कभी "जबाने-हिन्दुस्तान" कहा और कभी 'दकनी' कहकर पुकारा।

दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना, जो दक्षिणी भारत में उर्दू के फैलाने में सहायक सिद्ध हुई वह मुहम्मद तुगलक के काल में हुई, जब मुहम्मद तुगलक ने देवगिरी को अपनी राजधानी बनाया और दिल्ली के अधिकांश वासियों को वहाँ जाना पड़ा। राजनीतिक दृष्टि से यह घटना जैसी भी हो, भाषा निर्माण की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई, क्योंकि महाराष्ट्री और द्रविड़ भाषाओं के बीच में उत्तरी भारत की एक बोली धार्मिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से साहित्यिक रूप धारण कर रही थी। सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि उस समय तक उत्तर भारत में जहाँ उस भाषा ने जन्म लिया था उसका अपना उल्लेखनीय साहित्य नहीं था। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना चाहिए कि यह हिन्दुस्तानी भाषा अधिकतर शहरों और कस्बों तक ही सीमित थी। दक्षिण में मुसलमानों के बस जाने से यह भी हुआ कि मराठी पर फारसी का गहरा प्रभाव पड़ा और वहाँ के हिन्दू संतों और मुसलमान सूफियों की प्रेममार्गी धारणा में भी एक प्रकार का सामंजस्य दिखाई देने लगा परन्तु द्रविड़ बोलियाँ न तो उर्दू-फारसी से प्रभावित हुईं और न उन्होंने विशेष रूप में इस विकसित होती हुई उर्दू या "दकनी उर्दू" को ही प्रभावित किया। यह प्रभाव अधिकतर शब्दों के उच्चारणों में देखा जा सकता है, भाषा के साहित्यिक रूप में बहुत कम दिखाई देता है।

14वीं शताब्दी के मध्य में जब तुगलक बादशाह निर्बल हो रहे थे, दक्षिण भारत में फिर जान आई और वह उत्तर के केन्द्रीय राज्य से अलग हो गया तथा वहाँ बहमनी राज्य स्थापित हुआ। यह राज्य उत्तरी भारत के राज्यों के देखते हुए बहुत कुछ भारतीय रंग रखता था। उत्तर भारत, ईरानी और अरबी संस्कृति से प्रभावित था, पर दक्षिण इससे बहुत कुछ मुक्त था, इसीलिये वहाँ एक भारतीय आर्य-भाषा को विकास का अच्छा अवसर मिला। अगर प्रसिद्ध इतिहास "तारीखे-फरिश्ता" की बात मानी जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि कई बहमनी बादशाहों ने प्रशासन एवं राज्य कार्यालयों में हिन्दी भाषा को माध्यम बनाया था। इसका अर्थ यह हुआ कि 14वीं शताब्दी का अन्त होते-होते वहाँ उर्दू भाषा प्रचलित हो गयी थी। इसके फैलने के जहां और कारण थे वहाँ एक बड़ा कारण

यह भी था कि कई सूफी फकीरों ने अपने विचार इसी भाषा में प्रकट किये; जिससे कि उनके मानने वाले, जो अरबी और फारसी से अनभिज्ञ थे, उनके विचारों को समझ सकें। साहित्य के रूप में उस समय जो कुछ मिला है वह इन्हीं सूफियों की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में पद्य भी हैं और गद्य भी।

सबसे पहला नाम जिससे दकनी उर्दू साहित्य का आरम्भ किया जा सकता है, ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज का है। वह दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी फकीर निज़ामुद्दीन औलिया के खलीफा ख्वाजा नसीरुद्दीन चिराग देहली के प्रमुख शिष्य और खलीफा थे। उनके मानने वालों की संख्या उत्तरी भारत में बहुत थी परन्तु अपने मत का प्रचार करने के लिये सन् 1399 ई० के लगभग गुलबर्गा चले आये और वहीं रह गये। गेसूदराज बहुत बड़े विद्वान व्यक्ति थे, फारसी अरबी में उनकी कई पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। दक्षिण में भी उनका बड़ा मान हुआ और उनके मानने वालों की संख्या बढ़ने लगी। अपने समुदाय और साधारण जनता के लिये वह अपने विचार हिन्दी में प्रकट किया करते थे। उन्हीं की सुविधा के लिये उन्होंने उस भाषा में कुछ लिखा भी, पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी, उर्दू या दकनी में उनकी कितनी रचनाएँ हैं। कोई पचास वर्ष पूर्व उनकी एक पुस्तक "मेराजुल-आशकीन" मिली और उसे उर्दू की पहली गद्य पुस्तक मानकर प्रकाशित किया गया। कई विद्वानों को इसमें सन्देह है कि यह गेसूदराज की रचना है, बल्कि यह समझा जाता है कि उनके विचारो को कुछ दिन बाद किसी अन्य व्यक्ति ने संग्रहीत कर दिया। जो पुस्तक प्रकाशित हुई है उसकी पांडुलिपियाँ और मिल गई हैं, जिनमें बहुत अन्तर है, इसके अतिरिक्त उनकी दो छोटी-छोटी पुस्तकें और मिल गयी हैं। 'शिकार नामा" और "तिलावतुल वजूद"। लगभग आठ पुस्तकें उनके नाम से सम्बन्धित की जाती हैं किन्तु किसी के विषय में निश्चित रू से नहीं कहा जा सकता कि वह उन्हीं की उर्दू-कृतियाँ हैं। गेसूदराज की पुस्तकों की भाषा खड़ी बोली है, जिस पर पंजाबी और ब्रज का प्रभाव भी दिखता है। 'शिकार-नामा" की विषय वस्तु और शैली उस काल के महाराष्ट्रीय सन्तों से भी प्रभावित जान पड़ती है। इन कृतियों में सगुण एवं निर्गुण विचारधाराओं को इस्लामी सूफीयत की शब्दावली में प्रस्तुत किया गया है। यदि "मेराजुल-आशकीन" को उन्हीं की पुस्तक मान लें तो यह उर्दू की पहली पुस्तक कही जायेगी जो 1422 ई० के पूर्व लिखी गयी। इस छोटी-सी रचना का विषय धर्म और भक्ति का गूढ़ ज्ञान है।

उर्दू गद्य ही नहीं पद्य की कुछ रचनाएँ भी उनके नाम से सम्बन्ध की जाती हैं, परन्तु विश्वस्त रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। हाँ, सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि गेसूदराज के परिवार के कई ऐसे व्यक्ति हुए, जिन्होंने इसी भाषा में इसी प्रकार की रचनाएँ कीं।

गेसूदराज के पोते अब्दुलाह हुसैनी, सुविख्यात सूफी थे, उन्होंने प्रसिद्ध पुस्तक "निशातुल-इश्क" का अनुवाद उर्दू में किया। उसी समय के एक कवि "निजामी" ने एक मसनवी "कदमराव और पदम" लिखी। इस प्रकार उर्दू साहित्य का आरम्भ तो हो गया, परन्तु इसकी वास्तविक उन्नति बीजापुर और गोलकुण्डा की उन्नति के साथ हुई। यह युग उत्तरी भारत में मलिक मुहम्मद जायसी, तुलसी और सूर के प्रकाशमान होने का है जिनकी अभिव्यक्ति की भाषा अवधी और ब्रज थी। खड़ी बोली अपने क्षेत्र से निकलकर उसी समय कुछ ऐतिहासिक कारणों से दक्षिण भारत में अपने लिए एक स्थान बना रही थी।

दक्षिण में जिस साहित्य का विकास हो रहा था और उसमें जिस संस्कृति का रंग झलकता था, उस पर भारतीयता की गहरी छाप थी। वहाँ के कवियों की रचनाएँ स्थानीय रंग से मालामाल हैं। अपने केन्द्र से दूर उर्दू जो उन्नति कर रही थी, उसके कई कारण जान पड़ते हैं। सबसे बड़ा कारण यह मालूम होता है कि दकनी राज्यों के सम्राट दिल्ली से दूर रहकर केवल एक स्वतन्त्र और स्वाधीन राज्य की स्थापना करने ही के लिये उत्सुक न थे, बल्कि कला, कौशल साहित्य, रहन-सहन और जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी अपना मार्ग अलग बनाना चाहते थे। इसके लिये वे साधारभ जीवन के निकट गये। इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न दकनी राज्यों के शासक भी भारतवर्ष के बाहर की जातियों से संबंध रखते थे, परन्तु उन्होंने मुगल सम्राट अकबर से पहले ही हिन्दुओं के साथ आपस की शादी-विवाह और नातेदारी से मित्रता के सूत्र को प्रबल बनाना चाहा। इसके अतिरिक्त उनके कई परिवार चिरकाल से दक्षिण में बस जाने के कारण वहाँ के रहन-सहन और रीति-रिवाज से पूर्णतः परिचित थे। और एक कारण जिसकी ओर संकेत करना आवश्यक है, यह है कि एक निरंकुश शासन में बहुत कुछ बादशाह की इच्छाओं पर निर्भर होता है, वे जिस प्रकार के कला-कौशल को पसन्द करते हैं, जनता में उसी का प्रचार होने लगता है, उसकी व्यक्तिगत इच्छाएँ राजदरबार से सम्बन्ध रखने वाले कर्मचारियों और कवियों पर छा जाती हैं। दक्षिण के कई बादशाहों ने स्वयं उर्दू, ब्रज और तेलगू में लिखना अपने लिये गर्व की बात समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ के कवियों ने भी भारतीयभाषाओं में अपने विचार प्रकट करने प्रारम्भ किये। इतिहासकारों ने यह कारण भी बताया है कि भारत पर उत्तर-पश्चिम से जो आक्रमण होते थे, उनका दबाव दक्षिण भारत तक आते-आते समाप्त हो जाता था। इसलिए वहाँ के लेखक और कलाकार थोड़ा-बहुत ईरानी प्रभाव से बच जाते थे और अपने ही साधनों से काम लेकर अपनी ही भाषा का प्रयोग करते और उसी में रचनाएँ तैयार करते थे। यूँ हम देख सकते हैं कि दिल्ली से दूरी, राज कार्यालय का हिन्दुस्तानी भाषा में काम करना, हिन्दू-मुसलमानों के मेल-जोल, शान्ति, सूफी

फकीरों की उपस्थिति और अन्य कारणों ने दक्षिण में उर्दू को फलने-फूलने का महत्वपूर्ण अवसर दिया।

जब बहमनी राज्य के टुकड़े हो गये, तो आदिलशाही वंश ने 1490 ई० में बीजापुर में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया, जिसमें आठ बादशाह हुए। इनमें से कई अत्यन्त विद्वान एवं कुशल प्रशासक सिद्ध हुए। वे स्वयं सुयोग्य थे तथा अपने दरबार के महान विद्वानों की संगति में आनन्द प्राप्त करते थे। अभी सूफी फकीरों का युग भी समाप्त नहीं हुआ था, अतएव एक महत्त्वपूर्ण नाम "शाह मीरानजी" का मिलता है, जो अपनी भक्ति और योग्यता के कारण 'शमसुलउश्क" भक्तों के सूर्य कहे जाते थे। वह सन् 1497 ई० तक जीवित रहे। उन्होंने अपने जीवन काल में कई रचनाएँ उर्दू में की, जिनके अध्ययन से उस समय की भाषा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उनकी सभी रचनाएँ सूफी मत के सिद्धान्तों और व्यवहारों का उल्लेख करती हैं। उन्होंने अपनी भाषा को स्वयं हिन्दी कहा है और इस सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि मेरी ये रचनाएँ उन लोगों के लिये हैं, जो अरबी-फारसी नहीं जानते। इनमें "शहादतुल-हकीकते" "खुश-नामा" और "शहरे-मरगूबुल" प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण हैं। अन्तिम रचना गद्य में है। इसमें भी सूफी मत के गूढ़ ज्ञान बताये गये हैं।

उनकी रचनाओं में केवल प्रेम, भक्ति या धर्म की बातें ही नहीं हैं, वरन् साहित्य की दृष्टि से भी उन्होंने महत्वपूर्ण रचनाएँ हमारे लिये छोड़ी हैं।

मीरानजी के पुत्र बुरहानउद्दीन "जानम" भी बहुत बड़े सूफी गिने जाते हैं। इनकी मृत्यु 1582 ई० के लगभग हुई। उन्होंने अपनी सभाओं की भाषा को किसी स्थान पर "गूजरी" (गुजराती-उर्दू) कहा है और कहीं 'दकनी"। उनकी अधिकतर रचनाएँ कविता के रूप में मिलती हैं और सभी तसौव्वुफ के विषय में सम्बन्ध रखती हैं। उनकी कविताओं का बहुत-सा भाग यूरोप और हैदराबाद के पुस्तकालयों में मिल गया है; जिसके अध्ययन से पता चलता है कि उनकी भाषा सरल है और उनकी कविताएँ विषय के गम्भीर होने पर भी काव्य-सौन्दर्य से परिपूर्ण है। उनकी पुस्तकों में "सुख सहेला", ' वसीवतुल-हादी" "इरशादनामा" प्रसिद्ध हैं।

बुरहानउद्दीन "जानम" हिन्दी छन्दों का प्रयोग करते थे और अपनी बात समझाने के लिये प्रचलित हिन्दू-मुस्लिम कथाओं से काम लेते थे। उनकी गद्य रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमें कलम-तुल-हकायक" सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

शाह बुरहान के सुपुत्र और उत्तराधिकारी अमीनुद्दीन आला हैं। वह भी अपने पूर्वजों के बताए हुए मार्ग पर चले और तसौव्वुफ में अपनी रचनाएँ छोड़ गये हैं। उनकी मृत्यु 1675 ई० में हुई। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ

कीं हैं जिनके अध्ययन से यह मालूम होता है कि वह अपने पिता तथा बाबा से बड़े कवि थे। उनकी गद्य रचनाएँ भी उनकी कविता ही की भाँति महत्त्व रखती हैं। "हिनत्रामा" और "ममुजुस-सालिकीन" उनकी प्रसिद्ध काव्य रचना है। इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि जितनी रचनाएँ हमको पुराने लेखकों के नाम से मिलती हैं उनके विषय में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वे उन्हीं की हैं। पर जहाँ तक आज की खोज पहुँची है, उन्हीं के आधार पर ये बातें कही जा रही हैं। जब कभी उर्दू साहित्य का विस्तृत इतिहास लिखा जायेगा, उस समय उनकी रचनाओं, उनकी भाषा और उनके विचारों पर विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा। अमीनउद्दीन आला की गद्य रचनाओं में "गंजेमखफी" और "वजुदिया" बहुत मशहूर हैं। इनमें भी हिन्दू-मुस्लिम सूफी विचारों का ऐसा समन्वय मिलता है कि एक दूसरे के धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों को पूरी तरह अलग करना बहुत कठिन है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि आदिलशाही बादशाहों में से कई एक स्वयं उर्दू में लिखते-पढ़ते थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (1580-1629 ई०) है। वह दकनी भाषा और उसकी कविता से प्रेम ही नहीं रखता था बल्कि भारतवर्ष की संगीत कला में भी निपुण था। उसने भारतीय रागों पर आधारित एक कविता "नवरस" के नाम से लिखी है, जिसकी विशेषता यह है कि एक ओर तो संगीत शास्त्र की दृष्टि से एक अनुपम कृति है, दूसरी ओर साधारण दकनी उर्दू को छोड़कर इब्राहीम ने इसमें ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। कहा जाता है कि जब उसने यह पुस्तक लिखने का विचार किया, तो उत्तर भारत से विद्वानों को बुलाकर पहले इस भाषा का अध्ययन किया, उसके पश्चात् इस पुस्तक की रचना की। यह बात स्पष्ट है कि उसकी ब्रजभाषा उसी युग की उत्तर भारत की ब्रजभाषा से भिन्न है; क्योंकि उसने जगह-जगह अरबी-फारसी शब्दों से भी काम लिया है। यह 16वीं शताब्दी के अन्त या 17वीं शताब्दी के आरम्भ में लिखी गई होगी। "नवरस" की भूमिका फारसी के सुप्रसिद्ध कवि और लेखक "जहूरी" ने लिखी; जो आज 'सेहनस्त्र" के नाम से फारसी की क्लासिकल पुस्तकों में गिनी जाती है। इस काव्य संग्रह को डाक्टर नजीर अहमद ने 'किताबे-नौरस" के नाम से प्रकाशित किया। इसकी अंग्रेजी में भी टीका छप गयी है। इसके अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि 16वी शताब्दी में हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता का समन्वय बड़ी तेजी से हो रहा था। इन कवियों के यहाँ कृष्ण, लक्ष्मी, सरस्वती का उल्लेख भी उसी प्रकार से होता है, जैसे मुस्लिम महात्माओं का। इब्राहीम के राजदरबार की समस्त व्यवस्था उर्दू में होती थी और बहुत से कवि उसके दरबार से सम्बन्धित थे। इब्राहीम के बाद मुहम्मद आदिलशाह राज-सिंहासन पर बैठा। वह और उसकी धर्म-पत्नी दोनों को

कवियों से अत्यन्त प्रेम था और बहुत से कवि उनके चारों ओर एकत्रित हो गये थे जिनमें "रुस्तमी मलिक खुशनूद" "दौलतशाह", "अब्दुल" और "मुकामी" के नाम याद रखने योग्य हैं।

बीजापुर की भाँति गोलकुण्डा में भी उर्दू साहित्य की बड़ी उन्नति हुई और लेखकों का एक बड़ा समूह एकत्र हो गया। गोलकुण्डा के कुतुबशाही वंश ने 1508 ई० में एक स्वाधीन राज्य स्थापित किया और वहाँ के कई शासकों ने उसे एक सबल और प्रगतिशील राज्य बनाने में बड़ा भाग लिया। उर्दू साहित्य के विकास की दृष्टि से यहाँ का 16वीं शताब्दी का अन्तिम समय महत्त्वपूर्ण है। इस वंश के आठ बादशाहों में अन्तिम चार स्वयं उर्दू के बड़े कवि और कवियों के आश्रयदाता थे। गोलकुण्डा का पाँचवाँ बादशाह मुहम्मद कुली कुतुबशाह 1580 ई० में राजसिंहासन पर बैठा, वह उर्दू का एक महान कवि था। कहा जाता है कि उसने एक लाख से अधिक शेर लिखे जिनमें से अधिकतर दकनी उर्दू में हैं, कुछ फारसी में और कुछ तेलगू में। उसकी माँ तेलांगाना की रहने वाली थी और वह उस भाषा से भली-भाँति परिचित थी। कुतुबशाह तेलगू में "तुर्कमान" के नाम से कविताएँ लिखता था; परन्तु अभी तक उसकी तेलगू कविता के सम्बन्ध में कुछ मालूम नहीं हो सका है। वह उर्दू का पहला कवि है, जिसके संग्रह की कई पांडुलिपियाँ भारत और यूरोप के पुस्तकालयों में पायी जाती हैं। उसका काव्य –संग्रह थोड़े दिन हुए हैदराबाद से प्रकाशित भी हो चुका है

मुहम्मद कुली एक प्रमुख सैनिक योद्धा होने के साथ-साथ एक बड़ा लेखक भी था। उर्दू का वह पहला कवि है, जिसके प्रति निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसने भारतीय जीवन की इन्द्र धनुषी प्रकृति में डूबकर कविताएँ लिखीं। जिस प्रकार उसे मुसलमानों के त्यौहारों ईद, शबरात इत्यादि से प्रेम है उसी प्रकार बसन्त, दीवाली और होली के मनोरंजनों में भी भावपूर्वक सम्मिलित होता है। उसकी कविताएँ स्थानीय रंग में इतनी डूबी हुई हैं कि उसके संग्रह से उस समय के धर्म-विचार, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद और जीवन की अन्य समस्याओं के विषय में बहुत कुछ ज्ञात हो सकता है। उसने अपनी 12 प्यारियों (प्रेमिकाओं) की सराहना में बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं, उनके नख-शिख और सुन्दरता का वर्णन हिन्दी और संस्कृत शृंगार रस कवियों की याद दिलाता है। कहा जाता है कि बादशाह होने से पूर्व अपनी जवानी में उसे "भाग्यमती" नामक किसी स्त्री से प्रेम हो गया था। सिंहासन ग्रहण करने पर उससे विवाह कर लिया और "हैदरमल" के नाम से सम्बोधित करके उसी के नाम पर हैदराबाद का नगर बसाया। उसकी कविताओं में भाग्यमती के प्रति उसके अथाह प्रेम का पता चलता है। उसके जीवन की सभी घटनाएँ उसमें जगह पाती हैं। उसकी

रचनाओं में देश के फलों-फूलों, रीति-रिवाज का वर्णन देखकर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि दक्षिण भारत में हिन्दु-मुस्लिम संस्कृति का सम्मिलन कितने आकर्षक ढंग से हो रहा था और केवल साधारण लोग ही नहीं बादशाह भी उससे प्रभावित थे।[56]

संस्कृत साहित्य—मुसलमान आक्रमणकारी संस्कृत के प्रति रुचि रखते थे। फारसी के विद्वान अलबरूनी को संस्कृत का अच्छा ज्ञान था और उसने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद फारसी भाषा में किया था। अलबरूनी के बाद फिरोज तुगलक के शासन काल तक हमें किसी भी ग्रन्थ के अनुवाद का वर्णन नहीं मिला। फिरोज तुगलक को नगरकोट के आक्रमण के समय एक संस्कृत पुस्तकालय प्राप्त हुआ था। सुल्तान ने मौलाना इज्जुद्दीन घली दखानी को दर्शन शास्त्र के ग्रन्थों का अनुवाद करने की आज्ञा दी थी। अनूदित ग्रन्थ का नाम "दलायत-ए-फिरोज-शाही" रखा गया था। इसी प्रकार सिकन्दर लोदी के शासन काल में एक आयुर्वेदिक ग्रन्थ का अनुवाद किया— गया जिसका नाम "तिब्ब-ए-सिकन्दरी" रखा गया था।

श्री अजीज अहमद के अनुसार संस्कृत साहित्य द्वारा मुसलमानों की उपस्थिति में भी हिन्दू धर्म तथा बुद्धिवादिता बढ़ती रही। वह राजपूत राजाओं के संरक्षण में दक्षिण भारत और उड़ीसा में लिखी जाती रही। मुसलमानों ने भी अकबर से पहले संस्कृत को कुछ संरक्षण प्रदान किया। महमूद गजनवी ने पराजित कालिन्जर के चन्देल राजा को उसके सम्मान में कविता लिखने पर सम्मानित किया। गजनी को नष्ट करने वाले अलाउद्दीन जहानसुज (Jahansuj) के राजदरबार में केदार (1150 ई०) उपस्थित हुआ था, ऐसा कहा जाता है। अलाउद्दीन खिल्जी शायद पहला मुस्लिम सुल्तान था जिसने हिन्दू विद्वता तथा संस्कृत के अध्ययन में रूचि प्रदर्शित की थी। मुहम्मद बिन तुगलक का काल चरम सीमा का था जब उसने हिन्दू विद्वानों में पूर्ण रुचि ली। उसने हिन्दू योगियों की संगति का आनन्द लिया और जैन मुनियों को संरक्षण प्रदान किया। इसी के काल में जिया अल-दीन नखसाबी (Nakhshabi) ने (1330) बावन (52) लघु कहानियां की संस्कृत पुस्तक से फारसी में 'तुतीनामा" के नाम से अनुवाद किया।

फिरोज के धार्मिक विचारों के बावजूद भी संस्कृत को राजकीय संरक्षण मिलता रहा। उसके काल में संस्कृत से फारसी में चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकों का अनुवाद हुआ। उसके काल में खगोल विद्या पर संस्कृत से फारसी में अनूदित एक पुस्तक "दला-इल-ई-फिरोजशाही" (Dala-il-Firuj Shahi) लिखी गई जबकि दूसरी पुस्तकें संगीत तथा कुश्ती पर लिखी गयीं।

काश्मीर के सुल्तान जया-नअल-आबदीन के काल में संस्कृत विद्वता को

समझने तथा संरक्षण देने के सबसे अधिक प्रयत्न किये गये। इसने राजतरंगिणी का संस्कृत से अनुवाद कराया। उसके पास हिन्दू विद्वान तथा चिकित्सा शास्त्री श्री भट्ट भी था। उसने महाभारत का कश्मीरी में अनुवाद का कार्य भी प्रारम्भ किया।[56]

बंगला साहित्य

बंगाल के मुस्लिम शासक बंगला भाषा अच्छी तरह से बोल और समझ सकते थे। गौंड के सुल्तान नुसरत शाह ने महाभारत का अनुवाद बंगला में कराया। विद्यापति ने इस सुल्तान तथा गयासुद्दीन की अपने ग्रन्थ में प्रशंसा की थी। कृतिवास द्वारा किया गया रामायण का बंगला अनुवाद बहुत ही लोकप्रिय हुआ था। इस विद्वान को गौंड के शासकों के यहाँ आश्रय मिला था। सुल्तान हुसैन शाह के शासन काल में महाभारत का बंगला-अनुवाद कविन्द्र परमेश्वर ने किया।

काजी अब्दुल वदूद के अनुसार सुयोग्य विद्वानों के अनुसार बंगला का प्रारम्भ असमिया, उड़िया और मैथिली की ही भाँति पूर्व-प्राकृत से हुआ, जो कि भारतीय भाषाओं के बड़े परिवार की एक शाखा है। ज्यों-ज्यों इस भाषा का विकास होता गया, उसने अपने भीतर कई अनार्य तत्त्वों को समो लिया। न केवल शब्दावली, अपितु कल्पना चित्र और विचारों में भी बहुत-सी अनार्य बातें घुल-मिलकर एक होने लगीं।[57]

डॉ० श्रीकुमार बैनर्जी के अनुसार किसी भी साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन होता है कि उसका समारम्भ कब हुआ। उसके उद्भव का प्रश्न अविच्छेद्य रूप से भाषा के विकास के प्रश्न से जुड़ा रहता है और यह सर्वविदित है कि कोई भाषा एक दिन में नहीं बन जाती।[58]

काजी अब्दुल वदूद के अनुसार जहाँ तक पता चलता है, इसके साहित्य का सबसे पुराना नमूना 'चर्या' गीत है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री बड़े प्राच्य-विद्याविद थे। उन्होंने नेपाल के सरकारी पुस्तकालय में से इनका पता लगाया और 1916 ई० में उन्हें प्रकाशित किया। 'चर्या' गीतों का समय लगभग 1000 1200 ई० माना जाता है; यद्यपि कुछ विद्वान उन्हें 8वीं शती ई० तक पीछे ठेलना चाहते हैं। सच कहा जाय तो ये गीत साहित्यिक रचनाएँ न होकर महायान बौद्ध धर्म की शाखा के आचार्यों के संकेतात्मक उपदेश है। जो लोग योग-विद्या सीखना चाहते थे, उनके दिशा-निर्देश के लिये ये उपदेश हैं। इन गीतों और बंगाल के 19वीं शती के बाउल नामक रहस्यवादी घुमक्कड़ों के के गानों में बड़ी विचित्र समानता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मानव-धर्म पर अपने हिबर्ट भाषणों' में इन बाउलों का उल्लेख किया था।[59]

डॉ० श्रीकुमार बैनर्जी के अनुसार मुसलमानों के बंगाल विजय से परोक्ष-रूप में किसी हद तक बंगला साहित्य के विकास में सहायता मिली क्योंकि इस घटना ने प्रदेशीय साहित्यों और विषयों को उभारने का अवसर दिया।[60]

लेखिका कल्याणी दास गुप्ता के अनुसार रामायण बंगाल का सर्वाधिक प्रिय ग्रन्थ है। आदि-कवि बाल्मीकि की संगीत रचना कृतिवास ओझा के स्वर में बंगला भाषा में झंकृत हुई है। बंगाल में यही रामायण कथा दीन की कुटिया से लेकर राजपुरी तक विशेष शक्ति और अनुराग के साथ सुनी तथा पढ़ी जाती है।

15वीं शताब्दी में कंस तथा गणेश अथवा उनके पुत्र यदु के अतिरिक्त कोई हिन्दू राजा नहीं हुआ। यदु ने भी किसी कारणवश मुसलमान अर्थात् इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया। इसलिए कृतिवास ने कंस अथवा यदु के आदेश से रामायण की रचना की होगी। ऐसा अनुमान लगाना असंगत नही है।'[61]

डॉ० श्रीकुमार बनर्जी के अनुसार कृतिवास ने तो सम्भवतः अपनी रामायण एक हिन्दू राजा के आश्रय में रहकर रची थी पर पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक और यशस्वी कवि मालाधर बसु ने (जो वर्दमान के निकट स्थित कुलीन ग्राम के निवासी थे) बगाल के एक मुसलमान अधिपति रुकनुद्दीन बरबक शाह के संरक्षण में अपनी काव्य-कृति 'श्रीकृष्ण विजय' अथवा 'गोविद विजय' की रचना की। यह बड़े ऐतिहासिक महत्त्व की बात है। मुसलमान विजेताओं की तरह इस देश में आये थे पर शासक जाति के रूप में यहाँ बस जाने पर उन्होंने विजित जनता के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विचारों एवं चिन्ताओं से अवगत होकर उनके निकट सम्पर्क में आने की आवश्यकता अनुभव की। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए कुछ मुसलमान शासकों ने हिन्दू कवियों को आश्रय देकर अपनी समृद्ध परम्पराओं के अक्षय भण्डार-संस्कृत ग्रन्थों को बंगला में अनूदित करने की प्रेरणा दी।[62]

लेखिका कल्याणी दास गुप्ता के अनुसार बंगला में भागवत का अनुवाद कम ही हुआ है। यह कहा जा सकता है कि मालाधर बसु द्वारा रचित 'श्रीकृष्ण विजय" भागवत का प्रथम अनुवाद है। वर्द्धमान जिले के कुलीन ग्राम के विख्यात बसु-परिबार में मालाधर बसु का जन्म हुआ था। मालाधर बसु ने अपनी कवि प्रतिभा के फलस्वरूप गौडेश्वर युसुफ शाह से गुणराज खान की उपाधि प्राप्त की थी।

डॉ० सुकुमार सेन कहते हैं 'रुकनुद्दीन शाह (1460 से 1474 ई०) से उन्हें उपाधि मिली थी। 'परन्तु 'श्रीकृष्ण विजय' 1480 ई० अथवा 1481 ई० में समाप्त हुई थी। उस समय गौडेश्वर थे युसुफ शाह। शमशुद्दीन युसुफ शाह का शासनकाल 1474 से 1481 ई०तक था। हो सकता है कि 'श्रीकृष्ण विजय'

लिखने से पहले ही उन्हें उपाधि मिल गई थी।

यह बंगला काव्य ग्रन्थ सन् और तिथियुक्त प्रथम रचना है। बंगाल के कवि साधारणतया रचना-काल का उल्लेख करने में उदासीन थे, परन्तु मालाधर बसु ने अत्यन्त स्पष्ट रूप में अपने काव्य में काल तथा परिवेश का विवरण दिया है। साधारण तौर से श्रीकृष्ण विजय श्रीमद् भागवत के दशम तथा एकादश स्कन्ध का अनुवाद है। परन्तु पंडित कवि मालाधर बसु का व्यापक अध्ययन रहने के कारण अन्यान्य पुराणों का प्रभाव इसमें मिलता है, विशेषतया हरिवंश और विष्णु पुराण का प्रभाव इसमें मिलता है।

श्रीकृष्ण विजय एक सुललित काव्य है। कवि के भक्त हृदय का स्वरूप इस काव्य में अति सहज ही मिलता है। कवि के पुत्र सत्यराज खान जब पुरी में श्री चैतन्य देव से पहली बार मिले तब श्री चैतन्य ने उनके पिता के काव्य की बहुत प्रशंसा की।

बँगला साहित्य के प्रति मुसलमान शासकों के मन में आन्तरिक श्रद्धा थी। मध्ययुगीन बँगला ग्रन्थों में उसका उदाहरण मिलता है। साहित्य की उन्नति के लिए मुसलमान शासकों में उत्साह तथा प्रेरणा की कमी नहीं थी और बँगला साहित्य में केवल इस्लामी संस्कृति का प्रचार नहीं हुआ, बल्कि हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की व्याख्या तथा विश्लेषण सम्पूर्ण हुआ था। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से मुसलमान शासकों का आग्रह और मुसलमान कवियों की साहित्यिक रचनाओं का मध्य युग में यथेष्ट महत्व है।

मुसलमान शासकों के आग्रह से ही मध्ययुग में रामायण, महाभारत, श्रीमद् भागवत, पुराण समूह और हिन्दी तथा भारतीय ग्रन्थों का बंगला में अनुवाद हुआ।

15वीं शताब्दी में राना दनुज मर्दन गणेश के उत्साह से कृतिवास ने अपना रामायण अनुवाद किया था। गणेश के पुत्र यदु ने किसी कारणवश इस्लाम धर्म ग्रहण किया और जलालुद्दीन नाम स्वीकार कर लिया। सिंहासन प्राप्त करने के पश्चात् पिता की भांति वे हिन्दू कवि और पंडितों को बँगला काव्य-रचना करने के लिये प्रोत्साहित करते रहें। इसके बाद शम्सुद्दीन युसुफ शाह ने कवि मालाधर वसु को भागवत् के एकादश ग्रन्थ का बँगला अनुवाद करने के लिए प्रोत्साहित किया था और कवि को गुणराज खान की उपाधि से विभूषित किया था।

गौड़ेश्वर हुसेन शाह का शासन-काल बंग साहित्य का स्वर्ण युग कहलाता है। रामकेलि गाँव में रहने वाले एक कर्मचारी ने, जिनका नाम चतुर्भुज था हरिचरित नामक एक कृष्ण लीला विषयक संस्कृत काव्य लिखा था। श्रीखण्ड के यशोराज खान ने एक कृष्ण लीला सम्बन्धी बँगला काव्य-रचना की।

15वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में रचित विजय गुप्त तथा विप्रदास पिप्पलाई के मनसा मंगलों में हुसेन शाह की बड़ी प्रशंसा है। कविन्द्र परमेश्वर और श्रीधर नन्दी के महाभारत में हुसेन शाह का बड़ा गुणगान किया गया है।

हुसेनशाह के सेनापति परागल खां बहुत प्रभावशाली व्यक्ति थे। चिटगाँव पर विजय प्राप्त करके वहीं के शासक बन गये। हुसेन शाह के पुत्र नसीरुद्दीन नसरतशाह ने भी अपने पिता की परम्परा को अपनाया। नसरतशाह राधाकृष्ण सम्बन्धी पदावली के अनुरागी थे। इसके पुत्र अलाउद्दीन फिरोजशाह की पृष्ठ-पोषकता में श्रीधर कवि ने एक विद्यासुन्दर काव्य लिखा था।[63]

पंजाबी

डा० मोहनसिंह के अनुसार पंजाबी शब्द की व्युत्पत्ति फारसी समास पंज + आब (पंजाब) से है जिसका अर्थ है पाँच नदियों का देश जैसे दुआब या दुआबा का अर्थ है दो नदियों से घिरा हुआ प्रदेश। पंजाब की नदियों के संगम पर स्थिति नगर का नाम पंचानद है जो पंजनद का भ्रष्ट रूप है। स्पष्ट है कि भाषा के नाम के रूप में 'पंजाबी' शब्द का अस्तित्व 'फ़ारसी' युग के आरम्भ से ही है। ईरानियों ने शहर, प्रान्त, देश या जाति के नाम के साथ 'ई' या 'वी' जोड़ कर भाषाओं के नामकरण किये। 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' और 'लाहौरी' आदि नामों का आविष्कार इसी प्रकार हुआ।[64]

खुशवन्तसिंह के अनुसार पंजाबी दो करोड़ से अधिक हिन्दू-मुस्लिम और सिक्खों की भाषा है। इसके बोलने वाले भारत और पाकिस्तान दोनों में है। इसलिए इसकी साहित्यिक परम्परा में तीन अलग-अलग धर्मों की रचनाएँ आती हैं; जो तीन अलग-अलग लिपियों में—अरबी, देवनागरी और गुरुमुखी में हैं। फलतः पंजाबी की साहित्यिक परम्परा को उन दूसरी भाषाओं की रचनाओं में प्रचलित विचारों से भी समृद्ध किया गया है जो किन-किन लिपियों में लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ—अरबी, फ़ारसी और संस्कृत की विविध शाखाएँ। यह मज़ेदार पंचमेल खिचड़ी पंजाबी की अलग-अलग बोलियों के मिश्रण से और भी स्वादिष्ट बनी है। इन बोलियों ने पंजाबी भाषा को एक खास किस्म का अक्खड़-पन और पौरुष दिया है।

किसी भी भाषा की तारीख कायम करना आसान नहीं है। खास तौर से पंजाबी जैसी भाषा के लिए तो यह और भी कठिन हैं, क्योंकि इसकी पूर्व परम्परा के बारे में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान उसे 12वीं शती तक ले जाते हैं। कुछ उससे भी पहले। जबकि प्रामाणिक लेखा नहीं है, तब बेहतर यही है कि उन लेखकों से शुरू किया जाय जिनकी तारीख़ों का निश्चित पता है। जिनकी रचनाएँ हमारे साहित्य का अंग बन गई हैं और समकालीन लेखकों को प्रभ-

वित करती है। इनमें दो दल मुख्य हैं, एक तो मुस्लिम सूफ़ी और दूसरे सिक्ख गुरु। दोनों 15वीं शती से शुरू होते हैं। ये दोनों धाराएँ बहुत पहले एक हो गईं, मानो यही हमारी भाषा की जनक-जननी रही हो।[65]

करतारसिंह दुग्गल के अनुसार पंजाब की भाषा पंजाबी है चाहे वह पंजाब पाकिस्तान में है, चाहे भारत में।

सन् 1932 ई० में स्थापित की गई पंजाब यूनीवर्सिटी इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार 'इण्डो-एरियन' भाषाओं से निकली सब बोलियों में से पंजाबी शायद सबसे पुरानी भाषा है। हिन्दी और पंजाबी का सम्बन्ध दो बहनों का है।

सिक्ख धर्म के साथ न तो पंजाबी बोली का ही कोई विशेष सम्बन्ध है और न गुरुमुखी लिपि का। सिक्खों के पहले गुरु-नानक के जन्म से पहले पंजाबी बोली इस प्रदेश में बोली जाती थी और गुरुमुखी लिपि के अक्षर भी मौजूद थे। ये अक्षर उसी प्रकार ही ब्राह्मणी लिपि में से निकले थे जैसे दूसरी प्रादेशिक भाषाओं के।

पंडित गौरीशंकर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन लिपि माला' में लिखा है— "पंजाबी लिपि के बहुत से अक्षर देवनागरी से मिलते हैं। गुरु अंगद के पहले बहुधा महाजनी लिपि पंजाब में प्रचलित थी और संस्कृत-पुस्तकें नागरी से मिलती हुई एक पुरानी लिपि में लिखी जाती थीं।"

जनसाधारण में प्रचलित, गुरुमुखी केवल एक लिपि है जिसमें पंजाबी की साहित्यिक पुस्तक प्रायः प्रकाशित होती हैं। वैसे कई एक सिक्ख-लेखक और अन्य बहुत से गैर-सिक्ख फ़ारसी लिपि भी पंजाबी साहित्य के लिए प्रयोग में लाते रहे हैं। एक समय था, जब फ़ारसी लिपि में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या गुरुमुखी लिपि में छपी हुई पुस्तकों से कहीं अधिक थीं। अविभाजित पंजाब में इसके कारण, क़िस सीमा तक, राजनैतिक थे पिछले दिनों कई पंजाबी लेखकों ने देवनागरी में भी रचनाएँ प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। प्रो० मोहनसिंह, जसवन्तराय और प्रभजीत कौर की कविताओं के पंजाबी-संग्रह देवनागरी लिपि में भी छपे हैं।

गुरुमुखी लिपि में 'गुरुग्रन्थ साहब' में पंजाब के अतिरिक्त कई भाषाओं के पद्य मिलते हैं, संस्कृत, फ़ारसी, सिन्धी, ब्रजभाषा आदि के। फ़ारसी लिपि में पंजाबी की एक अमर रचना 'हीर वारिस शाह' लिखी गई जो आज भी कई शताब्दियों के बाद वैसे ही चाव से पढ़ी जा रही हैं।

कई लोग समझते हैं कि पंजाबी साहित्य केवल सिक्ख जाति द्वारा अपनाया हुआ है। इस बात से इन्कार नहीं कि पिछले तीस वर्षों से इसकी ओर अधिक रुचि सिक्खों की रही है, किन्तु पंजाबी साहित्य के निर्माण में गैर-सिक्ख लेखकों

ने कहीं अधिक योग दिया है । पंजाब का प्राचीनतम लेखक, जिसका काव्य हमें मिलता है, 'फरीद शंकरगंज' मुसलमान था । इस तरह पंजाबी के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब सिक्ख जाति की प्रतिभा संस्कृत और प्राकृत की ओर अधिक अग्रसर हुई । गुरु गोविन्द सिंह के दरबारी कवि पुरातन भाषाओं में लिखकर प्रसन्न थे । गुरु जी ने स्वयं पंजाबी में बहुत कम कविता लिखी हैं । ऐसे में गैर-सिक्खों ने ही इस भाषा को आश्रय दिया ।

पंजाबी भाषा का शब्दकोष चाहे जितना पुराना हो किन्तु जिस बोली को आज हम पंजाबी के नाम से पुकारते हैं उसका पहला लेखक, जिसका कलाम हमारे हाथ लगा है, 'फरीद शकरगंज' है । बाबा फरीद अपने समय के प्रसिद्ध फकीर थे । इनका पूरा नाम हजरत फरीदुद्दीन मसऊद शकरगंज था । इनके जन्म 1173 ई० में हुआ था । फरीद कीकविताओं में 'लहंदी' का स्थानिक रंग है । फ़ारसी भाषा क़ा भी कुछ-कुछ प्रभाव है । इसलिए कि इन लोगों को काबुल से पंजाब आए अभी थोड़ा समय ही हुआ था । फरीद के सम्पूर्ण काव्य में एक भावुकता है, जो भक्ति युग के बाद सूफ़ियों का उन्माद बनकर प्रकट हुई । प्रकृति का प्रेम और परमात्मा का प्रेम फरीद की कविता के कुछ विशेष विषय है ।

पंजाबी भाषा की शैली को और अधिक निखारने वाले भक्तियुग के कवि थे । इनमें गुरुनानक देव, गुरु अर्जुन और भाई गुरुदास की बहुत-सी कविताएँ मिलती हैं । इन सबका एक सांझा रंग है, एक सांझा स्वाद है । भक्ति युग के कवियों ने भगवान की एकता पर जोर दिया, उन्होंने कहा—राम-रहीम में कोई फर्क नहीं । कट्टर ब्राह्मण मत और इस्लाम में भक्ति-आन्दोलन एक प्रकार का समझौता था । इन कवियों की शैली सादी और मँजी हुई है । भक्ति युग में पुरानी रूढ़ियों को तोड़ने पर बड़ा जोर दिया गया । चाहे यह रीतियाँ धार्मिक थीं या साहित्यिक अथवा साधारण जीवन से सम्बन्धित, कविता में इस प्रकार कवित्त, सवैया आदि पुराने छन्दों के स्थान पर 'बारहमाह', 'वार', 'सद', 'घोड़ी' आदि सामान्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाले छन्दों को अपनाया गया । यह वह समय था जब पंजाब में मुगलों के आक्रमण अभी हो रहे थे या अभी होकर रहे थे—

खुरासान खसमाना किया हिन्दुताना डराया ।
आपै दोष न दई करता जमकर मुगल चढ़ाया ।
एती मार दई कुर्लानें तें की दर्द न आया ।
कर्ता तू सबना का सोई ।
जे सकता सकते को मारे ।
तां मन रोस न होई ।।
—रहाओं । आशा महला । गुरुनानक ।

डॉ० मोहन सिंह के अनुसार जिस तरह पंजाबी का विकास पूर्व—आर्य अनार्य और आर्य भाषाओं से हुआ पर उस पर अरबी, फ़ारसी और पड़ोस की अपभ्रंशों, पश्तो, ब्रज, मारवाड़ी, कश्मीरी, सिन्धी का प्रभाव पड़ा, उसी प्रकार पंजाबी साहित्य को भी वैदिक और अरबी-फ़ारसी साहित्यों के साथ ही अपभ्रंश साहित्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ जिसमें नाटकों, कथाओं, गद्य एवं पद्य-रूपकों, कहानियों और इति-वृत्तात्मक कविताओं का बाहुल्य था।

अरबी-फ़ारसी साहित्यों से पंजाबी लेखकों को विशेषत: कवियों को रोमानी और काल्पनिक कथाओं के कुछ तत्व मिले, ग़ज़ल और मुसद्दस का आकर्षण उन्होंने काव्य में उतारने का प्रयत्न किया। एक की संरचना और विविधता से उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की, दूसरी की खोज और प्रभविष्णुता को अपने काव्य में आविर्भूत करने की चेष्टा की। संगीत के क्षेत्र में उन्होंने कुछ नये राग-रागनियों की उपलब्धि की।[66]

खुशवन्त सिंह के अनुसार भारत में मुसलमानों के आक्रमण के पीछे-पीछे सूफी आये। भारतीय जीवन और साहित्य पर उनका प्रभाव तब तक नहीं हुआ जब तक उन्होंने यहाँ की भाषा और यहाँ के लोगों के रिवाज नहीं अपनाएं। जब तक वे यह सब करने लगे तब तक उनका धार्मिक उत्साह बहुत कुछ ठण्डा हो गया था और वे अपने भिन्न दूसरे धर्मों को मानने और उनके प्रति आदर भी व्यक्त करने लगे थे। सूफ़ियों का पंजाब में मुख्य स्थान था, मुल्तान के पास 'पाक पट्टन'। इस प्रदेश में धार्मिक विचारों पर उनका प्रभाव सबसे अधिक है। सिक्ख गुरु, विशेषतया सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरुनानक देव ने उतनी ही भक्ति से सूफ़ियों को पढ़ा जितनी से संतों और भक्तों को।

सूफ़ियों की दृष्टि में परमात्मा और भक्त का वही सम्बन्ध है, जो एक प्रेयसी और प्रेमी का होता है। दोनों के बीच माया का पर्दा है; इसी कारण विरह है। यह विरह गहरी लगन और प्रेम से ही दूर हो सकता है। बुल्लेशाह के लोकप्रिय गीतों में व्यक्त यही भावना प्राय: इन संत कवियों में हैं :

"प्रेम की सदा एक नई बहार होती है।
मैं वेद के शब्दों से थक गया।
कुरान पढ़ने से थक गया।
प्रार्थना से मैं थक गया।
सिजदे से मेरा माथा घिस गया।
न मैंने हिन्दुओं के तीर्थों में भगवान पाया।
और न मक्का की हज पर जाने से।
केवल जिसे प्रेम मिला उसे ही प्रकाश मिला।"

यह विचार सिक्ख गुरुओं के लेखन में बार-बार आता है, और पंजाब के

तीन महाकाव्यों के पीछे यह भावना बराबर काम करती रही है। ये तीन महा-काव्य हैं : 'हीर-रांझा', 'ससि-पुन्नू', और 'सोहनी-महीवाल'। इन सबमें जीवन भर वियोग और विरह सहने के बाद प्रेमी मिलते हैं तो मृत्यु में। इसी भावना की गूंज आज के सबसे बड़े कवि भाई वीरसिंह की कविता में भी हमें मिलती है।

सूफ़ी लोग गाँव में रहते थे और उनकी शब्दावली में बड़ी ताज़गी और देहाती रंग है। किसानों के प्रतिदिन के काम, हल चलाना, बुनना, छाछ मंथना, संयुक्त परिवार के कारण रिश्तेदारों की बड़ी संख्या में चलने वाली रार-तकरार, कहीं बहिनों का भाइयों के लिए प्रेम और भौजाइयों से नन्द की लड़ाई, सास के अत्याचार, लड़की का पीहर की याद में तड़पना इत्यादि बातों से उन्होंने अपनी आवश्यक उपमाएँ और रूपक ग्रहण किये। सिक्ख गुरुओं, विशेषतया गुरु नानक ने इन लोकप्रिय बातों और घटनाओं का बड़ा सदुपयोग किया और उन्हीं के द्वारा अपना संदेश दिया।

सूफ़ियों की पंजाबी साहित्य को दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है, कुछ छन्द रूपों को विशेष लोकप्रिय बनाना। सूफ़ी साहित्य में कुछ छन्द बहुत मिलते हैं जैसे 'काफी', 'बारहमाह' और 'सिहरफी'। 'काफी' फ़ारसी के कवियों को बहुत अच्छी तरह मालूम थी और आज भी यह उर्दू कविता में लोकप्रिय है। 'बारहमाह' या वर्ष के बारह महीने ऐसा विषय था, जिसमें कवि स्वतन्त्रतापूर्वक ऋतुओं का सौन्दर्य वर्णित करते थे, इस प्रकार कवि इस विषय की डोर को लेकर जो चाहते थे, इसमें गूंथ देते थे। पंजाबी कविता में प्रकृति-वर्णन के कुछ बहुत ही समृद्ध स्थलों का आरम्भ 'बारहमाह' की रचना पद्धति में मिलता है। वारिसशाह ने एक सुन्दर 'बारहमाह' अपने 'हीर-रांझा' में दिया है और 'आदि ग्रन्थ' में सम्मिलित गुरु नानक का 'बारहमाह' भी पंजाबी साहित्य का अत्यन्त सुन्दर अंश है। 'सिहरफ़ी' यानी अक्षरबन्ध, जिसमें एक छन्द का अन्तिम अक्षर अगले छन्द का आरम्भिक अक्षर होता है, पंजाबी का अपना विशेष काव्य रूप है। सिक्ख गुरुओं ने इस रूप में लिखा, पर उनके बाद इसे छोड़ दिया गया और उसे पुनर्जन्म कभी नहीं मिला।

सिक्ख गुरु

अधिकतर सिक्ख गुरु कवि थे और 'ग्रन्थ साहिब' में नानक, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन और तेगबहादुर की रचनाएं सुरक्षित हैं। दो सिक्ख धर्म-ग्रन्थों के सबसे प्रमुख रचयिता हैं—प्रथम गुरु नानक और पांचवें गुरु अर्जुन देव। गुरु नानक (1469-1539) ने कविता द्वारा उपदेश दिये। फलतः उनकी रचनाओं में उनके जीवन-दर्शन को व्यक्त करने वाली उपदेशात्मकता है। उनमें

दूसरों को एक खास ढंग का जीवन बिताने के लिए सीख और नसीहत है।

गुरु नानक का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है—'जप साहब'। यह सवेरे की प्रार्थना है। निम्नलिखित पद्य उस धार्मिक उमंग का एक नमूना है; जिससे उनकी रचनाएँ भरी हुई हैं।

"एक के बदले मुझे लाख जिह्वाएँ दी होतीं,
और हर लाख बीस गुना होता,
तो लाख बार मैं कहता और फिर कहता हूँ,
सारी दुनिया का स्वामी एक है!
वही रास्ता है जो मंजिल पर पहुँचता है,
यही सीढ़ियाँ हैं जो ऊपर ले जाती हैं,
इसी तरह स्वामी के महल में चढ़,
और उससे जाकर मिल जा, एक हो जा।
स्वर्ग के संगीत की ध्वनि स्पन्दित होती है
उन सबके लिए एक-सी, जो रेंग रही हैं, ऊपर उड़ना चाहती हैं।
ओ नानक, उसी की कृपा यहाँ-वहाँ सब ओर फैली है,
बाकी सब बकवास है, और झूठ है।"[67]

डॉ० मोहन सिंह के अनुसार मसउद (फ़रीद-उद-दीन, शोखुल इस्लाम, गंज-ए-शकर) (1173 ई०-1265 ई०) एक अभिजात अफगान ने जो एक तपस्वी सन्त का-सा जीवन बिता रहा था—प्रादेशिक भाषा में कुछ पद लिखे और कोई दो सौ दोहे। मसउद अरबी और फ़ारसी का बड़ा भारी विद्वान था, उसने दूर-दूर तक भ्रमण किया था अपनी गद्दी का वह योग्य अधिष्ठाता था। अपने जीवन की संध्या में—शायद तब वह साठ वर्ष का था—उसने हमारे प्रान्त और भाषा को जीवन एवं साहित्य के प्रति एक नई दृष्टि का स्तुत्य वरदान दिया। वह एक दम नई तो न थी परन्तु समय और अवसर के अनुकूल बहुत थी।

जैसे नाथपंथियों ने अरबी-फ़ारसी के शब्दों को अंगीकार कर लिया था और स्वयं मूल शब्द, विचार और पद्धतिया का अनुसरण करते थे ताकि उनके पैर जमीन से उखड़ने न पायें और वे जन-साधारण के निकट रहें—उसी प्रकार शेख फरीद ने (यही मसउद का काव्य नाम था) अनेक पारिभाषिक हिन्दू शब्दों और अवधारणाओं को आत्मसात् कर लिया था। वह विशेषतया जन-साधारण के लिए लिखते थे। फलतः नदी, वृक्ष, घर का चूल्हा, चारपाई, कब्र आदि के चिर-परिचित बिम्बों के सहारे खींचे गये उनके प्रेम, प्रकृति, दिव्यत्व आदि के चित्रों में आज भी ताजगी है. वे आज भी अपनी महक बिखराते हैं और जन-मन को सम्मोहित करने की शक्ति रखते हैं। उनकी राह समन्वय की राह है, साथ ही उसमें निःस्पृहता का भी पुट है, जो मेला लगा है, उसमें हमें खुलकर मिलना-

जुलना चाहिए पर यह कभी न भूल जाना चाहिए कि यह आखिर है मेला ही।
13वीं शताब्दी के शुरू के एक मुसलमान वैरागी में इस तरह का साखी या पटनी दृष्टिकोण मिलना कुछ आश्चर्य की बात है। शुरू के सूफ़ियों में हमें यह शृंगार-परक रहस्यवाद नहीं मिलता। फिर भी इसका कारण ऐसा नहीं जो समझ में न आये। इसका कारण कुछ तो भारतीय प्रभाव है और कुछ अफ़गान कवि कुतबुद्दीन बख्तयार काकी की निजी प्रवृत्ति क्योंकि उन्हें फ़रीद ने अपना आध्यात्मिक गुरु माना था।

पंजाबी में कम-से-कम दो और अफ़गान लेखक हुए—मसउद की भाँति ये भी पंजाब में ही पैदा हुए थे—बाजीद या बायजीद, वजीद।

फ़रीद कबीर और जायसी दोनों के पूर्ववर्ती थे और उन दोनों ने नाथपंथियों की रचनाओं से जितना लाभ उठाया उतना ही फ़रीद की पंजाबी कविता से भी।

फ़रीद की कविता सबसे पहले 1604 ई० में पूर्ण होने वाले आदि ग्रन्थ के संकलन द्वारा प्रकाश में आई। इसमें कतई संदेह नहीं कि गुरु अमरदास (1479-1574 ई०) इस लेखक की कृति से अवगत थे।

मसउद का स्वर्गवास 1265 ई० में हुआ। वह एक उदार-हृदय मुसलमान थे, बड़े अनुभूति-प्रवण कवि थे और बड़े अभिभूत कर लेने वाले प्रचारक थे। 13वीं और 15वीं शताब्दी के बीच एक मुसलमान प्रचारक ने निःसंकोच निम्न शब्दों का प्रयोग किया है—

मन, मुख, नाम, अपार, अगम, धर्म, गुर, प्रीतम, बिरहा-कृपाल, प्रभु, साध संग, मारग, पन्थ, वेदन, पिआला, जग, नेह, कान्त, दोहागन, अथाह, मसान, लेखा, मण्डप, गुन, जुग, रीत, सज्जन, भाग, आस, धीर, विकार, जीउ, करम।[68]

गुजराती

श्री विष्णु प्रसाद त्रिवेदी के अनुसार हिन्दी, बंगला और मराठी की भाँति ही गुजराती भी एक आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा है।

मध्यकाल (1250-1456 ई० तक) में पिछली अपभ्रंश से, जिसका स्वरूप अनिश्चित-सा ही था, गुजराती (प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी) एक पृथक भाषा के रूप में उदय हुई। नये साहित्य में पहले जैसी गरिमा अथवा बाह्य रूप में परम्परा की विशुद्धता का तो अभाव था किन्तु वह कई धाराओं में फूट निकला, उसने नये रूप धारण किये। अपभ्रंश के छन्दों को परिवर्तित और संशोधित करके उन्हें उपाश्रय में अर्थात् दरबार अथवा प्रांगण में गायन के उपयुक्त बनाया। नये साहित्य में अतीत के शौर्य का रोमांचकारी और वेदना-मिश्रित वर्णन है। इसके साथ ही इसमें जन-जीवन से सम्पर्क के लक्षण भी हैं—

परन्तु इससे उस समाज की सारी बाधाओं का भी परिचय मिलता है जो 1297 ई० में पाटण के पतन के समय से लेकर 1411 ई० में सुल्तान अहमदशाह के उदय तक, सौ वर्ष से भी अधिक समय तक, छिन्न-भिन्न अवस्था में रहा।

संस्कृत के शिक्षार्थियों के लिए संग्रामसिंह ने 1280 ई० में 'बाल शिक्षा' और कुलमंडन ने 1394 ई० में मुग्धाववोध औक्तिक नामक संस्कृत व्याकरणों की रचना की। उनमें हमें गुजराती के विकास का बड़ा सही चित्र मिलता है। साहित्यिक ग्रन्थों से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इसकी प्रारम्भिक अवस्था का परिचय विजयसेन द्वारा 1232 ई० में रचित 'रेवन्तगिरि' रास में और प्रौढ़ साहित्यिक अवस्था का प्रमाण पद्म-नाभन के 'कान्हड़दे प्रबन्ध' में मिलता है जो 1456 ई० लिखा गया था। बड़े-बड़े ग्रन्थ रचने के लिए वीर रस प्रधान आख्यायिकाओं, ऐतिहासिक वृत्तान्तों और रूमानी कथाओं का सहारा लिया गया। छोटी-छोटी कविताएँ, फागु, बारामासी और छप्पे आदि के रूप में की गई। ये या तो गीत हैं अथवा उनमें कोई उप-देश निहित होता है। वीर रस प्रधान आख्यायिकाएँ इस युग की भावनाओं और वातावरण की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हैं। उनमे मुसलमानों के विरुद्ध असफल संघर्ष, अपनी कमजोरियों, अपने विश्वास और अपनी तीव्र मानसिक वेदना का मार्मिक चित्रण है। फागु में प्रकृति की पृष्ठभूमि में प्रेम और वियोग की सुकोमल भावनाओं का वर्णन मिलता है।

श्रीधर रचित 'रणमल्लछन्द' ईडर के रणमल्ल की वीरता का गुणगान है। राठौड़ वंश के इस सूरमा ने मुसलमानों को बुरी तरह परास्त किया जो पाटण के सूबेदार जफर खाँ के नेतृत्व में संगठित थे।

पद्मनाभन का 'कान्हड़दे प्रबन्ध' वीर रस प्रधान कविता का एक सर्वोत्तम उदाहरण है। गुजरात की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उलुग खाँ के नेतृत्व में संगठित अलाउद्दीन के सैनिकों के विरुद्ध अंतिम और भयंकर संघर्ष, सोमनाथ के पतन और कवि के प्रश्रयदाता एवं झालोर-नरेश अखयराज के पूर्वज की अपूर्व वीरता का इसमें मर्मस्पर्शी वर्णन है।

अपभ्रंश साहित्य में रास बड़ा लोकप्रिय है। यह बैले की भांति एक नृत्य रचना होती थी। रास लोक-नृत्य का ही एक परिष्कृत रूप है, जो समाज के उच्च वर्ग ने उसे प्रदान किया। शालिभद्र के भारत बाहुबलि रास (1185 ई०) में प्राचीन काल के दो राजाओं के युद्ध का वर्णन है जो आपस में भाई-भाई थे। कुछ लोगों के मतानुसार गुजराती कही जाने वाली भाषा का यह पहला ग्रन्थ है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि शत्रुंजय पर्वत पर ऋषभ देव की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने वाला प्रसिद्ध व्यापारी समरसिंह गुजरात के सूबेदार उलुग खाँ का कृपापात्र बन गया था। अम्बदेव ने 1315 ई० में जो

'समर रास' रचा उसमें इस बात पर विशेष रूप से संतोष प्रकट किया गया है।

फागु अपेक्षाकृत छोटी और अधिक संगीतमय कविता होती है। रास की भाँति इसका नायक भी कोई पौराणिक अथवा अर्द्ध पौराणिक व्यक्ति होता है लेकिन इसमें घटनाएँ अधिक नहीं होतीं और जो होती भी हैं, उनका संबंध आमोद-प्रमोद और हर्ष और उल्लास से युक्त बसन्तकालीन नृत्यों से होता है।

जिनपद्म रचित स्यालिभद्र फागु (1334 ई०), राजशेखर का नेमिनाथ फागु (1344 ई०), जयशेखर का नेमिनाथ फागु (1375 ई०), सोमसुन्दर रचित रंग सागर, नेमिनाथ फागु (1400 ई०) और इसी प्रकार की तथा इसी भावना से ओत-प्रोत विनय चन्द्र द्वारा लिखी गई एक और कविता नेमिनाथ-चतुष्पदिका (1269 ई०) इस युग की प्रतिनिधि कविताएँ हैं। ये सब सुन्दर रचनाएँ हैं किन्तु इन सबसे श्रेष्ठ 'बसंत विलास' है। इसमें धार्मिकता का कोई पुट नहीं है। इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई किन्तु इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है।[69]

कश्मीरी भाषा

भूषण लाल कौल के अनुसार कश्मीरी भाषा की उत्पत्ति दरद परिवार की भाषाओं से हुई है और दरद परिवार की भाषाओं की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। उनको हम भारतीय आर्य-परिवार की भाषाओं से उद्भत नहीं मनि सकते। परन्तु इस तथ्य में कोई संदेह नहीं कि लगभग दो हजार वर्षों तक कश्मीरी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव रहा, क्योंकि कश्मीर सारे भारत वर्ष में संस्कृत का विद्यापीठ माना जाता है। देश-भाषा साहित्यिक भाषा से प्रभावित हैं और कालान्तर में संस्कृत भाषा के 90 प्रतिशत शब्दों का विकृत रूप में कश्मीरी भाषा में प्रयोग होने लगा।[70]

पृथ्वीनाथ 'पुष्प' के अनुसार छः सौ वर्षों से भी अधिक समय के दौरान में संस्कृत और फारसी में जो श्रेष्ठ साहित्य रचा गया उसकी विरासत कश्मीरी को मिली, लेकिन वह कभी भी राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित नही हुई। प्रबुद्ध जैनुल आबदीन (पन्द्रहवीं शताब्दी) ने अवश्य कश्मीरी भाषा को धर्म-निरपेक्ष साहित्यिक माध्यम के रूप में उदारतापूर्वक प्रश्रय दिया।

अपने जीवन की विविध बाधापूर्ण स्थितियों में से गुजरती हुई कश्मीरी भाषा संस्कृत, फारसी और उर्दू साहित्यिक एकाधिपत्य में भी जीवित रह सकीं। उसके जीवित रहने का कारण यह था कि उसने इन सभी भाषाओं का सार तत्त्व सूझ-बूझ के साथ ग्रहण किया। इसलिए स्वभावतः आज 'हिन्दू' कश्मीरी और 'मुस्लिम' कश्मीरी जैसी कोई चीज नहीं रह गई। वास्तव में, कश्मीरियों की भाषा सिर्फ 'कश्मीरी' ही मिलेगी। यह जरूर है कि बोली-संबंधी

कुछ विभिन्नता दिखाई दे सकती है पर उसका यह कारण नहीं है कि ऐसे लोग निर्विवाद रूप से किसी धर्म विशेष के मानने वाले हैं, बल्कि यह कि वे स्वभावतः अलग-अलग तबकों और व्यवसायों के लोग हैं।[71]

प्राचीन परम्परा

कश्मीरी गद्य तो अभी घुटनों के सहारे ही रेंगना सीख रहा है - परन्तु उससे उल्टे कश्मीरी पद्य की स्थिति काफी ऊँची है और वह बहुत सार्थकता लिए हुए है। कश्मीरी पद्य की साहित्यिक परम्परा 13वीं शती जितनी पुरानी है जबकि शितिकंठ ने अपने 'महानय प्रकाश' नामक शैव तांत्रिक ग्रंथ के लिए 'जन सुलभ भाषा' का प्रयोग किया। यह स्पष्ट था कि जनता की भाषा लोकप्रिय धार्मिक गाथाओं के प्रचार के लिए एक सुविधाजनक माध्यम के नाते चुनी गई, परन्तु वह जल्दी ही दूसरे साहित्यिक कार्य भी करने लगी। उन दिनों का कश्मीर राजनैतिक संकट से पीड़ित था; और शैव दर्शन के मुस्लिम मुर्शिया द्वारा प्रचारित सूफी मत के अनिवार्य सम्पर्क से नये सामाजिक-सांस्कृतिक रूप गढ़े जा रहे थे। इस संश्लेषण का नया स्वर स्पष्टतः लल्ल द्यद (14वीं शती) के कुछ स्थान छोड़कर उद्‌गारों में और उस कवयित्री से उम्र में छोटे समकालीन शेख नूरुद्दीन वली (नुन्द ऋषि) के उपदेशात्मक पद्यों में मिलता है। लल्ल द्यद के वचनों में परमसत्ता की कल्पनाओं से परिपूर्ण रहस्यवादी गीतात्मकता के कुछ सुन्दर अंश मिलते हैं। यह परम सत्ता सर्वतोव्यापी और फिर भी सबसे ऊपर है। इस प्रकार से आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ तत्त्व एक सुन्दर चित्रबंध में गुंदे हैं। नुन्द ऋषि के छन्दों में भौतिक और आध्यात्मिक के संतुलन के लिए जोरदार आग्रह है। इन दोनों संत कवियों में कबीर के पूर्व दर्शन मिलते हैं। इन कवियों की रचनाओं में कबीर की भाँति अन्तः संयम की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है और धर्म के नाम पर ढोंग तथा बाह्याचार के महत्व की खूब निन्दा देखने को मिलती है। उनके पद्यों में हिंदुत्व और इस्लाम एक ही भाषा में बोलते हैं और उस मानवी बन्धुत्व, सामाजिक समता और आध्यात्मिक एकता के लिए सोत्साह प्रार्थना करते हैं, जोकि सब जाति, वर्ण-भेद से परे है और सैद्धांतिक जड़ता के बन्धनों को काटती है।

बाद में फारसी 'मसनवियों' ने इस साहित्यिक विकास में सुविधापूर्व टेकनीक दी और महमूद गामी ने रहस्यवादी परम्परा को एक नया मोड़ दिया। 'यूसुफ जुलेखा', 'लैला-मजनूं' और 'गुलरेज' जैसे फारसी के श्रेष्ठ काव्यों के कश्मीरी अनुवाद रूपकात्मक प्रेमाख्यानों जैसी मौलिकता लिए हुए हैं; जबकि 'हमील' इस बात का उत्तम उदाहरण है कि कला के क्षेत्र में सहकारिता से कैसे काम लिया जाता है। उनका वर्णनात्मक अंश वली उल्लाह मट्टू और उसके

गीत ज़रीफ की प्रतिभा से भरे हैं; फिर भी इनका संगम आश्चर्यजनक ढंग से सम्पूर्ण है।[72]

भूषण लाल कौल के अनुसार कश्मीरी भाषा का उपलब्ध प्राचीन साहित्य स्वस्थ एवं उच्चकोटि की दार्शनिक विचारधारा से ओतप्रोत है। साहित्य में इन भावनाओं को लाने का श्रेय सर्वप्रथम श्री शितिकण्ठ को है। इस विचारधारा को आगे ले जाने में ललद्यद एवं शेख नूरउद्दीन का विशेष योगदान रहा है। इस रहस्यवादी काव्यधारा में कई दार्शनिक सिद्धांतों का सम्भिश्रण मिलता है। शैव-मत, ब्रह्मवाद, अद्वैतवाद, सूफीमत एवं गीता के निष्काम कर्मयोग के सदोपदेश को इन संत-कवियों ने अपने काव्य में स्थान दिया है। कश्मीर का 'शैवदर्शन' 'त्रिकदर्शन' या 'त्रिकसिद्धांत' के नाम से भी प्रसिद्ध है और 12वीं शताब्दी तक (अर्थात् हिन्दू राज्य काल में) इस दर्शन ने कश्मीरियों के जीवन में एक महत्व-पूर्ण स्थान ग्रहण किया था।

लल्लेश्वरी या ललद्यद कश्मीरी साहित्य की प्रथम प्रसिद्ध कवयित्री हैं जिन्होंने अपनी काव्यवाणी से 14वीं शताब्दी में जनमानस को आप्लावित किया। उसका जन्म एक साधारण हिन्दू परिवार में हुआ था। विवाह अल्पायु में ही पाँपुर के निकट एक हिन्दू परिवार में सम्पन्न हुआ। सास ने अनेक यातनाएँ पहुँचाईं और गार्हास्थिक जीवन के भयानक संकटों ने उसे इस जीवन के प्रति निराश कर दिया। उन्होंने अनेक सुन्दर 'वारव' कहे हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनका समान रूप से आदर करते थे। वह सदा ईश्वर भजन में लीन रहती थी। उनके 'वारव', लल-वारव' या 'ललवाणी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अपनी विद्वता के कारण उन्होंने संसार के श्रेष्ठ ज्ञानियों में अपना स्थान प्राप्त कर लिया है। उच्च कोटि की विदुषी होने के साथ-साथ उन्हें जीवन का बड़ा ही कटु अनुभव था।

लल्लेश्वरी ने शिव को परमतत्व माना है। वह निर्गुण निराकार है। शिव ही सर्वत्र व्याप्त है और शिव ही सर्वस्व है—

शिव छुई थलि थलि रोज़ान
मो ज़ान ह्युन्द तु, मुसलमान
सुक आर्य छुक ति पान परज़ि नाव
सोयि छ्यि साहिबस ज़ानी ज़ान ॥

'शिव प्रत्येक अणु में व्याप्त है। हिन्दू एवं मुसलमान का भेदभाव भूलकर उसकी शरण में जाओ, यदि बुद्धिमान हो तो मेरी बात समझ लो, यही वास्तव में ईश्वर की पहचान हैं।

परमतत्व में लीन होने के लिए गुरु उपदेश आवश्यक है। स्वयं लल्लेश्वरी ने भी सायिद्बोपुई से गुरु शिक्षा ली थी।

लल्लेश्वरी योगाभ्यास में भी सिद्धहस्त थी। आत्मज्ञान की प्राप्ति के हेतु वह नित्य योगाभ्यास में रत रहती थी। योग के दुष्कर मार्गों पर चलकर ही उन्होंने परमज्योति का साक्षात्कार किया। उन्होंने दर्शन के सिद्धांतों का व्यावहारिक रूप से पालन किया। लल्लेश्वरी ने सबसे अधिक अद्वैतवाद पर जोर दिया। वह मूढ़ जनता के प्रति उदासीन थी जो ज्ञान से अनभिज्ञ है और सांसारिक बन्धनों एवं मायाजाल में फँसी हुई है। उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य है यद्यपि देशज और ठेठ कश्मीरी शब्दों का बड़ी सुविधा के साथ प्रयोग किया गया है। उनके 'वारवों' में शब्द-सौन्दर्य अनुपम है।

लल्लेश्वरी के पश्चात् उसी युग में प्रसिद्ध संत शेख नूर-उ-द्दीन हुए हैं। इन्हें 'नुंदयेशि' भी कहा जाता है। 'ऋषि-नामा' इनके जीवन एवं काव्य के विषय में प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। उन्हें हम ललद्यद की शिष्य-परम्परा में ले सकते हैं। बचपन में ही इनका विवाह हुआ था और कुछ ही समय के पश्चात् गार्हस्थिक जीवन से निराश होकर वे एकांत गुफा में योग-साधना में लीन रहे। नंदयेशि के श्लोकों में जनता के लिए आध्यात्मिक संदेश निहित है। जीवन की सरलता एवं पवित्रता पर उन्होंने बल दिया। बाह्याडम्बर एवं पाखण्ड उनके लिए असहनीय था। संसार से विमुख होकर वे उस एक सत्ता में विलीन होने के लिए साधना करने लगे। वे एक समन्यवकारी थे जिन्होंने धार्मिक सहिष्णुता एवं चारित्रिक पवित्रता पर अधिक बल दिया। सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह मनुष्य को अंधकार में डाल देता है।

अपने जीवन काल में वे अनेक मुसलमान सूफी संतों एवं विद्वानों के सम्पर्क में आए, जिस कारण उनकी काव्य-वाणी पर सूफी मत की स्पष्ट छाप पड़ी। दूसरी ओर लल्लेश्वरी से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण की, संस्कृत काव्य एवं हिन्दू-दर्शन का भी उन पर प्रभाव पड़ा। अतः उन्होंने सबका समन्वय अपने श्लोकों में किया। उनके प्रत्येक श्लोक मे दो पंक्तियाँ होती हैं और वे अपने में पूर्ण एवं स्वतंत्र हैं। भाषा संस्कृत गर्भित है।

शमस फकीर कश्मीर के प्रसिद्ध सूफी कवि हुए हैं। उन्होंने आध्यात्मिक भावनाओं को लौकिक प्रेम के आवरण में प्रस्तुत किया। उनकी रचनाओं में प्रेम-वर्णन यद्यपि मनोरंजक एवं हृदयग्राह्य है, तथापि उसमें असीम के साथ एकाकार होने का आभास सर्वत्र मिलता है। आध्यात्मिक प्रेम की हाला पीकर वह मस्त हैं। वह हाला ही उसके लिए अमृत है।[73]

भूषण लाल कौल के अनुसार प्रत्येक भाषा के साहित्य में लोक-साहित्य की एक स्पृस्थ परम्परा पाई जाती है। लोक-साहित्य और विशेषकर लोक-गीतों की एक प्राचीन परम्परा कश्मीरी साहित्य में भी मिलती है। इन लोकगीतों का अक्षय कोष कश्मीरी साहित्य की अमूल्य निधि है। अनेक प्रकार के लोक-गीत

कश्मीरी घाटी में मिलते हैं जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

1. वनवुन (विवाह गीत) : 'वनवुन' उन कश्मीरी लोक-गीतों को कहते हैं जो स्त्रियाँ विवाह के शुभावसर पर मिलकर गाती हैं। प्रमुखतः कश्मीर में हिन्दू एवं मुसलमान रहते हैं। इन दोनों के विवाह-गीतों में पर्याप्त अन्तर है। अतः हमें 'वनवुन' के दो रूप मिलते हैं—

1. बेटि वनवुन (हिन्दू विवाह-गीत) 2 मुसलमान वनवुन (मुस्लिम विवाह-गीत)

2. रोफ़ : रोफ़ में गीत तथा नृत्य का सम्मिश्रण होता है . यह नारियों के गीत हैं। रोफ़ गीत में प्राय: विवाहित एवं अविवाहित युवतियाँ दो पंक्तियों में आमने-सामने खड़ी हो जाती हैं; एक-दूसरे की भुजाएँ आपस में मिलाए हुए और एक ही ताल पर पाँव तथा शरीर आगे-पीछे करती हुई गाती हैं।

3. बाँड़-जशन : बाँड कश्मीरी भाषा में ग्रामीण नर्तकों को कहते हैं। प्राय: ये लोग मनोरंजन करने में कुशल होते हैं। बाँड़ अपनी टोली के साथ गाँव-गाँव घूमते-फिरते हैं और हर स्थान पर अभिनय प्रधान गीत गाते हैं। जिन्हें कश्मीरी में जशन कहते हैं।

4. लेड़ीशाह : लेड़ीशाह कश्मीरी लोक-गीतों में विशेष रूप से प्रसिद्ध है। ये पुरुषों के गीत हैं। प्रायः गांव का कोई अशिक्षित पुरुष-हंसने; हँसाने के लिए तुकबन्दी करता है और लोहे का एक सलाख हाथ में लेकर जिसमें लोहे की छोंटी-छोटी पाँच-दस कड़ियां होती हैं—बजाता रहता है और गीत में व्यंग्य की प्रधानता रहती है। राजा के प्रति, जमीदार के प्रति, हाकिम के प्रति एवं पुलिस अधिकारियों के प्रति इनमें तीव्र व्यंग्य किया जाता है। इन लोक-गीतों के अतिरिक्त 'नयन्ददृति लोननुक्त ग्यवुन' (खेत में नलाई करने के और फसल काटने के गीत), हांजिनेति (हाँड़ियों के गीत), 'ललनावुन' (लोरियाँ गीत), 'बचनगमा' लोलग्यवुन (लोलोगीत) 'सोतं ग्यवु' (बसन्त के गीत), कथग्यलुन (कथागीत) यन्द्रनाथ (चरखा कातते समय गाये जाने वाले गीत) तथा 'ग्रेटि पेद्दानग्यवुन' (चक्की पीसते समय गाये जाने वाले गीत) विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। कश्मीरी काव्य का आदि रूप इन्ही लोक-गीतों में सुरक्षित है। कालान्तर में अनेक कवियों एवं कवयित्रियों को इनसे प्रेरणा मिली।[74]

दिल्ली सल्तनत के काल में अरबी, तुर्की ओर फारसी भाषा के सम्मिश्रण के दूसरे उदाहरण चन्द्रवरदाई के ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो में भी मिलते हैं। जैसे सलाम, बादशाह, परवर दिगार, दुनिया, मस्त (Mast) खलक (the Creator or God) पैगाम (Message), फरमान (Order)। दूसरी ओर सुल्तान मसूद का दरबारी कवि मिनुचीहरी और सूफी संत कवि हकीम सना (Hakim Sana) ने अपनी कविताओं में हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया।

शेख फरीद हिन्दी बोलते थे, इसका स्पष्ट प्रमाण है। शेख निजामुद्दीन औलिया के विषय में कोई प्रमाण ऐसा नहीं मिलता कि वे हिन्दी बोलते थे परन्तु "सियार-अल-औलिया" तथा "जवामी-अल-कलीम" में यह स्पष्ट है कि वे हिन्दी गीतों को शमा में सुनना पसन्द करते थे। एक बार कव्वाल (गायक) ने जब हिन्दी गीत गाना प्रारम्भ किया तो शेख निजामुद्दीन इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने नाचना प्रारम्भ कर दिया। शमा विधिवत समाप्ति के बाद भी प्रशसा होती रही। दो कव्वालों ने उनके चेहरे को पहचान कर उस गीत को दोबारा गाना प्रारम्भ कर दिया। एक-दूसरे अवसर पर जब फारसी की गजल शमा में कोई प्रभाव न जमा सकी तो कव्वाल हसन मसमन्दी (Hasan Masmandi) ने हिन्दी गीत गाना प्रारम्भ कर दिया और श्रोताओं की भावनाओं को जगा दिया। एक दूसरे अवसर पर शेख निजामुद्दीन औलिया कुएँ से पानी खींचने वाले का गाना सुनकर आनन्द विभोर हो गये थे। इसका अर्थ यह है कि गाने के स्वर ने शेख निजामुद्दीन औलिया को उसी प्रकार आनन्दित किया जिस प्रकार मातृ भाषा के गाने का स्वर करता है। हिन्दी गानों को सीखने के लिए लोगों में रुचि बढ़ गई और गायक उसे फारसी गजल में मिश्रित करने लगे। हिन्दी भाषा में रुचि उत्पन्न होने से अन्य भाषाओं अथवा फारसी आदि के महत्त्व को खतरा उत्पन्न हो गया। किसी ने उपस्थित व्यक्तियों से पूछा कि फारसी की गजल, गीत आदि की अपेक्षा लोग हिन्दी को क्यों पसन्द करते हैं? शेख गेसूदराज ने कहा कि इनमें से प्रत्येक अपने गुण रखता है परन्तु हिन्दी मधुर और हृदयग्राही (Soft and touching) है। इन्होंने बताया कि हिन्दी में मृदुता, कोमलता, सुझावात्मक (a tenderness, a delicacy, a suggestiveness) गुण है और ये बातें अनुभव से ही प्राप्त की जा सकती हैं।

हम जानते हैं कि शेख मुइनुद्दीन चिश्ती से पहले सूफी संत शेख अब्दुर-रहमान (Abdur Rahman) अजमेर में बस गये थे और वे हिन्दी की पहली पुस्तक के रचियता थे।

अमीर खुसरो शमा को मस्तिष्क में रखकर कविताएँ रचते थे। उन्होंने गर्व से कहा था कि मैं एक भारतीय तुर्क हूँ और मेरे उत्तर हिन्दी में हैं।

निर्गुण-साहित्य की दूसरी धारा में प्रेम-मार्गी काव्य है जिसने ऐकेश्वरवाद का प्रचार करते हुए निर्गुण संतों की भाँति हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच सामंजस्य लाने का प्रयास किया। सूफी-संतों ने अपनी प्रेम-गाथाओं के रूप में प्रेम की जो पावन सुरसरिता प्रवाहित की वह हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्यता और अजनबीपन को मिटाने में सफल हुई।

भक्ति-साहित्य वस्तुतः लोक-जागृति और जन-संस्कृति का प्रतीक था। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में इस साहित्य ने सामाजिक और सांस्कृतिक

एकता के साथ-साथ हिन्दू-मुस्लिम एकता को खूब बढ़ावा दिया।

कुछम ध्यकालीन इतिहासकारों के अनुसार यदि राज्य पर धर्म छाया हुआ होता तो क्या समकालीन हिन्दी साहित्य में प्रतिबिम्बित इतने समन्वयवादी साहित्य का सृजन और समन्वयवादी संस्कृति की स्थापना हो सकती थी? जायसी, कुतबन, मुल्ला दाउद, अमीर खुसरो, कबीर आदि सभी लेखक मध्य-काल में समन्वयवादी संस्कृति के जीवंत प्रतीक हैं।

इस प्रकार मुगल काल से पूर्व ही भारत में समन्वयवादी संस्कृति और समाज की स्थापना हो चुकी थी जिसका अकबर ने पूर्ण विकास किया और साम्प्रदायिक समन्वय, धर्म निरपेक्षवाद एवं समन्वित संस्कृति को भारतीय जन-जीवन का अभिन्न अंग बना दिया था।[76]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि किस प्रकार साहित्य ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की कड़ी को आगे बढ़ाया।

संदर्भ

1. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत पृ० 501।
2. डा० ताराचन्द : इन्फलूऐंस आफ इस्लाम आन इण्डियन कलचर, पृ० 243
3. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 502, 3, 4
4. वही पृ० 505, 6
5. मो० मुजीब . दि इण्डियन मुस्लिम, पृ० 190
6. वही पृ० 191
7. वही पृ० 192, 93
8. वूल्जे हेग : दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० 622
9. वही पृ० 726
10. वही पृ० 630
11. वही पृ० 635
12. वही पृ० 621, 623
13. वही पृ० 636
14. वही पृ० 628
15. वही पृ० 668
16. ए० बी० एम० हबीबुल्ला : दि फाउंडेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ० 356,71
17. भारत की चित्रकला पृ० 46
18. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 511-12
19. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 212-15

20. खलीक अहमद निजामी : सम आसपेक्टस आफ रीलिजन एण्ड पालटिक्स इन इण्डिया ड्यूरिंग थरटीन सेन्चुरी पृ० 316
21. भारत की चित्रकला पृ० 48, 54-56।
22. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 211-12
23. एम० ए० करनदीकर : इण्डियाज ट्रांजीसस टू मोडनेएटी, पृ० 65 एव हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 523
24. ए० बी० एम० हबीबुल्ला : दि फाउंडेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृ० 311
25. मुसलमान और भारतीय संगीत पृ० 55-58।
26. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० 343।
27. मुसलमान और भारतीय संगीत पृ० 58, 59।
28. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० 343, 44।
29. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० 202-204। एवं 32
30. एम० मुजीब : दि इण्डियन मुस्लिम, पृ० 165, 67 एवं 30 एवं हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 523-24
31. एम० मुजीब : दि इण्डियन मुस्लिम, पृ० 198
32. ए० बी० एम० हबीबुल्ला : दि फाउंडेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ० 311 एवं मुसलमान और भारतीय संगीत पृ० 59।
33. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० 212।
34. मुसलमान और भारतीय संगीत पृ० 60, 61
35. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० 213-15
36. मुसलमान और भारतीय संगीत पृ० 61
37. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० 216, 17
38. मुसलमान और भारतीय संगीत पृ० 61, 62
39. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० 217
40. मुसलमान और भारतीय संगीत पृ० 62
41. वही, पृ० 68, 69
42. भारत की चित्रकला पृ० 46
43. संस्कृत साहित्य को इस्लाम परम्परा का योगदान पृ० 237, 38
44. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत' पृ० 523-27 एवं एम० मुजीब : दि इण्डियन मुस्लिम, पृ० 199-200
45. हरीशचन्द वर्मा : मध्यकालीन भारत पृ० 527
46. अजीज अहमद : इस्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन दी इण्डियन इनवायरमेन्ट, पृ० 241-42

47. वही पृ० 244
48 मुसलमान और भारतीय संगीत पृ० 107-110।
49. वही, पृ० 112।
50. वही, पृ० 114, 16।
51. वही, पृ० 117-21।
52. अरब-हिन्द ताल्लुकात पृ० 61, 71
53. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 529-30
54. प्रो० एहतेशाम हुसैन : उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० 14-40, 42, 43
55. एम० मुजीब : दि इण्डियन मुस्लिम पृ० 161
56. अजीज अहमद : इस्टडीज इन इस्लामिक कलचर इन दी इण्डियन इनवायरमेन्ट पृ० 118, 19
57. आज का भारतीय साहित्य पृ० 193
58. भारतीय वाङ्मय पृ० 309
59. आज का भारतीय साहित्य पृ० 193, 94
60. भारतीय वाङ्मय पृ० 320
61. बंगला साहित्य का इतिहास पृ० 24, 25
62. भारतीय वाङ्मय पृ० 320
63. बंगला साहित्य का इतिहास पृ० 28-30
64. भारतीय वाङ्मय पृ० 450, 51।
65. आज का भारतीय साहित्य पृ० 175,76।
66. भारतीय भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० 212-15 एवं भारतीय वाङ्मय पृ० 462,63।
67. आज का भारतीय साहित्य पृ० 175-78।
68. भारतीय वाङ्मय पृ० 476,77।
69. भारनीय वाङ्मय पृ० 244, 57, 58, 60, 61।
70. भारतीय भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० 104।
71. आज का भारतीय साहित्य पृ० 102, 3।
72. आज का भारतीय साहित्य पृ० 105, 6।
73. भारतीय भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० 107-9।
74. वही, पृ० 104-6।
75. एम० मुजीब : दि इण्डियन मुस्लिम पृ० 170, 71, 75
76. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत पृ० 541

अध्याय-9

भक्ति-आन्दोलन तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता

संतों और सूफियों के प्रयासों से जो भक्ति एवं सूफी आन्दोलन प्रारम्भ हुए उनसे मध्यकालीन भारत के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में एक नवीन शक्ति एवं गतिशीलता का संचार हुआ। प्रो० रानाडे के अनुसार भक्ति आन्दोलन के परिणामों में प्रमुख थे—भक्ति के प्रति आस्था का विकास, लोक भाषाओं में साहित्य रचना का आरम्भ, इस्लाम के सहयोग के परिणामस्वरूप सहिष्णुता की भावना का विकास जिसकी वजह से जाति व्यवस्था के बन्धनों में शिथिलता आयी और विचार तथा कर्म दोनों स्तरों पर समाज का उन्नयन हुआ।

दिल्ली सल्तनत के समय हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल-मिलाप के लिये किये गये कार्यों को सांस्कृतिक समन्वय कहा जाता है। इस सामन्जस्य के उदय में दोनों जातियों के धार्मिक नेताओं और विद्वानों का अधिक हाथ रहा जिनमें अनेक सूफी-संत तथा भक्ति आन्दोलन के भक्त शामिल थे। अनेकानेक विदेशी तुर्कों और अफगानों ने भारतीय स्त्रियों से विवाह कर लिये। उनके रनवासों में भारतीय स्त्रियों का बाहुल्य हो गया। इन भारतीय स्त्रियों ने विदेशी मुस्लिम परिवारों के आचरण, चरित्र और भावनाओं को प्रभावित किया। भारतीय माताओं की परम्परागत कोमलता, वात्सल्यता और सहृदयता ने तुर्की अफगानों और मंगोलों के हृदय की निर्ममता और नृशंसता को कम कर दिया। उन्हें कोमल बना दिया। इनकी संतानों के स्वभाव और चरित्र में भी तुर्कीपन कम और भारतीयता की भावना की प्रधानता हो गयी।

मुस्लिम शासन में जहाँ कहीं भी हिन्दुओं को राजाश्रय और सहानुभूति प्राप्त हुई, उन्होंने मुसलमानों के हृदय में अपने व्यवहार और चरित्र से सहिष्णुता और सह-मिलन की उदात्त भावनाएँ जागृत कर दीं। दोनों में एक-दूसरे के प्रति समन्वय और सौहार्द्ध के भाव उत्पन्न हो गए। मुस्लिम वर्ग सोचने लगा कि हिन्दुओं को पूर्णरूपेण कुचलना असम्भव है और हिन्दुओं ने सोचा कि अब मुस्लिम

लोग भारत में स्थायी रूप से बस गये हैं और वे शासक भी हैं इसलिए उनका विरोध करना, उनसे लड़ना अहितकर होगा। अतः दोनों वर्गों में पारस्परिक आदान-प्रदान एवं समन्वय की भावनाएँ बलवती हुई।

नागरिक क्षेत्रों में समन्वय और सम्मिश्रण की भावनाएँ उतनी तीव्र व बलवती नहीं थीं जितनी कि ग्रामीण क्षेत्रों में, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में वहाँ की जनता (हिन्दू) ने विवशतावश हिन्दूधर्म को त्यागकर इस्लाम स्वीकार किया था। रहन-सहन, आचार विचार में वे हिन्दुओं से मिलते-जुलते ही थे। उन्होंने अपना कोई पृथक समाज, संस्कृति और इच्छा से धर्म स्थापित नहीं किया था इसलिए वे मुस्लिम वर्ग को अधिक प्रभावित कर सके और समन्वय की ओर झुके। इन बातों ने हिन्दू समाज तथा मुस्लिम समाज दोनों का ही रूप बदल दिया।

किन्तु 14वीं तथा 15वीं शताब्दी के लगभग जन सामान्य की आस्था और भक्ति के भीतर से एक व्यापक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो सिंधु, गुजरात तथा महाराष्ट्र से लेकर बंगाल, असम और उड़ीसा तक फैल गया। भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक जीवन में यही आन्दोलन भक्ति आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। इस आन्दोलन ने संतों के एक नये वर्ग को जन्म दिया जिसके अगुवा कबीरदास जी कहे जा सकते हैं। इन संत भक्तों ने एक ओर तो भक्ति के आधारभूत तत्त्वों के बीच सामंजस्य तथा सद्भाव स्थापित किया और दूसरी ओर भारतीय रहस्यवादी धारणाओं और सूफी साधना की रहस्यवादी धारणाओं के बीच सामजस्य की सृष्टि की। इनमें रामानन्द, नामदेव, कबीर, नानक, दादू, रविदास के नाम प्रमुख हैं। इन संत भक्तों में से अधिकांश समाज की छोटी जातियों से आये थे। इन्होंने मुस्लिम सूफियों के सिद्धान्तों को अपने बहुत निकट पाया था। परिणाम यह हुआ कि इन संतों और सूफियों के बीच मेल-जोल काफी बढ़ गया और भेदभाव की दीवार को ढहना पड़ा।

रामानन्द

आचार्य रामानुज की पीढ़ी में स्वामी रामानन्द पहले संत थे जिन्होंने भक्ति के द्वारा जन-जन को नया मार्ग दिखाया। रामानन्द का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण, परिवार में प्रयाग (इलाहाबाद) में हुआ था। उनकी शिक्षा प्रयाग और बनारस में हुई थी। उनके पहले गुरु वेदांती थे परन्तु बाद में वे गुरु राघवानन्द के शिष्य बन गये जो रामानुज के श्री सम्प्रदाय के थे। वे स्वतन्त्र मस्तिष्क के व्यक्ति थे। उन्होंने विस्तृत यात्राएँ की थीं जिसके कारण उनका दृष्टिकोण विस्तृत हो गया। मेकालीफ के अनुसार—यह निश्चित है कि रामानन्द बनारस में विद्वान मुसलमानों के सम्पर्क में अवश्य आये।

उनके अनुभवों और विचारों का यह परिणाम हुआ कि वे उस सिद्धान्त से हट गये जिनके वे अनुयायी थे। अब वे राम के स्थान पर विष्णु की पूजा करने लगे। उन्होंने भक्ति के सिद्धान्तों को चारों जातियों को बिना भेदभाव मानने के लिये कहा। उन्होंने अपने नये सम्प्रदाय में सभी जाति, दोनों लिंगों और मुसलमानों में से भी शिष्य बनाए। उनके बारह शिष्यों के नाम—अनन्तनन्द, कबीर, पीपा (Pipa), भावनन्द, सुखा, सुरसुर (Sursur) पदमावती, नरहरी, रैदास, धन्ना तथा सेन एवं सुरसुर की पत्नी थी जो उनके बाद में प्रसिद्ध हुए। रामानन्द की शिक्षाओं ने दोनों धार्मिक विचारधाराओं के समन्वय में सहायता दी। एक विचारधारा रूढ़िवादी (Conservative) और दूसरी विचारधारा प्रतिक्रिया वादी (Redical), थी। पहली विचारधारा प्राचीन भारतीय विचारधारा से लगी रही और केवल थोड़े ही परिवर्तन किए जाने की अनुमति दी। दूसरा रास्ता स्वतन्त्र बन गया और एक नया धर्म बनाने की कोशिश की जो हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मान्य हो।[1]

उन्होंने ऐकेश्वरवाद पर जोर देकर हिन्दू-मुसलमानों मे प्रेम-भक्ति सम्बन्ध के साथ सामाजिक समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने अन्य आचार्यों की भाँति कोरी दार्शनिकता का साथ नहीं दिया बल्कि भक्ति की सुगमता व व्यापकता पर उनका बल सर्वाधिक रहा है। उन्होने न तो किसी देवता विशेष पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और न ही किसी उपासना पद्धति पर जोर दिया। जगह-जगह प्रयत्नपूर्वक इन निष्ठावान विचारकों ने पंडिताऊ भाषा का निषेध किया। उन्होंने ब्राह्मणों और क्षत्रियों की उच्चता का खण्डन करते हुए भक्ति के द्वार सबके लिए खोल दिए। परिणामत रामानन्द की विचारधारा से एक नवीन आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। उनके बाद कबीर, नानक, दादू आदि संतों का एक मात्र ध्येय सामाजिक धार्मिक भ्रष्टाचार से मानव को मुक्त कराना था।[2]

रामानन्द की मुख्य देन भक्ति के प्रेम के सिद्धान्त का प्रचार करना था और निम्न कहे जाने वाले हिन्दुओं का धार्मिक कार्यों में सम्बन्ध स्थापित कराना था। भक्ति काल के अधिकतर कवि निम्न जातियों के थे। रैदास जो रामानन्द का एक शिष्य था जूते बनाने वाला था और उसने ब्राह्मणवाद तथा जाति भेद-भाव का खण्डन किया तथा अपनी भाषा में फारसी शब्दों का भी प्रयोग किया। रामानन्द के मुस्लिम शिष्य भी थे। कृष्ण भक्ति ने विशेष रूप से मुसलमानों को आकर्षित किया और रसखान जो इस्लाम के अनुयायी थे, ने कृष्ण भक्ति में प्रेम पताका (Pram Pateka) लिखी तथा मुसलमानों का एक समुदाय उनके चारों ओर घिरा रहता था।

व्याप्त भेद-भाव का खण्डन किया और मध्य मार्ग को सिखाया।

"हिन्दू मंदिर में जाते हैं और मुसलमान मस्जिद में जाते हैं परन्तु कबीरदास वहाँ जाते हैं जहां दोनों जने जाते हैं। दोनों धर्म दो शाखाओं की भांति हैं जिनके बीच में से अंखुआ (Sprout) गुजरता है। उन दोनों के रीति-रिवाजों के खण्डन करने का कबीर ने एक ऊँचा रास्ता अपनाया है। अगर आप यह कहते हैं कि मैं हिन्दू हूँ तो यह गलत है और मैं मुसलमान भी नहीं हूँ। मैं एक पांच तत्वों का बना हुआ शरीर हूं जहां अज्ञान रहता है।"

हिन्दू कहो तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाँहि।
पांच तत्व का पोटला गैबी खेलै माँहि॥

सचमुच मक्का काशी बन गयी है और राम रहीम बन गया है।

कबीर अपने अंशावतारवादी संदेश के प्रति जागरूक थे। उनके जीवन और शिक्षाओं ने उस रास्ते को अपनाया जो इमामों और शेखों के सिया और सूफी सम्प्रदायों के अनुरूप थे। उन्होंने कहा मैं असीम ईश्वर का सेवक हूं और मैं भक्तों को बचाने आया हूं। मैंने संसार को अपने मुँह से ज्ञान सिखाया है जिस पर सत्य की छाप है। मुझे यहां इसलिए भेजा गया हैं कि संसार दु:खी है; सब जन्म और मृत्यु की ज़ंजीरों में जकड़े हुए हैं और कोई भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सका है। सर्वशक्तिमान ने मुझे आदि और अन्त को स्पष्ट रूप से दिखाने भेजा है। श्रुति से संसार की रचना की व्याख्या करने के बारे में वे कहते हैं— मैं यहां सत्य का प्रसार करने आया हूं···मैंने प्रत्येक घर में इस शब्द को सिखाया है। जो मुझे नहीं सुनेंगे, वे सत्ता (Existence) के समुद्र में चौरासी लाख धाराओं के बीच धकेल दिए जाएंगे। यह सर्वशक्तिमान ईश्वर का फरमान है। ऐसा जागृत गुरु कबीर ने कहा। वे फिर कहते हैं "जो मुझे नहीं सुनेंगे वे यम के पास पहुंच जाएंगे, लेकिन जो मुझे सुनेंगे वे मुक्ति को प्राप्त होंगे।"[5]

वह हिन्दू और मुसलमान दोनों से कहते हैं कि वे सभी जीवित प्राणियों के प्रति सम्मान रखें और खून-खराबे से अलग रहें। वे बार-बार कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान एक हैं, वे एक ही ईश्वर की पूजा करते हैं। वे एक ही पिता की संतान हैं और वे एक ही खून के बने हैं। सभी स्त्री-पुरुष तुम्हारे ही रूप हैं, कबीर अल्लाह और राम का पुत्र है। उसका वह ही गुरु और पीर है। हिन्दुओं और तुर्कों का एक ही रास्ता है जिसकी ओर सच्चे शिक्षक ने संकेत दिया है। कबीर कहता है, "ऐ संत सुनो! राम कहो या खुदा कहो, बात एक है और धर्म उनका जो समझते हैं एक है, चाहे वे पंडित हैं या शेख हैं। वास्तव में इसका खोजना कष्टप्रद है।

हिन्दू राम कहते हैं, मुसलमान रहीम कहते हैं। यद्यपि दोनों लड़ते हैं और एक-दूसरे को मारते हैं परन्तु सत्य कोई नहीं जानता।

कबीर का हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने का पहला प्रयत्न था। दक्षिण के संतों ने मुस्लिम तत्वों को मिला लिया था परन्तु कबीर पहले साहसी व्यक्ति थे जिसने मध्यमार्ग की आवाज़ बुलंद की और उनकी आवाज़ पूरे भारत में गूंजी फिर और सैकड़ों स्थानों से गूंजी। उनके अनेक हिन्दू-मुसलमान शिष्य थे और अब लाखों की संख्या में उनके अनुयायी हैं।[6]

डॉ० कमरूद्दीन के अनुसार कबीर बचपन से ही सत्य के खोजी थे। यह वह जमाना था जब भारत में बहुत से मुसलमान सूफी विदेशों से आकर इस्लाम धर्म का प्रचार कर रहे थे। भारत में भी मुसलमान सूफियों और हिन्दू धर्म के प्रति सहानुभूति पैदा हो चली थी और दोनों धर्मों के अनुयाइयों की विचारधारा में एक हद तक परिवर्तन आ चुका था। दक्षिण भारत में रामानुज, निम्बारक, माधवाचार्य आदि संतों द्वारा धार्मिक सुधार की विचारधारा जोर पकड़ चुकी थी परन्तु मानव समानता, प्रेम और एक ऐसी विचारधारा, जो हिन्दू-मुसलसान दोनों के लिए मान्य हो केवल कबीर की शिक्षाओं में ही मिलती है। उन्होंने हिन्दू और इस्लाम धर्म के ऊपरी रीति-रिवाज पर, जो उन्हें एक-दूसरे के निकट आने से रोकती थी, खुलकर हमला किया और सीधी राह पर लाने का प्रयत्न किया। उनका कहना है—

"एक बूंद, एक मल-मूत्र, एक चाम, एक गुदा।
एक जात ते, सब उपजा, कौन ब्राह्मण, कौन सूदा॥"

कबीर साहब भारत के लोगों का ध्यान ऐसे विश्व धर्म की ओर दिलाना चाहते थे जिसमें न कोई हिन्दू और न कोई मुसलमान हो, न ब्राह्मण हो, न शूद्र हो, न कोई छोटा हो, न कोई बड़ा हो : वह चाहते थे—

"वही महादेव, वही मुहम्मद-ब्रह्मा आदम कहिए,
को हिन्दू को तुरूक कहावे एक जमीं पर रहिए,
वेद किताबें पढ़ें वे कुतुब के मौलाना वे पांडे,
बेगरि-बेगरि नाम धराये एक मटिया के भांडे॥"

कबीर में वेदांत की उच्च विचारधारा के साथ वर्णभेद के प्रति विरोध एवं हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों के प्रति नाराज़गी थी। जड़-धर्म बन्धनों द्वारा मर्यादित समाज व्यवस्था को नेस्तो-नाबूद करने के लिए उन्होंने बड़े साहस और निर्भयता के साथ सक्रिय प्रयत्न किये। दूसरे इस्लाम के एकेश्वरवाद और वेदांत की अद्वैत भावना में सूक्ष्म एकता को लक्षित कर उन्होंने इन दोनों धर्मों के दोषों का निवारण कर उनकी अच्छाइयों को समन्वित कर एक नई विचारधारा दी।[7]

कबीर के आविर्भाव के समय सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रांतियाँ अपने चरम शिखर पर थीं। राजनीति की परिस्थितियों में कोई स्थिरता नहीं थी। न राजवंश स्थिर था, न राजनीति निश्चित थी। आकस्मिक राज्य-परि-

वर्तन की संभावना सदैव बनी रहती थी। सरकार जनता पर मनमाना अत्याचार करती थी। ऐसी परिस्थितियों में जनता की राजवंश या राजनीति में आस्था नहीं रही। निरपेक्ष भाव से वह (जनता) कहती—

"कोउ नृप होय हमें का हानि !"

एक ओर प्रजा ऐसी असहाय और दूसरी ओर कबीर का आविर्भाव। इस घटना को देवी-संयोग ही कहना पड़ेगा।[8]

कबीर के शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। उनके हिन्दू शिष्यों में जागूरास, भगवानदास, धर्मदास, सूरतगोपाल और बघेल राजवीर सिंह का विशेष स्मरण किया जाता है। बिजली खां नवाब भी उनके शिष्य थे। उनके हिन्दू-मुसलमान शिष्यों ने मिलकर कबीर की मृत्यु के बाद उनके नाम से एक पंथ चलाया — कबीर पंथ।[9]

मगहर में नदी के नाले के निकट अभी भी कबीर की स्मृति में बिजली खां के द्वारा बनवाया "मया रोजा" मौजूद है···आदर्श को यथार्थ के धरातल पर स्थापित करने की अदम्य प्रेरणा और कौशल को अपने में दिखाकर ही कबीर, सेन, पीपा, रैदास, धन्ना, कमाल, दादू आदि साधकों को अपनी ओर आकृष्ट कर पाये थे।[10]

कबीर का "निर्गुण सम्प्रदाय" धर्म, जाति आदि किसी भी प्रकार की संकुचितता से मुक्त एक ऐसे आन्दोलन का परिचायक है जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्म के विरक्त महात्माओं का समागम हुआ। केवल व्यक्तिगत या सार्वजनिक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आशा-आकांक्षाओं में ही नहीं, उनके धार्मिक सिद्धान्तों में भी समानता देखने में आती है। इस सम्मिश्रण की भूमिका का मूलाधार हिन्दुओं के वेदांत और मुसलमानों के सूफी मत में निहित है।[11]

कबीर दर्शन अर्थात निर्गुण सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता अनेक शुभ तत्त्वों का समन्वय है। अतः कबीर दर्शन को हृदयंगम करने के लिए इस समन्वय के स्वरूप को समझना आवश्यक है। इसके मूल स्रोत के रूप में वेदान्त, योग, सांख्य, तन्त्र, शैव, वाममार्गी, शाक्त, नाथ, वैष्णव दर्शन, इस्लाम और सूफी—इन सब भावों के उपकारी तत्त्वों के सम्मिश्रण से इस उत्कृष्ट परम्परा का निर्माण हुआ। इस सम्प्रदाय के सतों के हृदय में सब प्रकार के कल्याणकारी प्रभावों को आत्मसात करने की समुद्र जैसी उदार क्षमता और विशाल दृष्टि के साथ अध्यात्म के रहस्यों को अपने में पूर्ण सुरक्षित रखकर रत्न गर्भा भी प्रमाणित किया।

निर्गुण मत के अन्तिम स्वरूप की केवल वे ही विशेषताएँ स्वामी रामानन्द की ओर से नहीं मिली जो केवल अवतारों या मूर्ति-पूजा के विरुद्ध थीं या जिनका सम्बन्ध दाम्पत्य भाव के रूपक थे। ये दोनों विशेषताएँ इस्लाम या सूफी

मत से आई थीं।

कबीर की रचनाओं में इस्लाम में वर्णित ईश्वर के लिए "कर्ता" शब्द का प्रयोग "एक जोति" से सम्पूर्ण सृष्टि का उत्पन्न होना, 'अम्बर' 'चौदह चन्दा' आदि इस्लामी भावों का प्रदर्शन, "प्रेम-धियान" को योग-साधना का मुख्य लक्ष्य मानना, कर्मवाद और जन्मान्तरवाद की इस्लामी धर्मशास्त्र के अनुरूप मान्यता आदि से प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव का परिणाम है।

इस्लाम द्वारा निर्गुण सम्प्रदाय को हिन्दू धारणाओं और परम्पराओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। सूफी मत ने अभिव्यक्ति की शैली को प्रभावित किया। दाम्पत्य प्रेम के प्रतीकों के लिए निर्गुण संत कवि सूफी कवियों के ऋणी माने जाते हैं।[12]

अवतारवाद की सीमा में मनुष्य ईश्वर और ईश्वर मनुष्य है। यह एक ऐसा धर्म-निरपेक्ष सत्य है कि इस बिन्दु पर सारे बैर-विरोध समाप्त हो जाते हैं। मुसलमान के पीर, फकीर और पैगम्बर या खुदा को हिन्दू और हिन्दू के संत-साधु, अवधूत और भगवान को मुसलमान श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं। यही नहीं, वे उनके अनुयायी और भक्त हो जाते हैं।

इस्लाम में भी निराकार ईश्वर को मनुष्य के समान कल्पित कर मनुष्य में सारे ईश्वरीय लक्षणों का निरूपण कर उसमें समान कर्म, धर्म, स्वभाव और गुणों का आरोपण किया गया है। उसके मत में अल्लाह अल-हाफिज (दृष्टा), अल-खालिक (सृष्टा), अल-मुसव्विर (चित्रकार), अलहयी (जीवनदाता), अल-कादिर (शक्तिमान) और अल-कबीर (ज्ञाता) है। वह अल-रहमान (करुणा सागर), व्यक्त (अवतरित) होकर जीवों पर कृपा करता है।

अल्लाह के विविध गुण वेदान्त के ब्रह्म और पुराण के भगवान से पूर्ण साम्य रखते हैं —

1. जात — एकता, नित्यता, सत्यता, स्वय, खुदा।

2 जमाल — उदारता, क्षमा (माधुर्य प्रधान), सौन्दर्य, शोभा।

3. जलाल — शक्ति, शासन (ऐश्वर्य प्रधान)।

4. कमाल - पूर्ण याने बाह्य और आन्तरिक परस्पर विरोधी गुणों के आश्रय।

संत-साहित्य और सूफी साहित्य के विवेचक ईश्वर में निर्गुण तत्त्वों को देखकर उसे निराकार कहने लगे।[13]

कबीर ने निर्गुण का उपदेश दिया जिसमें उसने भगवान को निराकार माना और हिन्दू-मुसलमानों में इस प्रकार भी एकता स्थापित करने की कोशिश की।

फारसी इतिहासकारों का कहना है कि शेख तकी के वे शिष्य भी रहे और

उन्होंने तकी से ऐसा वरदान माँगा था जिससे वह हिन्दू-मुसलमानों के भेद-भाव को दूर कर सकें। सुल्तान सिकन्दर लोदी के दरबार में कबीर साहब से कुछ लोग बेहद नाराज थे। वे चाहते थे कि कबीर साहब एक सच्चे मुसलमान की तरह रहें। उन्हें कबीर साहब ने यही उत्तर दिया था कि उनके विचार से हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग नही हैं। सुल्तान को कबीर साहब के विचार पसन्द आये और उन्होंने उन्हें मौलवियों के चंगुल से निकाल दिया।

डॉ० कमरुद्दीन के अनुसार कबीर एक मस्तमौला और अक्खड़ सुधारक थे। वह किसी के सामने झुकना तो जानते ही न थे। कोई पंडित हो या मौलवी; फकीर हो या बादशाह। जो कुछ उन्हें कहना होता था, वह साफ कहते थे और यह उनके व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता थी। लेकिन वह धर्म उपदेशक भी न थे। उन्होंने किसी एक धर्म का प्रचार नहीं किया। वह एक हिन्दू माँ से पैदा हुए। मुसलमान नाम रखा गया। मुसलमान घर में पालन-पोषण हुआ लेकिन शिष्य रामानन्द एवं एक मुसलमान सूफी शेख तकी के भी रहे।

कबीर का जीवन मुसलमान परिवार में बीता, परन्तु हिन्दू साधुओं का सत्संग मिलने के कारण उन्होंने नवीन दृष्टिकोण अपनाया। स्वामी रामानन्द से उन्होंने एकान्तिक प्रेम पुष्ट वेदान्त का ज्ञान प्राप्त किया था और शेख तकी से सूफी मत का। इन्हीं दोनों के प्रभाव से कबीर के परमात्मा अमूर्त और निर्गुण रहे। इसी नवीन निर्गुणवाद में समय की सब आवश्यकताओं की पूर्ति का आयोजन हुआ तथा भारतीय संस्कृति का सारा निचोड़ भी इसमें आ गया।

डॉ० कमरुद्दीन के विचार मे उनके नज़दीक दोनों धर्म बराबर थे। अगर बुराइयाँ है तो दोनों मे। वह यदि हिन्दुओं को उनके रीति-रिवाजों पर फटकारते थे तो बख्शते मुसलमानों को भी नही थे। उन्हें भी खरी-खरी सुनाते थे। दोनों उनकी बात सुनते थे और मजे की बात यह है कि फटकार सुनने के बाद भी दोनों ही उनसे प्रभावित थे। कबीर साहब के मरने पर दोनों के बीच झगड़ा होता है।

कबीर ने मरते समय कब्र के स्थान पर चादर ओढ़ ली थी और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों वहाँ उपस्थित थे। उनमें द्वन्द्व छिड़ गया था। मुसलमान कहते थे "कबीर को दफन करेंगे और हिन्दू कहते थे, हम कबीर के शव का अग्नि-संस्कार करेंगे।" कबीर को यह झगड़ा अच्छी तरह मालूम था। इसके समाधान के लिए ही उन्होंने ऐसा चमत्कार किया था। जब उनके शिष्यों ने चादर उठायी तो फूल के सिवा और कुछ न निकला। दोनों ने उनके फूल बराबर-बराबर बाँट लिए।

उपर्युक्त विवरण से यह बात अपने आप स्पष्ट हो जाती है कि कबीर के जीवन के रूप में जिस प्रकार प्रकृति ने हिन्दू-मुसलमान को मिलाने की कोशिश

की, उसी प्रकार प्रकृति ने भी उनकी मृत्यु के समय भी हिन्दू-मुस्लिम एकता की कोशिश की अर्थात् कबीर का जन्म, जीवन-क्रम तथा मृत्यु तीनों बातों में प्रकृति ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयास किए।

कबीर ने आत्म परिचय की शैली में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए कहा है। उनके अनुसार -- मैंने अपनी जाति और कुल दोनों को विसार दिया है एवं उलट दिया है अर्थात् शुद्धता छूट गई, मैं ब्राह्मण वैष्णव की कोटि में आ गया, क्योंकि मैं धरती पर जीने वाला जुलाहा नहीं हूँ, मैं सुन्न महल हूँ सहज समाधि की स्थिति में परमात्मा को बुनता हूँ।

"मैंने पंडित और मुल्ला दोनों को छोड़ दिया है। किसी भी मज़हब या सम्प्रदाय के बंधन से मैं मुक्त हूँ इसलिए कोई सैद्धान्तिक द्वन्द्व मेरे मार्ग में नहीं है।"

' मैं तत्त्व के ताने-बाने से अपने लिए दिव्य परिधान तैयार कर उसे धारण करता हूँ।"

"आगे चलकर मैं वहाँ पहुँचा, जहाँ मेरा "मैं" भी न रहा। उस परम पद पर स्थित होकर ये पद गाता हूँ, इसलिए ये पद भी परम-पद का संकेत देते हैं।"

"पंडित और मुल्ला ने धर्म-शास्त्र में आज्ञा की है, उसे मैंने नहीं माना है। मैं शास्त्र-बन्धन से स्वतन्त्र हूँ।[13]

इससे यह सिद्ध होता है कि कबीर किसी धर्म के पक्ष में नहीं थे। वे दोनों धर्मों को समान देखते थे और उन्हें मिलाने की कोशिश करते थे।

कबीर पन्थ जो कबीर के नाम पर चल रहा है, कबीर की मृत्यु के काफी दिन बाद उनके शिष्य धर्मदास ने शुरू किया। वह स्वयं अपने आपको न हिन्दू कहते थे न मुसलमान। उनका विचार था कि धर्म के नाम पर लड़ना बेकार है

हिन्दू कहे मो को प्यारा तुरूक कहे रहमाना,
आपस में दोऊ लरि-लरि मुए मरम न कोऊ जाना ॥

डा० कमरुद्दीन के अनुसार कबीर एक बहुत बड़े विद्वान न थे। उनका ज्ञान व्यावहारिक था। वह माथे पर तिलक लगाते थे, जनेऊ भी पहनते थे और ब्राह्मण पर व्यंग्य भी करते थे।

तू बांमन मैं काशी का जुलाहा बूझे मोर ज्ञियाना।

और साथ ही इस्लामी विचारधारा पर व्यंग्य भी करते थे

या करीम बलि हिकमत तेरी एक खाक सूरत बहुतेरी।

लौकिक कबीर के इन सब रंगों में एक शब्द "प्रेम" सबसे बलवान है बल्कि सबको उसकी व्याख्या मालूम होती है। विद्या भी उसके नजदीक बेकार है जब

तक उसमें प्रेम न हो।

उनके असाम्प्रदायिक रवैये की वजह से मुसलमान उन्हें हिन्दू समझकर और हिन्दू उन्हें मुसलमान समझकर छोड़ देते थे लेकिन वह उस दशा में भी खुश थे।

बकौल इकबाल

जाहिदे तंग नजर ने मुझे काफिर समझा।
और काफिर यह समझा है मुसलमान हूँ मैं।

अबुल फजल के अनुसार कबीर के विचार असाम्प्रदायिक होने के कारण हिन्दू-मुसलमान दोनों में आदरणीय माने जाते थे।[15]

हिन्दू और मुसलमान दोनों कबीर की गूढ़ शक्ति में पूर्ण विश्वास रखते थे, दोनों ही उसको अपना ही समझते थे। मुसलमान उन्हें वीर कबीर कहकर पुकारते थे और हिन्दू भक्त कबीर पुकारते थे।

एक बार शेख रिजकुल्लाह मुस्तकी ने अपने पिता शेख साद्दुल्लाह से पूछा, "क्या कबीर जो इतने प्रसिद्ध हैं और जिनके गीतों का प्रत्येक व्यक्ति उच्चारण करता है एक मुसलमान थे या काफिर थे। शेख साद्दुल्लाह ने उत्तर दिया वह एक मुजाहिद थे। शेख रिजकुल्लाह ने फिर पूछा, "क्या एक मुजाहिद एक मुसलमान या काफिर से अलग है? शेख साद्दुल्लाह ने उत्तर दिया "यह एक गुह्य बात है जिसकी व्याख्या करना कठिन है। तुम धीरे-धीरे इसे सीख जाओगे।"[16]

खजीनाल-उल-असफीया के अनुसार संत कबीर शेख तकी के आध्यात्मिक शिष्य और उत्तराधिकारी थे। उनसे इसने हिन्दू-मुसलमानों के बीच व्याप्त भेद भाव को दूर करने का आशीर्वाद प्राप्त किया था। शेख तकी ने ही कबीर को हिन्दू-मुसलमानों के भेद-भाव को मिटाकर उनको एक करने की आध्यात्मिक शक्ति दी थी।

डा० कमरुद्दीन के अनुसार उन्होंने दोनों रास्ते देखे परन्तु दोनों का खण्डन करते हुए उन्होंने कोई भेदभाव नहीं किया। उन्होंने दोनों का ध्यान सार्वभौम मार्ग की ओर आकर्षित किया। एक सड़क जिस पर दोनों मिल सकें। वह दोनों को अनन्य अधिकार छोड़ने, सब प्राणियों का आदर करने, रक्तपात से अलग रहने, जन्म और पैतृक आधार पर गौरव न करने, अति संतवाद न अपनाने और न अधिक सांसारिकता मे फँसने और जीवन को त्याग मानने के सिद्धांत को अपनाने को कहा।[17]

डा० कमरुद्दीन के अनुसार कबीर 15वीं शताब्दी के भारतीय लूथर थे। उन्होंने ऊपरी गंगा के मैदान के अन्य महान सुधारकों की भाँति हिन्दुओं और मुसलमानों को बहुत प्रभावित किया। हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों को एक

साथ मिलाने का इनका यह पहला प्रयत्न था और वह बहुत निर्भयता से सामने आये। हिन्दुओं और मुसलमानों को एक धर्म समझाने के लिए जो दोनों को स्वीकार हो। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के बीच व्याप्त खाई भरने का साहसिक कार्य किया और दोनों धर्मों को मिलाने की कोशिश की।

डा० कमरुद्दीन ने आगे लिखा है कि कबीर ने इस्लाम और हिन्दू-धर्म की तुलना एक वृक्ष के दो तनों से की और अपने विचारों की तुलना ऐसे तने से की जो इन दोनों के बीच में है। उन्होंने उन व्यक्तियों के मध्य जो एक साथ रहते हैं सामाजिक और धार्मिक शान्ति स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की जो धर्म की दीवारों के कारण एक-दूसरे से अलग थे।[18]

धर्म के सम्बन्ध में कबीर ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए। उन्होंने किसी धार्मिक विश्वास को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि वह धर्म का अंग बन चुका है अपितु अन्ध-विश्वासों, व्रत, अवतारों, उपासना, ब्राह्मणों के कर्मकांड, तीर्थ आदि पर कस कर व्यंग किए। उन्होंने पहली बार धर्म को अकर्मण्यता की भूमि से हटाकर कर्मयोगी की भूमि पर ला खड़ा किया। कबीर ने पौराणिक हिन्दू मत के साथ-साथ मुसलमानों और काज़ियों की रूढ़िवादी धार्मिक परम्पराओं का भी डटकर विरोध किया। वे भक्ति और बाहरी आडम्बरों का सम्बन्ध सूर्य और अन्धकार का-सा मानते थे, जो एक साथ नहीं रह सकते।

कबीर धार्मिक क्षेत्र में सच्ची भक्ति का सन्देश लेकर प्रकट हुए थे। उन्होंने निर्गुण निराकार भक्ति का मार्ग अपनाकर मानव धर्म के सम्मुख भक्ति का मौलिक रूप रखा। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि "कबीर के राम दशरथ, पुत्र राजा राम नहीं हैं, अपितु घट-घट में निवास करने वाली अलौकिक शक्ति है, जिसे राम, रहीम, कृष्ण-करीम, खुदा कोई भी नाम दिया जाये, उसका रूप एक है। उसकी प्राप्ति के लिए न मन्दिर की आवश्यकता है, और न मस्जिद की। वह सबमें विद्यमान है और सभी उसे भक्ति तथा गुरु की कृपा से प्राप्त कर सकते हैं।

दैवी एकता के तर्क से कबीर ने ऐसा रंग दिखाया कि उनकी शिष्य-परंपरा में हिन्दू और मुसलमान सभी दीक्षित होने लगे। शुभ चिन्तक होने के कारण दोनों जातियाँ कबीर को कठोर कर्कश जानते हुए भी प्यार से अपनाना चाहती थीं। यह उनके मानवतावाद की विजय थी। कबीर ने सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध खड़े होकर सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण एवं एकता के लिए अपने सुखों को त्याग दिया।[19]

पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने विचार कबीर साहब के विषय में इस प्रकार प्रकट किये हैं—"दक्षिण में पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दू रामानन्द हुए और उनके और भी मशहूर चेले बनारस में कबीर हुए, जो मुसलमान जुलाहे

थे। उत्तर भारत में गुरुनानक हुए जो सिख धर्म के संस्थापक माने जाते हैं। इन लोगों का असर उन मतों तक सीमित नहीं था, जो इनके नाम पर प्रचलित हुए, बल्कि उससे कहीं अधिक विस्तृत था। सारे हिन्दू धर्म पर इन नये विचारों का प्रभाव पड़ा और हिन्दुस्तान का इस्लाम भी और जगहों के इस्लाम से भिन्न बन गया। इस्लाम के प्रबल एकेश्वरवाद का हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ा और हिन्दुओं के बहुत से देवी-देवताओं में विश्वास का कुछ असर हिन्दुस्तानी मुसल-मानों पर पड़े बगैर न रहा।[20]

गुरु नानक देव और हिन्दू-मुस्लिम एकता

गुरु नानक का जन्म तलवंड़ी (पाकिस्तान) में 15 अप्रैल 1469 ई० को हुआ था। गुरु नानक देव के सम्मान में तलवण्डी को "ननकाना साहब" भी कहा जाता है। इनकी माता का नाम तृप्ता और पिता का नाम मेहता कल्याण दास था किन्तु वह मेहता कालू के नाम से विख्यात थे। मेहता कालू क्षत्रिय वर्ण के "बेदी" वंश के थे।

हमारा विषय गुरु जी के उन कार्यों का वर्णन करना है जिनके द्वारा उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों को एक साथ मिलाया और उनके मिथ्या स्वाभिमान को दूर किया। उनके सबसे पहले शिष्यों में जहां हिन्दू थे वहां पर मरदाना अति विशिष्ट शिष्यों में से थे जो जीवन-पर्यन्त उनके साथ रहा। मरदाना जन्मजात मुसलमान था।

एक बार गुरु नानक देव पाक पाटन में शेख फरीद के पवित्र स्थान पर गये। वहां की गद्दी के मालिक शाह ब्राहम अथवा शेख फरीद थे। वहा पहुंचते ही गुरु नानक देव को विदित हुआ कि शाह ब्राहम जंगल में तपस्या करने के लिए गए हैं। गुरु नानक देव शाह ब्राहम से घनघोर जंगल में मिलने गये। परन्तु गुरु नानक देव के हृष्ट-पुष्ट शरीर को देखकर वे आश्चर्यचकित रह गये। फिर शेख ब्राहम से वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। गुरु नानक देव के उद्बोधक वाक्यों को शेख ब्राहम शान्त भाव से सुनते रहे। उनके उपदेश से वह पूर्ण संतुष्ट हुए और उन्होंने अपनी जीवन-दिशा परिवर्तित कर दी। गुरुजी के आदेश से शेख ब्राहम ने अपना कई दिनों का उपवास तोड़ दिया। गुरु महाराज कुछ दिनों तक शेख साहब के साथ रहे। जब गुरु नानक देव वहां से अन्यत्र जाने को तैयार हुए, तो शेख भी अपने निवास स्थान पाकपाटन को लौट गए। गुरु नानक देव बाद में फिर शेख ब्राहम से मिले। इस प्रकार के कार्य से गुरुनानक देव ने हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने की कोशिश की।

हरिद्वार के बाद गुरु नानकदेव पानीपत पहुंचे। उस समय वहां एक प्रसिद्ध मुसलमान सूफी फकीर रहते थे। उनका नाम था शेख शरफ। बहुत से मुसलमान

उनके अनुयाई थे। वे परमात्मा के भक्त और सच्चे फकीर थे। उन्होंने परमात्मा के साक्षात्कार के लिए कठोर तपस्या की थी, पर उन्हें अपनी मनोकामना में सिद्धि प्राप्त नहीं हुई थी। अतएव वे बड़े निराश थे।

एक कुएं के पास गुरु महाराज ने अपना आसन जमाया था। शेख का एक शिष्य अपने गुरु के लिए पानी लेने उस कुएं पर गया। गुरु महाराज के विषय में इस शिष्य ने शेख शरफ को बताया। शेख साहब सीधे गुरु महाराज के पास पहुचे। उन्होंने देखा कि गुरु महाराज अधमुंदी आंखो से परमात्मा के ध्यान में बैठे हैं। उनके दर्शन मात्र से शेख जी के अन्तर्गत एक अलौकिक उल्लास और आनंद का संचार हुआ। शेख जी गुरु जी के निकट बैठ गए। पारम्परिक औपचारिक वार्ता के अनन्तर शेख साहब ने गुरु महाराज और उनके धर्म के विषय में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। शेख साहब की जिज्ञासा सुनकर गुरु जी ने एक पद का गान किया। उस पद के द्वारा शेख साहब को निर्गुण और कृपालु परमात्मा के सान्निध्य की प्रतीति हुई। पद समाप्त होने के बाद शेख साहब ने गुरु जी के चरणों को पकड़ लिया। चरण पकड़ते ही शेख का हृदय अपार शान्ति और आनन्द से परिपूर्ण हो गया और उनकी आत्मा मे नवीन आध्यात्मिक जीवन की शाश्वत् लहर व्याप्त हो गयी। शेख साहब गुरु महाराज के शिष्य हो गये। इस प्रकार उनके उपदेशों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल दिया।

इसके बाद गुरु जी दिल्ली की ओर रवाना हुए। उस समय दिल्ली का बादशाह सिकन्दर लोदी था। वह अत्यधिक असहिष्णु और धर्मान्ध मुसलमान था। वह हिन्दुओं के ऊपर घनघोर अत्याचार करके उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य कर रहा था। उसकी धर्मान्धता का कोपभाजन कबीर, नामदेव, रैदास जैसे प्रसिद्ध संतों को भी होना पड़ा था। गुरु जी की दिल्ली यात्रा के समय भी वहुत से साधु, फकीर और उनमें से अधिकांश हिन्दू साधु उसकी धार्मिक मनोवृत्ति के कारण सज़ायें भोग रहे थे। गुरु नानक देव तथा मरदाना भी गिरफ्तार करके जेल के सींखचों के भीतर डाल दिए गये। अन्य फकीरों और साधुओं की भांति उनसे भी चक्की पीसने को कहा गया। गुरु नानक देव ने थोडी देर तक चक्की पीसी। उस स्थल पर जेलर के भीषण आतंक से गुरु जी का कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया। उन्होंने मरदाना को कहा "भाई मरदाना! रबाब बजाओ।" मरदाना ने रबाब उठा लिया। तत्पश्चात् गुरु जी ने अपने कुछ विशिष्ट पदों का गान किया। उस स्वर्गीय संगीत ने सारे जेल में जादू-सा कर दिया। उस दिव्य संगीत ने सिकन्दर लोदी का पाषाण हृदय भी पिघला दिया। सिकन्दर गुरु महाराज के गानों को सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि वह गुरु महाराज के चरणों पर गिरकर अपने किए गये पापों और अत्याचारों के

लिए क्षमा-याचना करने लगा। गुरु जी ने कहा "किए गए पापों के लिए सच्चे पश्चाताप से ही क्षमा मिल सकती है।" सिकन्दर लोदी ने पूर्ण रूप से यह जान लिया कि गुरु जी उससे क्या कराना चाहते हैं। उसने जेल का दरवाजा खोल दिया और सभी गिरफ्तार किये गए साधुओं को मुक्त कर दिया। तत्पश्चात गुरु जी ने उसे सलाह दी कि वह परमात्मा का सदैव चिंतन करे और साथ ही उसके पुत्रों और पुत्रियों की सेवा करें।

गुरु जी द्वारा दी गई शिक्षाओं से बादशाह अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसने उनकी आज्ञाओं का पालन करने की प्रतिज्ञा की। गुरु जी के प्रयत्नों से हिन्दू-मुस्लिम एकता बढ़ी।

अपने पहनावे से गुरु महाराज यह भी प्रदर्शित करना चाहते थे कि वे न तो हिन्दू हैं और न मुसलमान। दोनों धर्म उन्हें समान रूप से प्रिय हैं। वे ऐसे नवीन धर्म की स्थापना करना चाहते थे जिसमें सभी मनुष्यों के बीच भाईचारे और समानता का व्यवहार हो।

वैरोवाल, जलालाबाद आदि स्थानों से होते हुए वे एक गांव में पहुंचे। उस गांव का नाम था—"कोरी पठाना दी"। उस गांव के पठानों ने गुरु महाराज का दिव्य संगीत सुना। वे गुरु महाराज के चरणों में गिर पड़े और उन्होंने कहा, "महाराज ! यह आपकी आवाज नहीं, यह खुदा की आवाज है।" उस गांव के सारे पठानों ने गुरु महाराज की प्रशंसा में अनेक गीत रचकर सुनाए।

गुरु महाराज ने निरंकुश, असहिष्णु, क्रूर और अत्याचारी मुसलमान शासकों से निश्शंक और निर्भय भाव से मिलकर उन्हें परमात्मा से डरना सिखाया। साथ ही यह भी बताया कि क्रूर कर्मों के परिणामों का फल भोगना अवश्यम्भावी है। उन्होंने उन्हें शिक्षा दी कि प्रजा का पालन पुत्रवत करना शासक का सबसे पुनीत कर्तव्य है। इसी दृष्टि से वे सिकन्दर लोदी जैसे अनुदार शासक से मिले और उसकी कलुषित मनोवृत्ति का परिष्कार किया। साथ ही मलिक भागो ऐसे नृशंस राज्यधिकारी से मिलकर गरीब भाई लालो की प्रतिष्ठा स्थापित की। उन्होंने यह शिक्षा दी कि ईश्वर की सृष्टि में गरीब और अमीर, राजा और प्रजा, शासक और शासित, स्त्री और पुरुष, ऊंच और नीच सभी समान हैं। इसी प्रकार उन्होंने जब कभी सूफी फकीरों को सिद्धियों और करामातों का दुरुपयोग करते हुए सुना, तो वे उनके पास पहुंचे। उनसे वार्तालाप एवं तर्क-वितर्क कर उन्हें सही रास्ते पर लगाया।

उन्होंने यह समझाया कि हिन्दू और मुसलमान समान रूप से एक ही परमात्मा की संतान हैं। दोनों के साथ उन्हें प्रेम और समानता का व्यवहार करना चाहिए। विशेषत: धार्मिक व्यक्तियों का यह गुण भूषण है। इसके अतिरिक्त उन्होंने परमात्मा की महान शक्ति का उपदेश देकर उन्हें रागात्मिका भक्ति का

उपदेश दिया।

सियालकोट शहर में हमजा गौस नामक मुसलमान रहते थे। उन्होंने अपनी सिद्धियों के चमत्कारों के बल पर शहर भर में आतंक मचा रखा था। एक खत्री के पुत्र नहीं था। वह हमजा गौस के पास गया और उनसे प्रार्थना की: फकीर साहब मेरे कोई पुत्र नहीं है। आप मुझे पुत्र की दुआ दीजिए। यदि मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ, तो पहला पुत्र मैं आपको भेंट करूंगा। गौस पीर ने कहा, "मैं खुदा से प्रार्थना करूंगा कि वह तुम्हें पुत्र दें। पर तुम अपनी प्रतिज्ञा न भूलना।"

समय आने पर खत्री के तीन पुत्र हुए। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को पीर के पास ले जाकर कहा, "मैं आपको इस लड़के को दे रहा हूं। इसका मूल्य बताइए। मैं इसकी कीमत चुकाकर आपसे खरीद लूंगा, क्योंकि ऐसे अवसरों पर ऐसा विधान है। हमजा गौस खत्री के पुत्र को छोड़कर और कोई भी वस्तु लेने को राजी न थे। खत्री अपने पुत्र को लेकर अपने घर पर वापस चला गया। पीर साहब अत्यधिक क्रुद्ध हुए। उन्होंने कहा, मैं सारे सियाल-कोट शहर को तहस-नहस कर दूंगा। इतना कहकर वे एकांत कोठरी में चले गये। उस कोठरी के ऊपर एक गुम्बद था। उन्होंने कोठरी के भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया। अपने शिष्यों को आदेश दिया, "तुम लोगों में से कोई भी मुझसे न मिले और न दूसरों को मिलने दो। मैं चालीस दिन का "चिल्ला" रखकर सारे शहर को बर-बाद कर दूंगा।

पीर साहब के दृढ़ निश्चय की खबर शहर भर में फैल गई। लोगों में कुह-राम मच गया। सियालकोट के लोगों की भयानक स्थिति देखकर गुरु नानक देव भाई लालो को छोड़कर शहर पहुंच गये। वे शहर के बाहर रुके और उन्होंने एक बेर के वृक्ष के नीचे अपना आसन जगाया। पीर की कोठरी का गुम्बद वहीं से दिखाई देता था। गुरु जी ने मरदाना को हमजा गौस के पास भेजा और मर-दाना ने पीर के शिष्यों से कहा कि वे पीर साहब से मिला दें परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। इस पर मरदाना वापस आ गया। गुरु जी ने दुबारा मरदाना को भेजा परन्तु फिर भी उत्तर वही रहा।

शहर के लोग पीर की शिकायत लेकर गुरु जी के पास गये। गुरु जी ने उनकी बात ध्यान से सुनी और उन्हें आश्वासन दिया कि आज दोपहर तक चिल्ला टूट जायेगा। गुरु महाराज की आंखें अधखुली थीं और वे थोड़ी सी उस गुम्बद की ओर झुकी हुई थीं, जिसके नीचे पीर साहब—"चिल्ला" व्रत साध रहे थे। मरदाना रबाब पर गुरु जी का एक प्रार्थना गीत गा रहा था। गुरु जी के प्रताप से कोठरी का गुम्बद चटक गया और सूर्य की किरणें पीर साहब के ऊपर पड़ने लगीं। पीर साहब का चिल्ला घबराकर टूट गया और उठकर वे कोठरी से बाहर आ गये। पीर साहब अत्यन्त विनम्रता से गुरु नानक देव के

पास पहुंचे। गुरु जी ने कहा, "एक व्यक्ति विशेष पर क्रुद्ध होकर आप सारे शहर को बरबाद कर देना चाहते हैं। यह न्याय नहीं है, सरासर अन्याय है।"

इस पर पीर ने उत्तर दिया—"उस खत्री ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर अनैतिकता की है इसलिए वह दण्ड का भागी है। पड़ोसी लोग इसलिए दोषी हैं कि उन्होंने खत्री पर दबाव नहीं डाला कि वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी करे। इस पर गुरु जी ने पीर साहब को समझाया कि पीर साहब को पापियों और दुष्कर्मियों का सुधार करना चाहिए, न कि उनका सर्वनाश कर देना चाहिए। परमात्मा प्रेम स्वरूप है। हम सब परमात्मा के सेवक हैं। हम सबको गुमराह और भूले-भटके लोगों को सही रास्ते पर लाना चाहिए। उन्हें परमात्मा के दरबार में पहुंचाने की कोशिश करनी चाहिए। पापियों को यह समझाना चाहिए कि परमात्मा पापियों का उद्धार अपनी कृपा से करता है। सन्तों का हृदय नवनीत के समान होना चाहिए। उनका यह पुनीत कर्तव्य है कि वे पापियों को अपने प्रेम और भगवद-भक्ति से जीते। सन्त लोग पापियों को क्षमा करते हैं, घृणा नहीं। हमारे देश में पहले से ही घृणा, अत्याचार का बोलबाला है। हम ईश्वर के भक्तों को लोगों में प्रेम, मित्रता और सहृदयता के बीज बोने चाहिए।

पीर साहब ने अपनी गलती महसूस की। उन्होंने गुरु नानक देव के चरणों पर गिरकर कहा, "महाराज ! मुझसे भारी गलती हुई। मैं गुमराह था। आप मेरे मार्ग-प्रदर्शक हैं। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आपके आदेशानुसार जीवन व्यतीत करूँगा।" इस प्रकार गुरू महाराज ने पीर साहब के अन्तःकरण का परिष्कार करके, उन्हें शुद्ध पीर बनाया।

इस प्रकार के कार्य से गुरु नानक देव ने मानवता का ज्ञान पीर को कराकर मानवता के बीच प्रेम के बीज बो दिए और अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित की। अगर वह पीर साहब को सही रास्ते पर न लाते तो पीर साहब तथा खत्री का झगड़ा हिन्दू-मुस्लिम झगड़े का रूप भी ले सकता था।

सियालकोट शहर से कुछ मील की दूरी पर एक और प्रसिद्ध सूफी फकीर रहते थे, जो अपनी सिद्धियों और चमत्कारों के लिए हमजा गौस के समान ही प्रसिद्ध थे। आसपास के लोगों पर उनका बड़ा आतंक था। उनके बहुत से अनुयायी थे। फकीर साहब स्वयं कठिन तपस्या में रत रहते थे किन्तु उनमें प्रेम, सहानुभूति और सहृदयता आदि गुणों का अभाव था। उनका हृदय शुष्क और पत्थर के समान था। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने जीवन में जिस धर्म का मार्ग ग्रहण किया था, वह उन्हें ईश्वर पथ से बहुत दूर विपरीत दिशा में खींचे ले जा रहा था। मियाँ मिट्ठा की सिद्धियों के जोर से अनेक हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। उन्होंने आसपास के लोगों के धार्मिक विश्वास को पंगु और बन्दी बना दिया था।

गुरू महाराज ने यह बात सुनी। उन्होंने मियां मिट्ठा के अज्ञानान्धकार के गढ़ को ढाकर उन्हें सच्चा प्रकाश दिखाने का संकल्प किया। उन्होंने मियां मिट्ठा के स्थान पर पहुँचकर उनके पास एक बगीचे में अपना डेरा जमाया। गुरू जी ने स्वर्गीय उद्बोधक गीत गाना प्रारम्भ किया। उनके स्वर को सुनकर लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। जिन लोगों ने गुरू महाराज का अलौकिक संगीत सुना उन्होंने गुरू जी को पूजना प्रारम्भ कर दिया। ऐसे प्रशंसकों में से एक पीर भी थे, जिनका नाम अब्दुल रहमान था। रहमान मियां मिट्ठा के धार्मिक गुरु थे।

अब्दुल रहमान ने गुरू महाराज नानक देव की महिमा का वर्णन मियां मिट्ठा से किया और उन्हे गुरू महाराज से मिलकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की सलाह दी। सूफी होते हुए भी मियाँ मिट्ठा संकीर्णता और कट्टरता से मुक्त नहीं थे। उन्होंने सुन रखा था कि गुरूजी हिन्दू हैं। अतः उन्हे यह अच्छा नहीं लगा कि एक प्रसिद्ध सूफी फकीर एक हिन्दू साधु के पास जाये। हिन्दू साधु चाहे जितना महान हो, पर उसके पास मुसलमान फकीर का जाना मियाँ मिट्ठा की दृष्टि में लज्जा और अपमान का विषय था। फिर भी जब अब्दुल रहमान ने बार-बार गुरू जी की प्रशंसा की और मियाँ मिट्ठा को गुरु जी से मिलने को कहा, तो वे अपने दुराग्रह से ढीले पड़ गये। वे अपने धार्मिक गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर गुरु जी से मिलने पहुँचे। उस समय मरदाना रवाब बजा रहा था। गुरु महाराज एक पद गा रहे थे। गुरु महाराज एक भाव-समाधि में स्थित थे।

मियाँ मिट्ठा सब कुछ किंकर्त्त-व्यविमूढ़ होकर देख रहे थे। गुरु महाराज ने उनकी ओर अपनी आँखें मोड़ी और पूछा "आप कैसे हैं?" गुरु महाराज के उस संक्षिप्त वाक्य ने सूफी फकीर के भाव को जगा दिया। वे सामान्यावस्था में आ गये। उन्होंने गुरु महाराज के अभिवादन का प्रेम-भाव से उत्तर देकर उन्हें धन्यवाद दिया। उन्होंने देखा कि गुरुजी के पास बहुत से हिन्दू और मुसलमान बैठे हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों को बैठा देखकर उसका पुराना अहंकार फुफकार कर फिर जाग पड़ा। उनकी धार्मिक कट्टरता फ़िर उबल पड़ी। उन्हें याद आ गया कि गुरुजी "हिन्दू" हैं। उन्होंने अपने मन में सोचा यदि वह व्यक्ति मुसलमान मजहब में परिवर्तित कर लिया जाय, तो कितना अच्छा हो।" गुरुजी से मिलकर सिद्धियों, योगियों, पंडितो, काजियों और सूफी फकीरों सभी धर्मावलम्बियों ने यही कामना अपने मन में की थी। उन लोगों को पहले यह पता नहीं था कि यह महिमामय व्यक्तित्व सभी धर्मों और सम्प्रदायों से ऊपर उठकर स्वयं उनसे अपने धर्म और विश्वास में दीक्षित कर लेगा।

मियाँ मिट्ठा ने गुरू जी से तर्क-वितर्क करना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें

जब इस बातका पता चला कि गुरु महाराज एक परमात्मा के उपासक हैं, तो उनके हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने सोचा कि एक परमात्मा में विश्वास करने के कारण तो गुरु महाराज इस्लाम धर्म के बिल्कुल निकट हैं क्योंकि इस्लाम के अनुयायी भी एक खुदा में विश्वास करते हैं। उन्होंने देखा कि आधा मैदान तो उन्होंने इसी समानता के कारण मार लिया है। मियाँ मिट्ठा ने खुदा के दरबार में पहुँचने के लिए एक मध्यस्थ की आवश्यकता बताई और गुरुजी से जोश भरी बहुत सी बातें करते रहे। कुछ देर बाद गुरु महाराज ने अपनी सहज मुस्कान से मियाँ मिट्ठा से इस प्रकार कहा, "मेरे भाई ! ईश्वर सभी प्राणियों के धर्मानुसार उनका न्याय करता है। उसकी दृष्टि में धर्म और जाति कुछ भी नहीं है। आप इस बात से गुमराह न हों चूंकि आपका धर्म इस देश में राज धर्म है और आप अत्याचार और अनाचार के बल पर अपना धर्म दूसरों पर लाद और थोप सकते हैं इसलिए आप परमात्मा की दृष्टि में श्रेष्ठ और उच्च हैं। इस प्रकार संकीर्ण, ईर्ष्यायुक्त और घृणापूर्ण विचारों को निकाल फेंकिये। यदि आपको सुअवसर प्राप्त हो, तो परमात्मा के प्रेमरस के अमृत का पान कीजिये।"

इस प्रकार अपने अलौकिक प्रेम और विलक्षण तर्क-शक्ति से गुरु नानक देव ने फकीर का हृदय जीत लिया। मियाँ मिटठा गुरु महाराज के चरणों पर गिर पड़े। गुरु महाराज ने उन्हें अपने गले से लगाकर परमात्मा के सच्चे नाम का दान दिया। उन्हें मानव-प्रेम, सहृदयता, मैत्री-भाव, सहानुभूति और करुणा का अलौकिक पाठ पढ़ाया। इस प्रकार गुरु महाराज ने निर्भयतापूर्वक उस युग के अत्यन्त प्रभावशाली और भक्ति सम्पन्न मुसलमान फकीरों का सामना करके उन्हें सही रास्ते पर लगाया। इस प्रकार गुरु महाराज हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता की नींव दृढ़ कर रहे थे।

पंजाब में लोगों के जीवन और चरित्र का निर्माण करके गुरु जी पुनः अपनी धार्मिक यात्रा पर चल पड़े। मरदाना भी उनके साथ थे। इस बार उनके चरण पश्चिम की दिशा में मुड़े। उन्होंने मक्का के तीर्थ यात्रियों की भाँति वस्त्र धारण किया, हाथ में फकीरों के समान एक सोंटा लिया, अपने पदों का संग्रह बगल में दबाया। एक टोंटीदार लोटा भी अपने साथ रखा, अपनी प्रार्थना के निमित्त मुसलमानों की तरह एक "मुसल्ला" भी बैठने को लिया। इस प्रकार की वेशभूषा में सुसज्जित होकर गुरु महाराज एक सच्चे "हाजी" के रूप में दिखाई पड़ रहे थे।

सूरत से जहाज पर सवार होकर वे अरब के समुद्री तट पर पहुंचे। वहाँ से पैदल यात्रा करके वे मक्का पहुँचे। मक्का के मुसलमानों की कट्टरता और धर्मांधता से वह भली-भाँति परिचित थे। वे जानते थे कि "काबा की ओर—पैर करके कोई भी मुसलमान नहीं लेट सकता। ऐसा करना उनकी धार्मिक

परम्परा के सर्वथा विरुद्ध था। उन्हें सर्वशक्तिमान परमात्मा की अलौकिक शक्ति में दृढ़ विश्वास और आस्था थी। इसके साथ उन्हें स्वयं पर भी पूर्ण विश्वास था। अतः वे किससे और किस प्रकार भयभीत होते ? इसी दृढ़ निश्चय से वे अपना पैर "काबा" की ओर करके विश्राम करने लगे।

गुरु नानक देव को "काबा" की ओर पैर करके विश्राम करते देखकर मक्का के तीर्थ-यात्रियों में तहलका मच गया। तुरन्त ही लोगों ने उन्हें घेर लिया और बुरी तरह से डराने-धमकाने लगे। जीवन नामक मुसलमान भारत से हज करने आया था। वह बहुत जोश में था। उसने गुरुजी के समीप पहुँचकर लात जमाई और कहा, "ओ अधर्मी नास्तिक ! तू कौन है, जो "खुदा" की ओर पैरों को करके सो रहा है ?' गुरु नानक देव ने अत्यन्त शान्त और मृदु शब्दों में इस प्रकार उत्तर दिया, "मेरे प्यारे भाई ! इतनी जल्दबाजी और क्रोध न करो। मैं बहुत ही थका-मांदा हूँ और मुझे आराम करने की सख्त ज़रूरत है। आप मेरे पैर को उस दिशा में घुमा सकते हैं, जहाँ "खुदा" न हो। उसने तैश में आकर गुरुजी के पैर घसीटकर "काबा" से विपरीत दिशा में कर दिये। इसके बाद जीवन ने अपनी आँखें ऊपर उठाईं तो वह आश्चर्य में पड़ गया क्योंकि काबा उस दिशा ही में दिखाई दिया, जिस दिशा में गुरुजी के पैर घसीटकर किये गये थे। उसने फिर क्रोध में आकर गुरुजी के चरण घसीटकर "काबा" की विपरीत दिशा में करने चाहे। पर परमाश्चर्य ! "कावा" गुरुजी के चरणों की ही दिशा में परिक्रमा करने लगा। जिस दिशा में गुरु महाराज के चरण घसीट कर किये जाते, उसी दिशा मे घूमकर "काबा" भी स्थित हो जाता।

इस प्रकार गुरुजी ने जीवन से कहा, "तुम देख नहीं रहे हो कि खुदा का निवास सभी दिशाओं में समान रूप से है ?"'अरे आदमी ! अपना हृदय बन्द न करो, उसे खोलो। धर्म मे सच्ची आस्था और विश्वास करो। सारे तीर्थ-यात्रियों के आश्चर्य और भय की सीमा न रही। उन्होंने बाध्य होकर गुरुजी को इच्छानुसार सोने के लिए छोड़ दिया।

प्रातःकाल होते-होते गुरु नानक देव सभी लोगों की चर्चा का विषय बन गए। विभिन्न देशों के काज़ी, पीर, मुल्ला, फकीर आदि तीर्थयात्री गुरुजी के पास इकट्ठे हो गए। वे सब गुरु महाराज से धार्मिक शास्त्रार्थ करना चाहते थे। अतः शास्त्रार्थ के लिए रूकनदीन नेता के रूप में चुने गए। रूकनदीन का पहला प्रश्न यह था, "आप हिन्दू हैं अथवा मुसलमान ?"

गुरुजी ने उत्तर दिया, "न मैं हिन्दू हूँ और न मुसलमान। मैं परमात्मा का एक तुच्छ सेवक हूँ और मानवता का पुजारी हूँ।"

दूसरा प्रश्न था "पर आपकी दृष्टि में हिन्दू अधिक पवित्र हैं अथवा मुसलमान ?"

गुरुजी ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "हिन्दू अथवा मुसलमान कोई अपने में ऊँचा-नीचा नहीं है। धर्म अथवा मज़हब किसी व्यक्ति को ऊँचा अथवा नीचा नहीं बनाता, बल्कि व्यक्ति का वास्तविक जीवन उसे ऊँचा अथवा नीचा बनाता है। मनुष्य की इहलोक और परलोक की उन्नति उसके उन शुभ कार्यों पर निर्भर रहती है, जो वह अपने अन्य साथियों के साथ इस लोक में करता है। ···धर्म और मजहब तो ऐसी रंगत है, जो शीघ्र ही धूमिल हो जाती है, वे मनुष्य की अंतरात्मा पर कोई प्रभाव नहीं डालते। धर्म और मज़हब व्यक्ति की अन्तरात्मा को प्रेम के रंग मे नहीं रंग सकते। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के वास्तविक आचरण को देखकर मैं इसे बहुत स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हूँ कि दो में से कोई भी धर्म परमात्मा के दरबार में पहुँचने में समर्थ नहीं हैं। दोनों ही एक-दूसरे की निन्दा करते हैं और गाली देते हैं। उनके हृदय में परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं, क्योंकि परमात्मा प्रेम-स्वरूप है। हिन्दुओं का राम और मुसलमानों का रहीम और अल्लाह एक-दूसरे के जानी दुश्मन हो गए हैं। मेरी समझ में हिन्दू अथवा मुसलमान कोई भी परमात्मा की सच्ची उपासना नहीं करता। इसके विपरीत वे शैतान की घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि की उपासना करते हैं।"

इस प्रकार जमकर गम्भीर वाद-विवाद हुआ। शीघ्र ही सभी प्रश्न कर्ताओं को गुरु महाराज की महत्ता स्वीकार कर लेनी पड़ी। सभी उनके सामने नतमस्तक हो गये और उनसे शिक्षा पाने की लालसा प्रकट की। उनके नये शिष्यों में सबसे अनन्य और प्रिय शिष्य उच्छ (Uchh) के मखदूम रुकनदीन प्रमाणित हुए। थोड़े ही समय में गुरुजी की प्रशंसा की धूम सारे मक्का शहर में फैल गई। गुरुजी ने अपनी मृदुता, सहजता और प्रेम के बल पर मक्का के सारे लोगों का दिल जीत लिया।

कुछ समय के उपरान्त गुरु नानक देव वहाँ से जाने को उद्यत हुए। उनके नये शिष्यों, काजियों, मुल्लाओं, फकीरों, और पीरों ने गुरुजी से और अधिक रुकने का अनुनय-विनय किया। अन्त में, मखदूम रुकनदीन ने गुरु महाराज से अपना कोई स्मृति-चिन्ह छोड़ने को कहा। गुरुजी ने खड़ाँऊ उतारकर रुकनदीन को दिए। कुछ समय तक तो वे काबा में बड़ी प्रतिष्ठा से रखे गए। भारत लौटने पर मखदूम रुकनदीन इन खड़ाऊंओं को उठा ले आए। भावलपुर रियासत में स्थित उच्छ की मस्जिद में वे धार्मिक चिन्ह बड़े आदर भाव से रखे गये हैं और खास मौकों पर श्रद्धालुओं को दिखलाए जाते हैं।

मक्का से गुरु नानक देव मदीना की ओर बढ़े। वहाँ के विद्वानों ने भी गुरु जी से शास्त्रार्थ किए। किन्तु उन्हें भी गुरुजी के सामने नतमस्तक होना पड़ा। जिन लोगों ने गुरु जी का प्रेम और भक्ति से परिपूर्ण प्रेरणादायक संगीत सुना,

वे सब उनके शिष्य बन गये। मदीना से वे फिर उत्तर दिशा की ओर मुड़े और मिश्र देश तथा अफ्रीका के कुछ प्रान्तों की यात्राएँ कीं। अफ्रीका से लौटकर गुरु महाराज ने तुर्की तक अपनी यात्रा की।

कुछ दिनों के पश्चात् गुरु जी बगदाद पहुँचे। बगदाद भी मुसलमान मज़-हब का अत्यधिक शक्तिशाली केन्द्र रहा है। बगदाद में भी मुसलमानों की संकीर्ण विचारधारा को नया मोड़ देना था। शहर के बाहर उनकी निगाह एक कब्रगाह पर पड़ी। उन्होने अपने ठहरने का स्थान उसी कब्रगाह को चुना। दूसरे दिन ब्रह्म मुहूर्त में गुरुजी जागे और उन्होंने मरदाना को रबाब बजाने का आदेश दिया। कुछ समय बाद गुरुजी ने स्वयं गाना प्रारम्भ किया। उनका स्वर प्रातःकाल की शान्ति वेला में बड़ी दूर तक सुनाई देता था। उस मुसल-मानी संस्कृति के केन्द्र में संगीत पहले कभी नहीं सुना गया था। जिन लोगों ने उस संगीत को सुना, सभी आश्चर्यचकित थे। कुछ समय के पश्चात् गुरुजी का संगीत थम गया। सब लोगों की निगाहें उस अलौकिक गायक के चेहरे पर पड़ीं।

कुछ समय के बाद गुरुजी ने अजान पढ़ी। उस अजान में मुहम्मद साहब का कही जिक्र नहीं था। ज्यों ही उन्होंने अजान समाप्त की कि सारे बगदाद शहर में हंगामा मच गया। लोग कहने लगे कि यह कौन व्यक्ति है जिसने कुरान के पवित्र कानून को तोड़ने की हिम्मत की ? यह व्यक्ति बड़े-बड़े फकीरो के मजार के पास गाता रहा और अब इसने अजान का भी मजाक उडाया ! जरूर यह कोई बहुत बड़ा "काफिर" है और इन दोनों कसूरों के लिए इसे कड़ी सजा दी जानी चाहिए।

गुरुजी ने आकाश और पाताल लोकों की संख्या अपने एक गाने में असंख्य बताई जिसका अनुवाद उन्होंने स्वयं बगदादी भाषा में किया। परन्तु कुरान में केवल सात आकाश और सात पाताल बताये गये हैं। इस प्रकार इस्लाम धर्म के विरुद्ध उनका यह तीसरा अपराध था।

इस प्रकार बगदादियों की दृष्टि में गुरु नानक देव ने तीन बार मुसलमानी कानून तोड़ा था। जब इन धार्मिक अपराधों की सूचना वहाँ के सबसे बड़े पीर को दी गई, तो उसने तुरन्त ही अपने आदमियों द्वारा गुरु महाराज को बुलाया। परन्तु गुरु महाराज ने उनके साथ जाने से इन्कार कर दिया और कहा कि अपने पीर साहब से कहना कि खुदा का चारण आपको उनकी महिमा के गीत सुनाने आया है। उन्हें यहाँ आकर परमात्मा के ऐश्वर्य सम्बन्धी गीत सुनना चाहिए।

पीर के आदमियों ने गुरु नानक देव के पास से वापिस जाकर उनकी सारी बातें पीर साहब से कहीं। गुरुजी की बातों को सुनकर पीर साहब को गुस्सा

आया और तुरन्त ही उन्होंने फतवा जारी किया, 'इस्लाम धर्म की इस प्रकार उपेक्षा करने वाले व्यक्ति को श्रद्धालु मुसलमानों द्वारा पत्थर मारकर मार डालना चाहिए। पीर की आज्ञा पाकर मुसलमानों की भीड़ गुरुजी के समीप पहुँच गई, तो गुरुजी ने परमात्मा के ऐश्वर्य, महिमा एवं शक्ति-सम्बन्धी पदों को गाना शुरू कर दिया। जो लोग क्रोध में अन्धे और पागल होकर गुरु महाराज की हत्या करने आये थे, वे गुरुजी का दिव्य संगीत सुनने में एकदम तन्मय हो गए। सबके सब परमात्मा के उस अद्भुत गायक के प्रति श्रद्धानत हो गए।

पीर साहब मन ही मन उनसे मिलना चाहते थे किन्तु धर्म-अनुयाइयों के डर से वे मिलना पसंद नहीं करते थे। परन्तु जैसे पत्थर मारने वालों की घटना की सूचना पीर साहब को मिली तो पीर साहब अपने छोटे पुत्र को साथ लेकर गुरु जी से मिलने चल दिये। जिस समय वह कब्रगाह के समीप पहुंचे तो उन्हें गुरु नानक देव की आकर्षक और मीठी संगीत ध्वनि सुनाई पड़ी। पीर साहब अपने पुत्र सहित शीघ्र ही उस स्थान पर पहुंच गए जहां गुरु जी रेतीली जमीन पर मरदाना के साथ बैठे हुए स्वर्गीय संगीत गा रहे थे। गुरु जी की आंखें पीर साहब की ओर मुड़ीं। उनकी भुवन-मोहनी प्रेमपूर्ण चितवन ने पीर साहब का हृदय बन्दी बना लिया। पीर साहब को साक्षात अनुभव हुआ कि इस अजनबी व्यक्ति का यही आकर्षण मुझसे इस्लाम धर्म की मर्यादा एवं पीर के गौरव को विस्मृत करके जबरदस्ती अपनी ओर खींच रहा था। उन्होंने गुरु महाराज को झुककर प्रणाम किया और उनके समीप चुपचाप बैठ गये। पत्थर फेंकने वाले लोग भी गुरु जी के समीप चुपचाप बैठ गये।

पीर साहब का सबसे पहला प्रश्न था "संगीत मनुष्य के चित्त में आवेगों को उत्तेजित करता है, फिर भी आप संगीत से इतना प्रेम क्यों करते है? यह तो इन्द्रिय-सुख-वादियों का सस्ता मनोरंजन है। ईश्वर परायण व्यक्तियों को मस्तिष्क और हृदय की उत्तेजना की कोई भी आवश्यकता नही है। उनकी वृति अन्तर्मुखी और शान्त होनी चाहिए उनके लिए तो सगीत का त्याग अपेक्षित है। इसी कारण, हमारे धर्म इस्लाम में संगीत का निषेध है।"

गुरु महाराज ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "आपने संगीत के प्रयोग का गलत अर्थ लगाया है। सगीत अच्छी और बुरी दोनो ही प्रकार की भावनाओ को जागृत करने के लिए अत्यन्त शक्तिशाली माध्यम है। मनुष्य के मस्तिष्क पर इसका अत्यन्त प्रभावशाली प्रभाव पड़ता है। संगीत पाषाण हृदय को भी द्रवि-भूत कर देता है और उसे लचीला बना देता है। यह आत्मा को अन्तर्मुखी करके उसे सत्वगुण से परिपूर्ण कर देता है...इन्हीं कारणो से संगीत हमारा धर्म हैं। इसके अतिरिक्त आपके पैगम्बर भी संगीत के प्रतिकूल नहीं थे। इस बात का उल्लेख मिलता है वे अपनी स्त्री को लेकर संगीत कक्ष में गए थे। मुझे आश्चर्य

है कि आपने कैसे विश्वास कर लिया कि संगीत धर्म का विरोधी है।"

गुरु जी की सारी बातें सुनकर पीर साहब अत्यन्त संतुष्ट और प्रभावित हुए। उसके बाद उन्होंने गुरु महाराज से दूसरे अपराध का जवाब चाहा, "मैं इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि आप जैसे धार्मिक व्यक्ति 'कुफ्र" करने पर आमादा हों। आपने "अजान" में मुहम्मद पैगम्बर का नाम क्यों नहीं लिया ?"

गुरु महाराज ने उत्तर दिया, "इसका केवल यही कारण है कि मैं उस एक परमात्मा का उपासक हूं जिसकी जोड़ का और कोई दूसरा है ही नहीं। परमात्मा के साथ पैगम्बर मुहम्मद का नाम न जोड़कर मैं आपके एकेश्तरवाद के और निकट ही हुआ हूं। मुझे स्वयं बड़ा आश्चर्य है कि खुदा के साथ पैगम्बर को जोड़कर ऐकेश्वरवाद किस प्रकार सिद्ध कर सकते है ? खुदा अकेला है, उसके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं। एक ओर तो आप लोग हिन्दुओं को इस बात के लिए धिक्कारते हैं कि वे बहुदेव वाद के उपासक हैं और दूसरी ओर खुद पैगबम्र बाद चलाकर उसी बात की पुष्टि करते हैं। इसके अलावा यदि आप एक खुदा में विश्वास करते हैं; और सृष्टि का निर्माण कर्ता और पालक उसी को मानते हैं, उसी को सर्वव्यापी मानते हैं तो आप उस खुदा के बनाए हुए अन्य लोगों को घृणा और हेय दृष्टि से क्यों देखते हैं ? उन्हें क्यों मौत के घाट उतारते हैं ? यदि आप उन्हें खुदा की सच्ची सन्तान मानते होते तो भी उन्हें सगा भाई समझते और उनके साथ प्रेम, दया और करुणा का भाव बरतते और उनकी सेवा के लिए सदैव तैयार रहते।" आपको याद रखना चाहिए कि परमात्मा का साक्षात्कार एक आदमी, एक राष्ट्र और एक युग की बपौती नहीं है। आप लोगों का केवल यही विश्वास है कि सत्य का कथन केवल मुहम्मद पैगम्बर ने किया है, इसलिए आप उन लोगों से झगड़ते हैं, जिनका इस सबंध में आपसे मतभेद है। फिर भी आप लोग खुदा से प्रेम और उनकी सेवा करने का दम्भ भरते हैं। वास्तविकता तो यह है कि आप लोग अपने ही लोगों से घृणा करते हैं और उन पर भीषण अत्याचार करते हैं।

पीर साहब ने शर्म से अपना सिर नीचे कर लिया और कहा, 'हिन्दुस्तान के महान पीर ! आपने ठीक ही कहा है। हमारे विश्वास और क्रिया तथा आचरण में बहुत बड़ा पतन हो गया है। यह बड़े दुःख की बात है। इस्लाम के नाम पर मानवता के प्रति क्रूरताए बरती गई हैं और अत्याचार ढाए गए हैं। इस बात पर मैं पूर्णतः सहमत हूं। इसके बाद गुरु महाराज ने पीर साहब के तीसरे प्रश्न का समाधान किया। गुरु जी ने पीर साहब को इस प्रकार आश्वासन दिया, "यह आध्यात्मिक अनुभूति आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं। आपको अपने विश्वास की वृद्धि करनी चाहिए। यदि आप अपना हृदय और मन पवित्र कर लेते हैं और अपनी आत्मा अल्लाह के चरणों में समर्पित कर दें, तो आपको मेरी

कही हुई बातों पर विश्वास हो जाएगा।"

इस प्रकार गुरु महाराज ने पीर साहब पर अपनी आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर ली। पीर साहब गुरु महाराज के चरणों में गिर पड़े और उनके आशीर्वाद से अभिसिक्त हुए। बगदाद के इन समस्त लोगों ने, जो एकत्र होकर गुरु नानक देव और पीर साहब की वार्ता सुन रहे थे, गुरु महाराज के चरणों में अपने सिर झुका दिये।

बगदाद की यात्रा के बाद गुरुनानक पेशावर होते हुए सिन्ध नदी पार करके हसन अब्दाल नामक स्थान पर पंजाब पहुंचे। यह स्थान रावलपिंडी से तीस मील की दूरी पर स्थित है। नगर के बाहर एक ठंडे पर्वत के मूल में उन्होंने अपना आसन जमाया। वली कन्धारी नामक एक मुसलमान फकीर पहाड़ी की एक चोटी पर रहते थे। वली कन्धारी संकीर्ण मनोवृत्ति के चमत्कारी फकीर थे। आसपास के क्षेत्र मे गुरु महाराज की प्रसिद्धि और लोकप्रियता सुनकर फकीर को बड़ी ईर्ष्या हुई। वली कन्धारी के कुछ शिष्यों ने गुरु महाराज की आध्यात्मिकता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। प्रशंसा सुनकर फकीर का संकीर्ण हृदय क्रोध से भभक उठा। वली कन्धारी ने प्रतिज्ञा की कि मैं गुरु सहित यहां के निवासियों को पानी के बिना मार डालूंगा। अतएव उन्होंने झरने के उस स्रोत को बन्द कर दिया, जिससे जल बहकर नीचे जाता था और लोग उससे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। स्रोत बन्द होने से आसपास के लोग बिना पानी बहुत दुःखी हुए। लोगों की सारी प्रार्थना फकीर के गुरु महाराज से ईर्ष्या-जनित क्रोध के कारण निरर्थक सिद्ध हुई। फकीर ने गुरु जी की ओर उंगली का संकेत करते हुए कहा, "उसी के पास जाओ।"

वहां के सारे लोग बड़े संकट में थे। लोगों ने अपने संग्रह किए हुए थोड़े जल में से प्यासे मरदाना को जल देने से साफ इन्कार कर दिया और कहा, "अपने गुरु जी से प्रार्थना क्यों नहीं करते ?"

गुरु जी ने यह आशा की थी कि वली का हृदय पसीज जाएगा किन्तु उन्हें इस बात का जल्दी ही पता लग गया कि फकीर का हृदय उतना ही कठोर है, जितना कि वह पहाड़, जहां पर वे निवास करते हैं। गुरु महाराज तब तक आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग नहीं करते थे, जब तक लोक-कल्याण के निमित्त उसका प्रयोग अनिवार्य नहीं हो जाता था। अतएव उन्होंने परमात्मा के नाम वली के हृदय में दया उत्पन्न करने के लिए मरदाना को उनके पास भेजा। मरदाना अत्यधिक प्यासा था। अतएव उसने वली के पास पहुंच कर प्रार्थना की, "फकीर साहब ! मैं प्यास से मर रहा हू। एक बूंद भी पानी नहीं मिल रहा है, खुदा के नाम पर पानी पिलाकर मेरे प्राण बचाइये और साथ ही दया करके उस स्रोत को खोलने की कृपा कीजिए, क्योंकि खुदा के सारे बन्दे प्यासे मर रहे हैं।"

बली साहब ने मरदाना की प्रार्थना अभिमानपूर्वक ठुकरा दी और मरदाना से कहा, "अपने पीर के पास जाओ। यदि उसमें शक्ति है, तो एक नया स्रोत निकालकर लोगों की तकलीफ दूर कर सकता है। यदि उसमें इस प्रकार की कोई शक्ति नहीं है तो उससे कह दो कि वह मेरे पास आए और यहां के लोगों को बरगलाना बन्द कर दे।"

बेचारा मरदाना प्यासा ही गुरु नानक के पास लौट आया और उसने अपने गुरु जी से सारा समाचार विस्तार से कहा। गुरु जी ने दुबारा और तिबारा मरदाना को वली के पास भेजा, बेचारे मरदाना ने मानवता के नाम पर अनेक अनुनय-विनय की, पर वली साहब का पाषाण हृदय लेशमात्र भी द्रवीभूत नही हुआ। इस पर गुरु नानक देव ने अपने बैठने वाले स्थान से एक छोटा-सा पत्थर उठाकर मरदाना से कहा, "भाई मरदाना! इस स्थान को खोदो।" मरदाना ने गुरु जी की आज्ञा का पालन किया। महान आश्चर्य की बात हुई, थोड़ा ही खोदने से उस स्थान पर एक जल-स्रोत निकल आया। उस जल-स्रोत के निकलते ही वली साहब का जल-स्रोत एकदम सूख गया। नया जल-स्रोत पुराने जल स्रोत की अपेक्षा अधिक बड़ा था। इस प्रकार गुरु महाराज ने वली के भीषण अत्याचारों से ही लोगों को त्राण नहीं दिलाया बल्कि जल के आधिक्य से वहां की बंजर भूमि को भी उर्वरा बना दिया।

गुरु जी के इस चमत्कार को देखकर वली कन्धारी और भी आग-बबूला हो गया। अत्यधिक क्रोधावेग में उसने गुरु जी पर भारी शिला लुढ़का दी। गुरु जी महाराज उस समय दातून कर रहे थे। उस लुढ़कती शिला को देखकर उन्होंने अपने पंजे से उसे रोक दिया। उस शिला पर गुरु जी के पंजे का निशान बन गया। यह अब भी उसी दिशा में स्थित है और उस पर गुरु जी के पंजे के निशान अंकित हैं। उसे लोग आदर से पंजा साहब कहकर संबोधित करते हैं।

इस प्रकार वली कन्धारी का सारा अहंकार चकनाचूर हो गया। वे गुरु महाराज से नीचे मिलने उतरे। उन्होंने गुरु जी के चरणों में गिरकर प्रणाम किया और अपनी भयंकर भूल के लिए क्षमा-याचना की। गुरु जी जन्मजात उदारमन थे। वे पापियों से घृणा नहीं करते थे, बल्कि उनके जघन्य कृत्यों पर उन्हें करुणा होती थी। वे उन्हें अज्ञानान्धकार से निकालकर सच्चे मार्ग पर लगाना चाहते थे। गुरु महाराज ने वली कन्धारी को क्षमा कर दिया और कहा कि परमात्मा प्रेम-स्वरूप है, जो व्यक्ति से प्रेम करता है वह परमात्मा से प्रेम करता है।

गुरु नानक देव के उपदेश से वली कन्धारी का हृदय एकदम पवित्र हो गया और उनके अन्तर्गत नवीन शुद्ध जीवन का प्रादुर्भाव हुआ।

दक्षिण की यात्रा के बाद गुरु महाराज ने सिंध और बहावलपुर के क्षेत्र में

प्रवेश किया। सतलज नदी पार करके उन्होंने शुजाआबाद की यात्रा की। वहाँ से वे उच्छनगर में प्रविष्ट हुए। उच्छनगर में उन्होंने एक प्रख्यात मुसलमान पीर अहमद हुसन जलालदीन से धार्मिक शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ में पीर ने पराजित होकर गुरुनानक देव का मत स्वीकार कर लिया और उन्हें अपना धार्मिक गुरु माना। पीर साहब के समस्त अनुयायियों ने उनका अनुसरण किया।

1521 ई० में गुरुनानक देव ने भारत पर मुगलों के आक्रमण की भविष्यवाणी की थी। 1521 ई० में बाबर सैयदपुर पहुँचा। सैयदपुर के पठान शासकों ने बाबर के आक्रमण का सामना करने का विचार किया। मुगलों और पठानों की लड़ाई में, पठानों को मुंह की खानी पड़ी। चारों ओर तलवार, आगजनी लूटपाट और बलात्कार का बोलबाला था। गुरुनानक देव सैयदपुर पहुँचे। गुरु जी का आगमन सुनकर भाई मरदाना शीघ्र ही उनसे आकर मिला। गुरुनानक देव और मरदाना दोनों ही बन्दी बना लिए गए। गुरु महाराज को बोझ ढोने का काम दिया गया और मरदाना को मुगलों के एक सेनापति मीर खाँ के घोड़े का सईस बनाया गया।

गुरु महाराज को अपने सिर के बोझ का भार बिल्कुल न जान पड़ा क्योंकि उनके मृदुल और देशभक्ति पूर्ण हृदय पर बड़ा भारी बोझ लदा था। उन्होंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपने देश के स्त्री-पुरुषों की करुण अवस्था को देखा। उनका रोम-रोम कराह उठा। उन्होंने मरदाना से कहा, "मरदाना रबाब लाओ! ईश्वरीय भाव आ गया है। घोड़ा छोड़ दो। यह हम लोगों के पीछे चलेगा। मरदाना ने गुरु के आदेश का पालन किया। रबाब का स्वर झंकृत हो उठा। आसपास के लोग, मरदाना को रबाब बजाते देखकर, आश्चर्य में पड़कर सोचने लगे। "यह विलक्षण पाषाण हृदय फकीर है। जो लोगों को ऐसी विपत्ति में देखकर भी रबाब बजा रहा है। इसके अनन्तर गुरु महाराज का स्वर भी गूंज उठा। उन्होंने जिस पद का गान किया वह समीप और दूर की समस्त दुखी जनता द्वारा सुना गया। उसे सुनकर प्रत्येक व्यक्ति अपना दुख भूल गया। संयोगवश मीर खाँ भी उसी मार्ग से गुजर रहा था। मीर खाँ ने देखा कि उसका घोड़ा मरदाना के पीछे-पीछे चल रहा है, जबकि मरदाना रबाब बजाता हुआ चल रहा है। मीर खाँ ने यह भी देखा कि गुरु महाराज का मुख मण्डल अलौकिक तेज से प्रकाशित है। उनके सिर पर भारी बोझ लदा है, फिर भी उनके चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं है। उनके हृदय से निकला संगीत कैदियों को ऐसी शान्ति और सुख दे रहा है जैसे ग्रीष्म की उष्णता से व्याकुल प्राणियों को जल-वृष्टि आनंदित और प्रफुल्लित करती है। मीर खाँ ने गाने के अर्थ को तो बिल्कुल नहीं समझा परन्तु उसके अलौकिक भाव को उसने भली-भाँति अनुभव कर लिया।

अन्त में, सभी कैदी सैनिक शिविर में पहुँचे। कैदियों को सेना के लिए

अनाज पीसने की आज्ञा दी गई। नानक देव और मरदाना को भी चक्की पीसने की आज्ञा दी गई। नानकदेव ने अपने चारों ओर निरीक्षण किया, तो उन्हें अनुभव हुआ कि जो व्यक्ति धन-सम्पत्ति, भोग-विलास, मान-मर्यादा के नशे में चूर थे, वे अपनी चमड़ी बचाने के लिए चक्की चला रहे हैं। वे चक्की चलाने में असमर्थ हैं; परन्तु भय से चक्की चला रहे हैं। इस दृश्य से उनका हृदय एकदम करुणा से विदीर्ण हो गया किन्तु तुरन्त ही उनकी अन्तरात्मा उस कर्ता से युक्त हो गई जो सभी प्रकार के दुखों और सुखों का निर्माता है। उसकी शान्ति और आनन्ददायिनी गोद में बैठकर वे अपने बन्दीपन तथा निर्धारित कार्य को भूल गये। उनकी आँखें स्वतः बन्द हो गईं। मरदाना उनके बगल में बैठकर रवाब बजा रहा था। मीर खाँ ने मार्ग में गुरुजी को पद गाते सुना था। कैदियों के ऊपर उसका क्या प्रभाव पड़ा था, इसका भी अनुभव वह कर चुका था। उसने अपने अनुभव की चर्चा बाबर से की। साथ ही गुरु नानक देव के अलौकिक व्यक्तित्व की प्रशंसा भी की। बाबर ने अपनी भावना इस प्रकार व्यक्त की— "यदि मुझे यह ज्ञात होता कि इस शहर में इस प्रकार के पहुँचे हुए फकीर रहते हैं, तो मैं इस पर आक्रमण न करता।" इसके बाद मीर खाँ को लेकर बाबर बन्दियों के शिविर में पहुँचा। उन लोगों ने गुरु महाराज को ध्यानावस्था में देखा, उनके बगल में बैठकर मरदाना रवाब बजा रहा था। बाबर और मीर खाँ खड़े होकर उन दोनों विचित्र कैदियों को टकटकी लगाकर देखने लगे। उन्हें देखकर वे दोनों महान आश्चर्य में पड़ गये। थोड़ी देर बाद गुरु ने अपनी आँखें खोलीं और एक पद गाना प्रारम्भ किया। उस पद में परमात्मा की महत्ता और जीवात्मा की तुच्छता का वर्णन था। उस पद के गान ने बाबर के हृदय की प्रसुप्त मानवता और कोमलता को जगा दिया। बाबर ने मीर खाँ से कहा, इस पवित्र फकीर के चेहरे में मुझे खुदा का दर्शन हो रहा है। बाबर ने गुरुजी के पास पहुँचकर कहा, "मैंने आपकी इज्जत नहीं की, इसके लिए मैं आपसे माफी चाहता हूँ। आपके लिए मैं क्या करूँ? मुझसे आप कुछ भेंट स्वीकार कीजिए।"

गुरु महाराज ने उत्तर दिया, "अपने लिए मुझे किसी प्रकार की भेंट की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि आप ईश्वर के तुच्छ सेवक को सचमुच ही देना चाहते हैं, तो आप इन कैदियों को छोड़ने की कृपा कीजिए। साथ ही उनकी लूटी हुई सम्पत्ति उन्हें वापस कर दीजिए।"

बादशाह ने तुरन्त ही सारे कैदियों को छोड़ने एवं उनकी लूटी हुई सम्पत्ति को वापस करने का आदेश जारी कर दिया। सारे कैदी रिहा कर दिये गये और जहाँ तक सम्भव हो सका, उनकी सम्पत्ति भी वापस कर दी गई। सैनिकों की जो टकड़ियाँ शहर में जगह-जगह पर तैनात की गई थीं, वे भी वापस बुला ली गई। रिहा किए हुए और सम्पत्ति वापस पाए हुए कैदियों ने अपने मुक्ति-

दाता की रिहाई के बिना वहाँ से जाने से इन्कार कर दिया। बाबर ने उन कैदियों की बात मानकर गुरुनानक देव को भी मुक्त कर दिया। उसने गुरु महाराज से प्रार्थना की, "खुदा के सच्चे फकीर, पास ही मेरा शिविर है, वहाँ मुझे अपने दर्शन देने की कृपा कीजिए।" गुरु महाराज ने कहा, "जैसे भगवान की मर्जी होगी, वैसा होगा।" ऐसा कहकर वे मुक्त कैदियों के साथ बाबर से विदा हुए।

सैयदपुर पहुँचकर गुरुजी ने अत्यन्त हृदय विदारक दृश्य देखा। सारे शहर में मनुष्यों की असंख्य लाशें बिछी पड़ी थीं। सारी सड़कें और गलियाँ खून से भरी थीं। इस दृश्य से उनका हृदय द्रवीभूत हो गया। उन्होंने मरदाना को आज्ञा दी। मरदाना! रवाब बजाओ। परमात्मा का शब्द मेरे हृदय में आया है।" उन्होंने उस समय एक बहुत ही शोकपूर्ण गीत गाया।

यह खबर शीघ्र ही चारों ओर फैल गई कि गुरुनानक देव के कहने से सैयदपुर के सारे कैदियों को रिहा कर दिया गया। उनकी धन-सम्पत्ति, उन्हें लौटा दी गई तथा सैनिकों की चौकियाँ शहर से बाहर बुला ली गई। जो लोग बराबर के आक्रमण के भय से शहर छोड़कर भाग गये थे, वे अपने घरों को वापस आने लगे। बचे-खुचे लोगों ने एक-दूसरे का स्वागत किया। अपने मरने वालों का गम मनाया। मृतकों की लाशें साफ कर दी और घरों का बसना प्रारम्भ हो गया।

गुरुनानक को पता चला कि अभी तक कुछ व्यक्ति बाबर की कैद में हैं। आसपास के गाँवों के बहुत से लोग रिहा नहीं किए गये थे। कुछ लोग शंका के कारण पकड़े गये थे। बाबर की सेना के कुछ उच्च पदाधिकारियों ने सैयदपुर तथा आसपास के गांवों की कुछ सुन्दर स्त्रियों को अपने पास रख लिया था। गुरु महाराज के कोमल हृदय को कैसे शान्ति और सन्तोष मिल सकता था। जबकि उनके बहुत से भाई और बहन मरण से भी बुरी दशा में थे। अतः वे बाबर के शिविर की ओर अकेले ही अग्रसर हुए।

अभी प्रातःकाल ही था। देशवासियों की दीन और असहाय अवस्था पर मनन करते हुए गुरु महाराज चले जा रहे थे। बाबर के शिविर के निकट पहुँच कर गुरु महाराज ने गम्भीर और कोमल स्वर से पद का गान प्रारम्भ कर दिया। उस पद में उन्होंने आक्रमणकारियों की क्रूरता और अत्याचार तथा भारतीयों की दीन दशा का साकार चित्रण किया।

बाबर ने उस पद को सुना। वह इसका अर्थ समझने में समर्थ नहीं हुआ किन्तु प्रातःकालीन वायु के द्वारा तीव्र भर्त्सना बाबर के हृदय में तीर की भाँति जा घुसी। उसने परमात्मा के अद्भुत गायक गुरुनानक देव को अपने पास बुलवाया। उसने देखा यह तो सैयदपुर का वही फकीर है जिसने सारे कैदियों की

रिहाई कराई थी। बाबर ने श्रद्धा से गुरु महाराज को अपने पास बैठाया और उसने उस पद का अर्थ उनसे पूछा। गुरु महाराज ने पद का भावार्थ बाबर को समझाया। उन्होंने उस अंश पर बहुत जोर दिया, जिसमें निरीह जनता पर बाबर के सैनिकों की क्रूरता और निरीह जनता की करुणा का वर्णन था। बाबर ने गुरु जी की भर्त्सना, न्याय संगतता और सार्थकता की अनुभूति की। बाबर पश्चाताप और ग्लानि से भर गया। उसने परमात्मा के उस भक्त की कृपा-याचना का बहुत प्रयास किया, जो केवल अपने देशवासियों के दुख से आर्द्र नहीं हुआ था, बल्कि जिसने क्रूर और अत्याचारी के प्रति अपना रोष भी प्रकट किया और उसकी भर्त्सना की। गुरुनानक देव की अनन्य भक्ति और परम निर्भीकता से उसका हृदय भयभीत हो गया। उसने गुरु महाराज के साथ अत्यधिक श्रद्धापूर्वक व्यवहार किया और प्रार्थना की, "आप मेरे साथ रहकर और परमात्मा सम्बन्धी पदों को गाकर मेरा आत्मिक उत्थान करने की अनुकम्पा कीजिए।"

गुरुनानक देव ने उसके साथ तीन दिन तक रुकना स्वीकार किया। इस अवधि में उन्होंने परमात्मा सम्बन्धी अनेक पदों को बाबर तथा उसके अमीरों को सुनाया। उन्होंने भारत के भावी सम्राट से राजा के कर्त्तव्य और धर्म तथा प्रजा के अधिकारों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कहीं। किन्तु गुरुनानक देव की ठंडी आहें उन लोगों के सम्बन्ध में बराबर निकलती रहीं, जो बाबर के कैदी अब भी बने थे। तीसरे दिन गुरु महाराज को उन कैदियों को देखने का अवसर मिला, जो कठोर श्रम में जोते गये थे। गुरुनानक की दशा को देखकर बाबर ने सोचा कि कदाचित "अल्लाह का फकीर" दुनिया से कूच करने वाला है। इस विचार से वह बहुत गमगीन हो गया। परन्तु कुछ समय के पश्चात् गुरु महाराज ने अपनी आँखें खोलीं और सामान्यावस्था में आ गये। उनके मुख-मण्डल पर अप्रतिम प्रकाश था। बाबर ने उनके इस तेजस्वी रूप को देखा और कहा, "अरे अल्लाह के फकीर" मुझे अपना आशीर्वाद दो!"

गुरु महाराज ने बाबर से कहा, "यदि तू अल्लाह की मेहरबानी चाहता है तो इन स्त्री-पुरुष कैदियों को जल्द रिहा कर दे।" गुरु जी की बात से वह इन्कार न कर सका। उसने उनकी रिहाई की राजाज्ञा जारी की। आंखों में आनन्द के आंसू भरे हुए तथा अत्यन्त कृतज्ञ भाव से सारे कैदी बन्दी-शिविर से मुक्त हुए। बाबर ने इसके बाद गुरु महाराज से फिर प्रार्थना की, "ओ खुदा के सच्चे बन्दे, अब तुम खुदा से प्रार्थना करो कि हिन्दुस्तान में मेरी सल्तनत पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती जाय।"

गुरु महाराज ने बाबर से इस प्रकार कहा, "यदि तुझे हिन्दुस्तान में अपनी सल्तनत कायम करने की ख्वाहिश है, तो हिन्दुस्तानियों के साथ मिलकर एक हो

जा। इस मुल्क को अपना मुल्क समझ और यहीं का बाशिन्दा होकर रह। हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक तरह अपनी रिआया समझ। तेरा राज इन्साफ और मेहरबान का हो। पराजितों के साथ भी मेहरबानी का बरताव कर और जो लड़ाई करना नहीं चाहते, उन्हें सता मत। जुआ खेलना, शराब पीना तथा बुरी लतों को छोड़ दे। खुदा की सच्ची इबादत कर।" इस प्रकार गुरुनानक देव ने बाबर के सैयदपुर पर आक्रमण के समय में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के पथ को मजबूत किया।

अचल बटाला में सिद्धों पर विजय प्राप्त कर, गुरुनानक देव मुल्तान की ओर अग्रसर हुए। मुल्तान में फकीरों की बहुत बड़ी संख्या लोगों पर अत्याचार कर रही थी और उन्हें गुमराह कर रही थी। उन फ़कीरों और साधुओं में से बहुतों का आध्यात्मिक जीवन से कोई सरोकार नहीं था। गुरुनानक देव उस क्षेत्र में थोड़े ही दिन रहे। किन्तु अल्प-अवधि में ही उनका नाम वहां के लोगों की ज़बान पर चढ़ गया। इस कारण वे फकीर और साधु और अधिक चिन्तित; भयभीत तथा दु खी हुए।

अतएव मुल्तान के सारे फकीर एकत्र हुए और गुरुनानक देव को वहां से निकालने की युक्ति सोचने लगे। उन्होंने गुरु जी के पास अपना संदेश भेजने का एक विचित्र उपाय ढूंढ़ निकाला। उन्होंने गुरु महाराज के पास दूध से लबालब भरा एक प्याला भेजा। उस प्याले में एक बूंद भी दूध रखने की जगह नहीं थी। इसका अर्थ यह था कि मुल्तान शहर में इतने अधिक फकीर भरे पड़े हैं कि अब एक भी साधु और फकीर के लिए स्थान नहीं है। दूध के प्याले को फकीरों की हार्दिक भेंट समझकर मरदाना ने गुरु महाराज से उसे ग्रहण करने की प्रार्थना की। किन्तु गुरु महाराज ने तुरन्त फकीरों की युक्ति को भांप लिया। उन्होंने मुस्करा कर अपना सिर हिलाया और उस प्याले में एक सुन्दर फूल चमेली का डाल दिया और लाने वाले को आज्ञा दी कि इसे ठीक ऐसी ही दशा में भेजने वाले के पास पहुंचा दिया जाये। उन्होंने फूल डालकर यह संकेत दिया कि जिस प्रकार दूध से लबालब भरे इस प्याले में चमेली के पुष्प की गुन्जाइश है, उसी प्रकार इस मुलतान शहर में मुझ जैसे तुच्छ भक्त की गुन्जाइश भी हो सकती है। जिस प्रकार पुष्प अपनी सुरभि प्याले के दूध में फैला रहा है, उसी प्रकार मैं भी परमात्मा की महिमा की सुगन्धि सारे मुल्तानियों में फैलाऊँगा।

इसका परिणाम यह हुआ कि थोड़ी ही देर बाद कुछ प्रसिद्ध फकीर गुरु जी के पास शास्त्रार्थ करने के लिए पहुँचे। उन्हें यह आशा थी कि वे तर्क-वितर्कों में गुरु महाराज को पराजित कर देंगे। किन्तु उन लोगों को जल्द ही प्रतीत हो गया कि कि फकीरों द्वारा गुरु महाराज जैसे महान पुरुष को पराजित करना असंभव है। अन्त में, उन लोगों ने गुरु महाराज की महत्ता स्वीकार करके, उन्हें

अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया। गुरु नानक देव ने उन फकीरों को अपने धर्म और सिद्धान्त में दीक्षित किया और उन्हें नया आध्यात्मिफ जीवन प्रदान किया। उन फकीरों के अनुयायी और भक्त भी गुरु जी के चरणों में गिरकर उनके शिष्य और भक्त बन गये।

तब से सूफी फकीरों ने गुरु महाराज की आध्यात्मिक महत्ता को भी भली-भांति स्वीकार कर लिया। अपने जीवन काल मे गुरु नानक देव ने सूफी फकीरों में अपने प्रति इतनी श्रद्धा उत्पन्न करा दी कि एक दिन प्रातःकाल पीर बहा-उद्दीन ने "काबा" की ओर अपनी पीठ करके करतारपुर की ओर अपना मुख करके नमाज पढ़नी प्रारम्भ की। बहाउद्दीन के हजारों अनुयाइयों में से जब एक ने साहस करके इसका कारण पूछा तो उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया, "मेरे दोस्तों, ! मुझे खुदा का नूर इसी दिशा में नजर आ रहा है। अतएव जहां खुदा है, उसी ओर मुंह करके मैं अपनी नमाज पढ़ रहा हूं।"

भाई मरदाना का करतारपुर में देहान्त हुआ। मरदाना ने अपना समस्त जीवन गुरु जी की सेवा में अर्पित कर दिया था। वह गुरु नानक के संगीत के साथ रवाब बजाता था। रवाब बजाने के साथ, वह उच्चकोटि का गायक भी था। गुरु की अधिकांश यात्राओं में वह साथ-साथ रहा। मरदाना के शरीर छोड़ने के पूर्व गुरु जी ने जिज्ञासा की, 'भाई मरदाना ! तुम्हारा शरीर जलाया जाय अथवा दफनाया जाय। जन्म से वह मुसलमान था, पर विश्वास से सिक्ख। अतः इस सम्बन्ध में गुरु नानक देव की इच्छा ही मरदाना की इच्छा थी। उसने गुरुजी के प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया, "आपकी कृपा से शरीर छूटने पर, जब मैं शाश्वत आनन्द में विलीन हो जाऊं, तो चाहे इस शरीर को दफ-नाया जाए अथवा जलाया जाए। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें।" गुरु महाराज ने मरदाना के ऊपर वरद-हस्त रखकर उसे आशीर्वाद दिया और उसके शव को जलाने की आज्ञा दी। इस प्रकार से हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक नया संदेश दिया।

गुरु नानक देव एक बार करतारपुर के पड़ोस के क्षेत्र में भ्रमण करन निकले। उन्होंने दूर स्थानों पर वृद्धावस्था के कारण भ्रमण बन्द कर दिया था। उबेर खां और शेख मालो दोनों गहरे दोस्त थे। पहले शेख मालो को गुरु नानक देव से मिलन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मालो को गुरु महाराज में अल्लाह का साक्षात स्वरूप दिखाई पड़ा। अतः उसन अपने को गुरु महाराज के चरणों में समर्पित कर दिया। [गुरू महाराज न उसके आध्यात्मिक नेत्र खोल दिये। वह एकदम परिवर्तित हो गया।

शेख मालो का मित्र, उबेर खां भी परमात्मा का खोजी था। वह अनेक पीरों और फकीरों के चरणों में बैठकर उनसे सत्संग कर चुका था परन्तु उसके

हृदय की अशान्ति दूर न हो सकी थी। एक बार शेख मालो उबेर खां से मिला। शेख मालो के चरित्र, व्यवहार एवं बाह्य परिवर्तन को उबेर खां ने तुरन्त भांप लिया। उसने मन-ही-मन विचार किया, "अच्छा, ऐसा प्रतीत होता है कि मालो किसी पहुंचे हुए फकीर से मिल चुका है, तभी तो वह प्रेम और प्रकाश के विलक्षण रंग में रंग गया है।" ऐसा सोचकर उसने अपने दोस्त मालो से पूछा, भाई मालो : "तुम्हें यह आनन्दावस्था किस प्रकार प्राप्त हुई ?"

मालो ने उत्तर दिया, "मैं अभी बता रहा हूं क्योंकि मित्र को मित्र के आनंद में सम्मिलित होना चाहिए और विशेषकर उस मित्र को अवश्य ही जिसमें उस आनंद का अभाव है। पर मुझे इस बात की आशंका है कि आप उस आनंद को पा सकेंगे, क्योंकि इस आनंद और प्रकाश का स्रोत उस व्यक्ति से प्रवाहित हो रहा है, जो संयोग से हिन्दू वंश में उत्पन्न हुआ है। मुझे भय है कि आपका मुसलमानी अभिमान आपको आनंद-प्राप्ति से वंचित रखेगा।"

उबेर खां ने उत्तर दिया, "जब मैं जानता हूं कि मेरा यह विद्वान दोस्त, जिसके धार्मिक जोश के कारण बहुत से लोग मुहम्मद पैगम्बर के झण्डे के नीचे आ चुके हैं, एक हिन्दू को अपना बना चुके हैं तो मैं अपना अहंकार कैसे कायम रख सकूंगा ? मैं उनके पास जाऊंगा, उनका दर्शन करूंगा और विनम्र होकर उनसे खुदा के संबंध में जिज्ञासा करूंगा।"

अतएव उबेर खां गुरु नानक देव के पास उपस्थित हुए और थोड़ा गम्भीर होकर उनके पास बैठ गए। महाराज ने उबेर खां के मन का अध्ययन कर लिया। अतएव उन्होंने उबेर खाँ से कहा, "मेरे दोस्त ! अपने को मजहब और शक्ति के अहंकार में मत उलझाओ। हिन्दू अथवा मुसलमान कोई भी परमात्मा को कम अथवा अधिक प्यारा नहीं हो सकता। अतएव किसी खास धर्म के अनुयाई होने के कारण वह यह दावा नहीं कर सकता कि मैं बड़ा हूं, और श्रेष्ट हूं। निष्काम कर्म, प्रेम, सेवा, सहानुभूति, दया और सज्जनता आदि गुणों से मनुष्य के सच्चे चरित्र का निर्माण होता हैं। श्रेष्ठ चरित्र एवं सुन्दर आचरण के बल पर मनुष्य आध्यात्मिक विकास में प्रगति करता है और परमात्मा के दरबार में पहुंचता है। एक-दूसरे से बड़ा बनने का झगड़ा ही विनाशकारी है। इससे हृदय का अहंकार बढ़ता है और आध्यात्मिक प्रगति का ह्रास होता है। मेरे दोस्त, परमात्मा का सदैव चिन्तन करो और प्रतिक्षण उसकी आराधना में लगो। तब तुम किसी से घृणा करना बन्द कर दोगे। घृणा करने के स्थान पर, तुम्हारे अन्तर्गत गम्भीर और सर्वव्यापी प्रेम भर जाएगा। उस समय तुम्हें सारी सृष्टि परमात्मामयी दिखलाई पड़ने लगेगी। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी तुम्हें परमात्मा की सन्तान प्रतीत होगी। उनके साथ तुम उसी प्रकार प्रेम करने लगोगे, जिस प्रकार परमात्मा से करोगे। सभी प्राणियों की निस्वार्थ सेवा करने लगोगे।"

उबेर खां को गुरु नानक देव में पूर्ण गुरु के दर्शन हो गये। श्रद्धा-विनत होकर उसने गुरु जी के चरणों में प्रणाम किया। गुरु जी के चरणों का स्पर्श करते ही, उबेर खां के शरीर, मन और चित्त में आध्यात्मिकता की बिजली कौंध गई। अहंकारी उबेर खां कोमल, विनीत, श्रद्धालु, भक्त उबेर खां में परिणत हो गया। वह मनसा, वाचा एवं कर्मणा गुरु का दासानुदास हो गया। उसने गुरु के उपदेशानुसार, प्रेम, सेवा एवं भक्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने का संकल्प लिया। उबेर खां की पत्नी का हृदय भी उसके पति के आध्यात्मिक प्रकाश की चिनगारी से प्रकाशित हो गया। गुरु जी को न देखने पर भी वह उनकी अनन्य शिष्या हो गई।

उसी क्षेत्र में जहाँ माल्लो और उबेर खां रहते थे एक अत्यन्त दुरभिमानी और शक्तिशाली पीर रहता था। उसका नाम अब्दुल रहमान था। उबेर खां को एक हिन्दू द्वारा शिष्यत्व ग्रहण करने की बात सुनकर अब्दुल रहमान उसे खरी-खोटी सुनाने आया। किन्तु उबेर खां के हृदय में गुरु नानक देव के शब्द-बेधी बाण बिंध चुके थे। उसका जीवन बदल चुका था। अत: अब्दुल रहमान की फटकार सुनकर वह तनिक भी विचलित नहीं हुआ। इसके बाद अब्दुल रहमान ने गुरु जी के सम्बन्ध में अनाप-शनाप बकना प्रारम्भ किया। पर फिर भी, उबेर खाँ ने अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोया। उसने परम शान्त भाव से अब्दुल रहमान को सलाह दी, "आप उनके पास जाकर अवश्य मिलिए।" उबेर खां के शब्दों को सुनकर अब्दुल रहमान कड़क कर बोला, "मैं उसे यहां से भगा दूँगा।" ऐसा कह कर वह चला गया।

संयोग से उसी दिन गुरु महाराज अन्यत्र जाने को तैयार हुए। उबेर खां भी गुरु महाराज के साथ ही चल रहा था। उस समय वे कामदार रेशमी चादर ओढ़े थे, जो उबेर खां की पत्नी ने बनाकर उन्हें भेंट की थी। अब्दुल रहमान भी गांव से आता हुआ दिखाई पड़ा। उबेर खां को अब्दुल रहमान की धमकी याद आई। वह कुछ डर गया। गुरु जी ने उबेर खां की ओर देखकर कहा, "मेरे दोस्त! साहस करो। जिस परमात्मा के हम सेवक हैं, वह हम लोगों का मार्ग प्रदर्शक और रक्षक है। अत: दोस्त, घबराओ मत।"

पीर अब्दुल रहमान ने गुरु नानक देव और उबेर खां की ओर देखा। उसने अपने मन में विचार किया—कैसी रोबीली पोशाक पहने है, फिर भी लोग कैसे मूर्ख हैं कि इसे साधु कहते हैं। वह भ्रमित होकर सोचने लगा—"क्या मैं इसी मार्ग से उसकी उपेक्षा करके, बिना उसकी ओर देखे चला जाऊँ या उससे वार्ता करके उसके शिष्यों की कही हुई बातों को आजमाऊँ? साथ ही इस बात की भी परीक्षा हो जाएगी कि उसके संबंध में उसके शिष्यों की कही हुई बातें कहां तक सत्य हैं? इन्हीं विचारों में निमग्न, अब्दुल रहमान को इसका भान नहीं

हुआ कि गुरु महाराज उनके बहुत निकट आ गए थे। अकस्मात ज्यों ही उसकी दृष्टि गुरु महाराज के तेजस्वी मुख पर पड़ी त्यों ही उसके समस्त संकल्प समाप्त हो गए। वह अपने घोडे से नीचे उतर पड़ा और उसने गुरु जी को प्रणाम किया किन्तु ऐसा करने पर भी उसका साथ अभिमान ने नहीं छोड़ा। वह सोचने लगा मैं इस साधु से कुछ प्रश्न पूछूँ अथवा बिना कुछ कहे-सुने चला जाऊं? गुरू महाराज ने उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर उसके विचार जान लिए और उससे कहा, "मेरे दोस्त! बाह्य वेशभूषा देखकर उलझो मत, भ्रम में न पड़ो। सच्चा त्याग तो हृदय में रहता है, बाहरी वेश-भूषा में नहीं। बाह्य लक्षणों से आन्तरिक त्याग की प्रवृत्ति नहीं जानी जा सकती। जो हृदय सांसारिक प्रपंचों और प्रलोभनों से युक्त और निर्लिप्त हैं उसके लिए किसी प्रकार की वेश-भूषा कोई अन्तर उत्पन्न नहीं कर सकती। इन सब वस्तुओं की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती। उसे तो सभी वेशों में सभी मनुष्यों और सभी धर्मों में एक ही खुदा नजर आता है।

गुरु महाराज की अनुभवयुक्त वाणी से पीर अब्दुल रहमान का सारा अहंकार गलकर पानी हो गया। अत्यन्त विनम्र भाव से उसने प्रार्थना की कि मुझे ज्ञान दीजिए, प्रेम दीजिए, भक्ति दीजिए और साथ ही नवीन जीवन प्रदान कीजिए। ऐसा कहकर वह गुरु जी के चरणों पर गिर पड़ा। गुरु महाराज ने उसे आशीर्वाद देकर नवीन जीवन प्रदान किया। उसने गुरु महाराज का शिष्यत्व स्वीकार किया और वह मानवता का पुजारी बन गया।[20]

कबीर के बाद मध्ययुगीन समाज को प्रभावित करने वाले सन्तों में नानक का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। वैसे निर्गुण मार्गी सन्तो में नानक का व्यक्तित्व अत्यन्त भद्र और शान्त है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि विचारों और सामाजिक आचारों की दुनिया में परिवर्तन करने वाले गुरु नानक किसी का दिल दुखाए बिना, किसी पर आघात किए बिना कुसंस्कारों को नष्ट करने की शक्ति रखते थे। उनका उपचार प्रेम, मैत्री, सहानुभूति और सर्वहित-चिंता था। नानक की वाणी में अद्भुत पवित्र निष्ठा, प्रभु के लिए पुकार एवं आत्मसमर्पण का तीव्र आवेश है। जहाँ एक ओर उन्होंने मानव के सामाजिक दुःखों का अनुभव किया, वहीं दूसरी ओर अन्ध-विश्वासों और मान्यताओं को दूर करने का प्रयास भी किया। भेदभाव से ऊपर उठकर वे हिन्दू-मुसलमानों को समान दृष्टि से देखते थे। सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में ऐकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा का विरोध, हिन्दू-मुस्लिम एकता और सच्ची पवित्र भक्ति उनका ध्येय रहा है। विषम परिस्थितियों में उन्होंने मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जगाया तथा एक सर्वोच्च शक्ति के अस्तित्व में विश्वास द्वारा भक्ति भावना को विशाल पृष्ठभूमि में स्थापित कर दिया। साथ ही उन्होंने सीधी भाषा में कहा। उनके

विचारों में कहीं भी संकीर्णता नहीं थी ।

भारतीय धर्म-साधना के अतिरिक्त गुरु नानक देव के सामने महान इस्लाम धर्म भी था । मुस्लिम सन्तों का सत्संग भी उन्होंने प्राप्त किया था । काफी सोच-समझकार ही उन्होंने समन्वय का मार्ग अपनाया । उन्होंने शक्तिशाली इस्लाम के उत्तम सिद्धान्तों को सहज भाव से अपनाया । गुरु नानक के मत में सच्चा समन्वय वही है जो ईश्वर की मौलिक एकता को पहचाने और उसके असर से मानव की एकता पहचानने में सहयोग दे । विशाल मानवतावादी दृष्टि को ग्रहण कर जो समस्त मनुष्य जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार के कुसंस्कारों के बन्धनों से मुक्त कर जीवन को उच्च भूमि पर ले जाने की प्रेरणा दे, वही सच्चा समन्वय है ।[21]

गुरु नानक के जीवन का उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता स्थापित करना था । उन्होंने ऐसा महसूस किया कि समाज के जख्मों को भरने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में धर्म के कारण संघर्ष को समाप्त किया जाए । उन्होंने कहा, "जब एक रहता है और एक समाप्त कर दिया जाता है तब क्या ऐसा सम्भव है कि वह आराम से रह सके । लेकिन जब दोनों रहते हैं तब तक उनमें संघर्ष और संदेह उपस्थित रहता है ? दोनों असफल रहे तब ईश्वर ने आदेश दिया : बहुत से उनमें से कुरान (Quran) लेकर उन्हें एक करने के उद्देश्य से गये, लेकिन वे असफल रहे । ऐ मेरे पुत्र ! तुम इस संसार में जाओ, सब अपने पथ से अलग हो गए हैं और उन्हें सही मार्ग दिखाओ । तुम संसार में जाओ और उन्हें एक नाम का उच्चारण करने के लिए कहो । नानक ! तुम उन दोनों पर तीसरे की तरह जाओ । सत्य का धर्म स्थापित करो, बुराई को दूर करो, उन दोनों में से जो तुम्हारे पास आए उसका स्वागत करो, जीवन-कार्य व्यर्थ में ही बरबाद नहीं होना चाहिए, गरीबों के जीवन की रक्षा करो, याद रखो कि ईश्वर ने चौरासी लाख प्रकार के जीवाणु पैदा किए हैं ।"

वह स्वयं को ईश्वर का पैगम्बर मानते थे, जो ईश्वर के दरबार से आया है, जो उसके दरवाजे से संकेत प्राप्त करता है । उन्होंने सिखाया "संसार में एक ईश्वर है, उसके सिवाय अन्य कोई नही है और नानक उसका पुत्र है—जो सत्य बोलता है ।"

यह स्पष्ट है कि गुरु नानक देव ने अपना आदर्श मुहम्मद पैगम्बर को बनाया और उनकी शिक्षाओं पर इसका प्रभाव स्वाभाविक था। नानक देव का धर्म पूर्ण रूप से व्यावहारिक और नैतिक था । उनका ईश्वर इन सबसे ऊपर था ।

सूफियों की भाँति गुरु नानक देव ने सिखाया कि ईश्वर की ओर आत्मा द्वारा यात्रा के लिए एक गुरु मार्ग-दर्शक होना चाहिए । उनकी व्यवस्था में मार्ग

दर्शक वही स्थान रखता है जो कबीर की व्यवस्था में था। गुरु ने अपने शिष्यों को मार्ग दिखाया जिसमें चार स्थितियाँ थीं—शरण खण्ड, ज्ञान खण्ड, कर्म खण्ड और सच खण्ड (Saran Khand, Gyan Khand, Karam Khand, and Sach Khand) जो नानक प्रकाश के लेखक गुरुमुख सिंह के अनुसार सूफी सम्प्रदाय के शरीयत, मरीफत, उफवा और लाहुत (Shari-at, Marifat, Ufwa and Lahut) से मिलती है। यह रास्ता अन्त में उस स्थान (Goal) पर पहुँचता है जहाँ भक्त की आत्मा के लिए प्रिय है, जहाँ मृत्यु का भय नहीं रहता, जहाँ जन्म-मरण का चक्र बन्द हो जाता है और जहाँ मनुष्य उस रोशनी में मिल जाता है जहाँ से उसे मुक्ति मिली है।[22]

एस० आर० शर्मा के अनुसार गुरु नानक ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों से कहा—

"चाहे तुम्हारे पास अट्ठारह पुराण हों, चाहे तुम्हें चारों वेद कण्ठस्थ हों, चाहे तुमने पवित्र दिनों में स्नान करके लोगों को उनकी जाति के अनुसार दान दिया हो, चाहे तुमने दिन-रात व्रत रखा हो और धार्मिक कृत्य किये हों, चाहे तुम काजी हो, चाहे मुल्ला, शेख, जोगी, और जंगम, चाहे तुम गेरुआ कपड़े पहनते हो और चाहे तुमने गृहस्थ का धर्म निभाया हो—यदि तुमने ईश्वर को नहीं पहचाना, तो मृत्यु सबको बाँधकर ले जायेगी।"

उन्होंने कहा, "मेरा चार जातियों में से किसी से भी सम्बन्ध नहीं है, नानक उनके साथ है जो नीचों में भी नीच जाति के हैं।"

मुसलमानों के लिए उनकी निम्न सलाह थी—

"दयालुता को अपनी मस्जिद बनाओ, ईमानदारी को अपना नमाज पढ़ने का कालीन और न्याय तथा कानून को अपनी कुरान, नम्रता को अपना खतना समझो और सौजन्यता को अपना रोजा, तभी तुम सच्चे मुसलमान बनोगे। सदाचार को अपना काबा मानो, सत्य को अपना पीर, अच्छे कामों को अपना मजहब और नमाज और ईश्वर की इच्छा को अपनी माला, फिर ईश्वर तुम्हारे सम्मान की अवश्य रक्षा करेगा।[22A]

अन्य सन्त और हिन्दू-मुस्लिम एकता

बंगाल में मुस्लिम-विजय ने हिन्दू धर्म पर एक रोक लगा दी। हिन्दू जनता में मुस्लिम समागम का बंगाल में हिन्दू सम्प्रदायों पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। हिन्दुओं ने मुस्लिम दरगाहों पर मिठाइयाँ चढ़ाई और कुरान को देववाणी की तरह समझा। कुरान की प्रतियाँ प्रेतात्माओं को दूर रखने के लिए अपने पास रखीं तथा मुस्लिम त्यौहारों को अपनाया और मुसलमानों ने हिन्दुओं के कार्यों का उत्तर इसी प्रकार दिया। इस समागम से एक नये देवता की पूजा होने लगी

जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनों ने अपनाया और वह 'सत्यपीर' था। ऐसा अनुमान है कि गौड के शासक हुसैन शाह इसके चलाने वाले थे, अगर ऐसा है तो वह अकबर का अग्रगामी था।

परन्तु इस समागम से एक महापुरुष का जन्म हुआ, जिसका नाम चैतन्य महाप्रभु था। उनका जन्म 1485 ई० में नदिया (Nadia) में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का देहान्त इनके बचपन में ही हो गया था। उनकी माता ने उनको विद्यालय में भेज दिया, जहाँ उन्होंने व्याकरण और तर्क में निपुणता प्राप्त की। 18 वर्ष की आयु में उनकी शादी हो गई और 20 वर्ष की आयु में उन्होंने अध्यापक के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया। परन्तु कुछ समय पश्चात् उन्होंने घर छोड़ दिया और देश का भ्रमण किया, अपने भ्रमण के दौरान वे बहुत से साधुओं और फकीरों के सम्पर्क में आए।

चैतन्य के अनुसार पूजा, त्याग और प्रेम से परिपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति पूजा करने में सक्षम है, चाहे वह किसी भी जाति और धर्म का हो। चैतन्य के शिष्य हिन्दुओं के निम्न वर्ग में से तथा मुसलमानों में से भी थे, उनमें से तीन-रूप, सनातन, और हरिदास मुसलमान थे। बाद में चैतन्यवाद की एक शाखा कर्ता-भाज (Kartabhajas) हुई थी। इसके संस्थापक राम समरन पाल थे जो कर्ताबाबा के नाम से जाने जाते थे। उनके बाईस शिष्य थे। एक राम दुलाल था जिसमें मुस्लिम फकीर की आत्मा निवास करती थी। उन्होंने इस समुदाय का संगठन किया और गीतों के रूप में इसके नियम बनाए। इनके नियमों की मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

1. ईश्वर एक है जिन्होंने कर्ता (Karta) के रूप में अवतार धारण किया है।
2. महामाया अथवा आध्यात्मिक गुरु अवश्य होना चाहिए।
3. दिन में पाँच बार मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए जिससे मुक्ति मिल सके।
4. गोश्त और शराब से अलग रहना चाहिए।
5. शुक्रवार को पवित्र माना जाना चाहिए और यह दिन धार्मिक तपस्या और विवादों में बिताना चाहिए।
6. छोटी जाति और बड़ी जाति का कोई भेद नहीं है। हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई में कोई भेद नहीं है।
7. इस सम्प्रदाय को दिखाने के लिए कोई चिन्ह नहीं होगा। हिन्दू अपना जनेऊ पहने रह सकते हैं और मुसलमानों को बालों को चेहरे से पूर्ण रूप से कटाने की कोई आवश्यकता नहीं है।
8. भक्ति इस धर्म की आवश्यक क्रिया है।[23]

चैतन्य के उपदेशों का सार दो शब्दों में यह है कि "यदि कोई व्यक्ति

भगवान कृष्ण की उपासना करता है और गुरू की सेवा करता है तो वह माया के जाल से मुक्त हो जाता है और ईश्वर से एकीकृत हो जाता है।" चैतन्य ने ब्राह्मणों के धर्म के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड की भर्त्सना की है, चैतन्य में अपने ब्रह्म के प्रति उच्चतम श्रद्धा-भाव है, किन्तु उनका ब्रह्म उन समस्त विशिष्ट गुणों से पूर्ण है जो उनके अनुसार भगवान कृष्ण (जिनकी भक्ति के प्रसार का उन्होंने प्रयास किया) के व्यक्तित्व में अपने सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। कृष्ण भक्ति में भाव-विभोर होकर गाने-नाचने के भाव में कुछ-कुछ सूफियों जैसी आनन्दातिरेक की अवस्था पैदा होती थी जिसमें ब्रह्म की आनन्द कला का अनुमान किया जा सकता था।

चैतन्य महाप्रभु के आधारभूत सिद्धान्तों में से एक के भावार्थ के अनुसार भक्ति वह भावावेश की स्थिति है जिसमें निमग्न होने पर भक्त जाति, धर्म, कुल, गोत्र तथा साम्प्रदायिकता की संकुचित भावना से मुक्त होकर जीवन की उदात्त भाव-भूमि पर विचरण करने लगा है।[24]

13वीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों ने दक्षिण में विजय प्राप्त करनी प्रारम्भ की। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक पूर्ण रूप से दक्षिण को अपने अधीन कर लिया और स्वतन्त्र मुस्लिम शासन की स्थापना कर ली। अपने समकालीन बंगाल के शासकों की भाँति बहमनी शासकों ने साहित्य और कला को बढ़ावा दिया। मराठी भाषा आदिलशाही और कुतुबशाही राजदरबारों में प्रयोग की गई। मराठों को राजस्व अधिकारी तथा सेना नायकों के रूप में भर्ती किया गया। कुतुबशाह सभ्यता का संरक्षक था और स्वयं एक कवि भी था और उसने दक्षिणी भाषा में विस्तार से लिखा। दक्षिणी भाषा हिन्दी और फारसी का सम्मिश्रण थी। हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल-जोल से महाराष्ट्र में वही सभ्यता जन्मी जैसी हिन्दुस्तान और बंगाल में जन्मी थी। मराठी सन्तों और भजन गाने वालो ने दोनों धर्मों में उसी प्रकार मेल-मिलाप किया जिस प्रकार उत्तर में कबीर और नानक ने किया था। रानाड़े के शब्दों में "मुसलमानों के ऐकेश्वरवाद की भावना ने कबीर, नानक आदि के मस्तिष्क पर पूर्ण प्रभाव डाला। दत्रात्रेय के पूजक अथवा हिन्दुओं के अवतारों ने अपने देवताओं को मुसलमान फकीरों की भाँति वस्त्र पहनाए। इसी तरह का प्रभाव महाराष्ट्र में भी दिखाई पड़ता है जहाँ ब्राह्मण और गैर ब्राह्मण प्रचारक राम और रहीम में एकरूपता का प्रचार कर रहे थे और धार्मिक कर्मकाण्डों तथा जाति के बंधनों से छुटकारा पाने की कोशिश कर रहे थे और मानव को एक सामान्य प्रेम में बाँधने तथा ईश्वर में विश्वास रखने का प्रचार कर रहे थे।"

भक्ति-आन्दोलन का जो प्रभाव महाराष्ट्र में पड़ा उसके विषय में रानाडे के विचार इस प्रकार हैं 'वर्नाकूलर साहित्य का बिकास हुआ, जाति की जटि-

लता में परिवर्तन हुआ, गृहस्थ जीवन में पवित्रता बढ़ी, स्त्रियों का स्तर ऊंचा उठा, मानवता के प्रति सहनशक्ति का प्रसार हुआ और आंशिक रूप में इस्लाम से समझौता हुआ।"[25]

दत्त सम्प्रदाय

दत्तावतार की चर्चा शिव, हरिवंश एवं मार्कण्डेय आदि पुराणों में मिलती है। दत्तात्रेय अमर हैं—ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता है। नाथ-पंथियों में दत्त सिद्धि-प्रदाता, दिगम्बर और अवधूत कहे गये हैं और महानुभावों में पंचकृष्णों में दत्त एक माने गये हैं। महानुभावों में दत्त देहावतार नहीं ईश्वरावतार हैं। फिर भी ये समन्वयवादी देवता होने के कारण कई सम्प्रदायों में पूजित हैं। दत्त-पंथ का मूल तत्व अद्वैत की पृष्ठभूमि में समन्वयवादी दत्तात्रेय की प्रतिष्ठा होने से इस पथ का प्रचार देश के विविध भागों में विविध रूपों में पाया जाता है। विदर्भ में इसका विशेष प्रचार है। डा० भण्डारकर के अनुसार दशावतारों में सबसे अधिक पूजा दत्तात्रेय की होती है। रामकृष्ण आदि की उपासना का क्षेत्र भी व्यापक है, किन्तु उनकी उपासना के बीच उनके अवतारी पुरुषत्व में न होकर उनमें निहित आकर्षण में है।

कहा जाता है कि 15वीं शताब्दी में सत्पुरुष श्रीपाद वल्लभ ने दक्षिण में इस उपासना का फिर से संगठन किया और उसके बाद नरसिंह सरस्वती ने (सन् 1408-1458 ई०) उसका विकास किया। नरसिंह सरस्वती का जन्म विदर्भ के प्रसिद्ध कारंजा नगर में हुआ था। नरसिंह स्वामी का मूल नाम शालिग्राम और व्यावहारिक नाम नरहरि था। यही नरहरि आगे चलकर नरसिंह सरस्वती कहलाए। इनके गुरु काशी के श्रीकृष्ण सरस्वती थे। नरसिंह सरस्वती ने वर्णाश्रम व्यवस्था पर अत्यधिक ज़ोर दिया। दूसरी ओर उनमें सहिष्णुता की भावना भी कूट-कूटकर भरी थी। वे हिन्दुओं और मुसलमानों के समान रूप से प्रिय थे। नरसिंह सरस्वती के पश्चात उनके सप्त शिष्यों ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया। इस सम्प्रदाय में अनेक श्रेष्ठ योगी हुए। दत्त उपासकों में कतिपय मुसलमान भी थे।

मूसा सुहागिया

सूफियों का एक ऐसा सम्प्रदाय भी है जो परमात्मा को पति मानता है। इस सम्प्रदाय ता नाम "मूसा सुहागिया" है। ये बे-शरा सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक मूसा शाही सुहाग थे जो ईस्वी सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुए। कहते हैं कि अहमदाबाद में एक बार अनावृष्टि हुई। उन्होंने परमात्मा से प्रार्थना की—'ऐ मेरे पति, अगर अभी तुरन्त वर्षा नहीं भेज रहे हो तो सुहागिन के इन सभी आभूषणों को मैं दूर कर दूंगी।' कहते हैं कि

इस सम्प्रदाय वाले स्त्री वेष में रहते हैं और चूड़ियाँ आदि पहनते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गुलाम हुसैन एलिचपुरी के काव्य में जो जीवात्मा को दुल्हन एवं परमात्मा को प्रियतम माना गया है वह सर्वथा भारतीय रंग का परिचायक है।

डा० नत्थूलाल गुप्ता के अनुसार ग्राह्य मानता के साथ सूफियों का फारसी रंग बहुत कुछ उतरता गया और भारतीय रंग गहरा होता गया। अठ्ठारहवीं शताब्दी और उसके बाद में चिश्ती सम्प्रदाय का जो स्वरूप मिलता है वह न्यूनाधिक मात्रा में भारतीय ही है।

सारांश—जहाँ तक साम्प्रदायिक विश्वासों एवं धार्मिक तत्वों का प्रश्न है किन्हीं दो पंथों के बीच कोई-कोई व्यावर्तक रेखा नहीं खींची जा सकती। अनेक तत्व दो सम्प्रदायों में समान रूप से मिलते हैं। प्रत्येक पंथ अपने पूर्ववर्ती पंथों का किसी न किसी रूप में ऋणी होता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। "सच तो यह है कि हमारे देश के विभिन्न मत-सम्प्रदाय एक-दूसरे के इतने सन्निकट हैं कि वे परस्पर आचार-विचार का आदान-प्रदान करते रहे हैं। प्रत्येक नूतन सम्प्रदाय अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायों का किसी न किसी रूप में ऋणी रहता आया है। नया मत ग्रहण करते समय जनता अपने पूर्व विश्वास और आचार-धर्म को शत-प्रतिशत नहीं त्याग पाती। प्राचीन संस्कारों के प्रति मानव की सहज ममता रहती है।"

प्रतीकों के प्रयोग, शब्द-गुम्फन, प्रतिपाद्य आदि के द्वारा बरार के सूफी शायरों की राष्ट्रीयता तथा भावनात्मक एकता की भावना सुस्पष्ट हो जाती है। नवाब गाजी नागपुर-छावनी) के शब्दों में इन शायरों के विचार-सार को निम्नलिखित शब्दों में रखा जा सकता है—

क्यों दीन को धर्म से अलग पाता है।
मस्जिद मन्दिर में किसका नाता है॥
मुस्लिम मौला कहे कि हिन्दू भगवान।
क्या मालिक नाम से बदल जाता है॥
दोनों बन्दे दोनों का एक खुदा।
हक तक न पहुँच सके जुज इमानो हुदा॥
अखलाको तात पे मदारे मजहब।
नादाँ न समझ शेखों बरहमन को जुदा। (लेखक का निवेदन)

दक्षिण में बहीराम भट्ट (Bahiram Bhat) ने दो बार अपना धर्म सत्य की खोज के लिए बदला जिससे उसके मन को शान्ति मिल सके। धर्म के इस परिवर्तन के लिए हिन्दू तथा मुसलमानों ने उसे दोषी ठहराया परन्तु उसने दोनों धर्मों—हिन्दू तथा इस्लाम को छोड़ने की घोषणा कर दी।

शेख मुहम्मद के अनुयायी जो भक्त बन गये थे, वे रमजान और एकादशी दोनों व्रतों को रखते थे और मक्का तथा पंढारपुर (Pandharpur) दोनों तीर्थ-स्थलों की यात्रा करते थे।[26]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन एक अत्यन्त व्यापक आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ, जिसने सम्पूर्ण देश को सांस्कृतिक एकता के रूप में बांधने का कार्य किया। देश के विभिन्न भागों में फैले हुए पूरे के पूरे भक्ति आन्दोलन में ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण की भावना अत्यन्त व्यापकता के साथ विद्यमान थी। साथ ही यह आन्दोलन आंतरिक रूप से वैविध्यपरक था और इसमें हमें दो भिन्न-भिन्न धारणाएं दृष्टिगोचर होती हैं— (1) निर्गुण सन्त परम्परा (2) सगुण सन्त परम्परा। निर्गुण भक्तिधारा के सन्तो में कबीर और गुरु नानक का नाम प्रमुख है। इन निर्गुण सन्तों ने जात-पात तथा साम्प्रदायिकता का खण्डन करते हुए हिन्दू और मुसलमानों के लिए समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। समन्वय से तात्पर्य दो या दो से अधिक अलग-अलग विचारधाराओं के बीच एक ऐसी समानता का प्रतिपादन करना होता है जिसके कारण उनका आपसी विरोध कम हो और उनमें मौलिक एकता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगें। समानता में निर्गुण सन्तों ने, जैसे कबीर और गुरु नानक ने ईश्वर की एकता के बल पर हिन्दुओ और मुसलमानों के बीच समानता का प्रतिपादन करते हुए पारस्परिक विरोध को कम करने का प्रयास किया।

भक्ति-आन्दोलन के संत सच्चे तौर पर साधक थे ईश्वर प्रेम के। सन्तों के हृदय में शायद यह विचार ही न रहा हो कि वे अभिनेता या धर्म-संस्थापक होकर समाज की खाइयों को पाटना चाहते थे। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति था और उन्होंने इसके रास्ते में आने वाले बन्धनों चाहे वे धर्म, समाज, वर्ग अथवा साम्प्रदायिकता के ही क्यों न हों, का डटकर मुकाबला किया। सन्तों को समाज की आर्थिक व धार्मिक विषमताएं असहनीय थी क्योंकि उन्होंने मानवीय एकता को पहचान लिया था। धर्म को वर्ग विशेष की पैतृक सम्पत्ति समझने वाले ब्राह्मणों और मुल्लाओं से लोहा लेकर जन समाज तक पहुंचाने का श्रेय सन्तो को ही है। विरोध उन्होंने व्यक्ति विशेष का नही अपितु उसकी बुराइयों का किया। उन्होंने न केवल जन समाज को ईश्वर के प्रेम से प्रेरित कर नवीन स्फूर्ति ही प्रदान की बल्कि मध्यकालीन भक्तों ने सफलतापूर्वक समाज और धर्म से बनी खाइयों को अपनी मधुर वाणियों से पाटा तथा व्यक्तिगत चरित्र चिंतन को सामाजिक व धार्मिक परम्पराओं से अधिक महत्व दिया।

कहा जा सकता है कि कुछ सीमाओं के बावजूद इस आन्दोलन की उपलब्धियां विलक्षण थीं। अपने संदेश के माध्यम से वे समाज के शान्तिपूर्ण रूपां-

तरण के लिए आधार प्रस्तुत कर रहे थे। पूजा-अर्चना-पद्धति का सरलीकरण करके तथा जाति-व्यवस्था की जटिलता को समाप्त करके वे धर्म को वैयक्तिक अनुभव का विषय बनाने का प्रयास कर रहे थे। ईश्वर के प्रति आस्थावान प्रत्येक व्यक्ति इसमें शामिल हो सकता था। यह सच बात है कि महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब तथा बंगाल में धर्मोपदेश के अलग-अलग प्रयासों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के प्रतिकूल स्वरूप का परिशोधन किया गया। 14वीं शताब्दी से ही हिन्दू-मुस्लिम धर्मों के उन तत्वों का तर्कसंगत विरोध आरम्भ हो गया जो साम्प्रदायिक सामंजस्य तथा स्वाभाविक सहानुभूति के मार्ग में बाधा-स्वरूप खड़े थे।

सन्तों के इस संदेश का जनता में काफी स्वागत हुआ। बाबर ने इस विशिष्ट हिन्दुस्तानी ढंग को देखा, सराहा और अकबर ने इस भावना को आगे बढ़ाया। निश्चित ही मुगलों ने ऐसे देश पर शासन किया था जिस पर सन्त-वाणी के प्रभाव की स्पष्ट छाप थी। जैसा कि डा० ताराचन्द ने बड़े ही सुन्दर ढंग से कहा है; "अकबर का दीन-ए-इलाही किसी निरंकुश शासक की ऐतिहासिक सनक नहीं थी बल्कि यह उन अवश्यम्भावी शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम था जो भारत के जनमानस में सागर की तरह उमड़ रही थी और जो कबीर तथा नानक जैसे सन्तों की वाणी में मुखरित हो रही थी।"[27]

डा० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार हिन्दुओं और मुसलमानों का सम्पर्क में आना अनिवार्य था। समय पाकर प्राचीन कटुता दूर हुई; दोनों पक्ष के सुसंस्कृत व्यक्ति कुछ-न-कुछ पारस्परिक सामंजस्य और समन्वय की इच्छा करने लगे। जो सर्व-प्रथम भारत में आये, वे अपने साथ अपनी स्त्रियों को नहीं लाये थे। उन्होंने यहीं विवाह कर लिया था। फलतः उनकी संतान के स्वभाव और भावनाओं में तुर्कीपन कम और भारतीयता अधिक आ गई थी। भारतीय स्त्रियों ने तुर्की घरानों पर अधिकार कर लिया और भावी मुसलमानों के चरित्र और आचरण को बहुत कुछ प्रभावित किया और उनमें महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। हैवेल ने कहा है कि—"भारतीय माता की परम्परागत कोमलता और वात्सल्यता ने भ्रमणशील तुर्क और मंगोलों के हृदय को बहुत कुछ कोमल कर दिया।" सौहार्द्र की इस प्रक्रिया में कुछ अन्य बातों ने भी सहायता की। कहीं-कहीं हिन्दुओं को राजाश्रय और सहानुभूति भी प्राप्त हुई; जिससे उनके हृदय में सद्‌भावनाओं की जाग्रति हुई और हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सामाजिक संबंध बढ़ गये। मुसलमान भी समझ गये कि हिन्दूओं को पूरे रूप से कुचलना असम्भव है और हिन्दुओं को भी मन्द तथा कटु अनुभव द्वारा यह प्रतीत होने लगा कि ऐसे शत्रुओं के साथ निरन्तर युद्ध करने में कोई लाभ नहीं जो देश में स्थाई रूप से बसने के लिए आ गये हैं। जिन हिन्दुओं को राजनीतिक दबाव अथवा आर्थिक

संकट के कारण अपना धर्म छोड़ना पड़ा था, उनकी प्राचीन प्रथाएं तथा आदतें वैसी ही बनी रहीं। मुसलमानों से उनका सम्पर्क होने के कारण दोनों धर्मों का पारस्परिक आदान-प्रदान चलने लगा और दोनों पक्षों की कटुता तथा कट्टरता कम होने लगी। इन दोनों जातियों में सहानुभूति उत्पन्न हो गई और फलतः इससे उन शक्तियों को सहायता मिली जो दोनों धर्मों को एक-दूसरे के निकट ला रही थीं।

हिन्दुओं के निम्न श्रेणी के लोगों को इस्लाम में उन्नति तथा सामाजिक समानता तथा न्याय की एक नवीन आशा दिखाई पड़ने लगी। उनके हृदय में इसके प्रति कोई वैराग अथवा घृणा की भावना नहीं थी। इसके साथ उत्तरी भारत में पाकपाटन के फकीर शकरगंज तथा दिल्ली के निजामुद्दीन औलिया और दक्षिण भारत में गेसूदराज आदि फकीरों का प्रभाव पड़ रहा था। उनके शिष्य हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। उनके उपदेश जाति-पांति तथा ऊंच-नीच के बिना किसी भेद-भाव के सबके हृदय पर प्रभाव डालते थे, उनके सामने सभी भेद-भाव मिट जाते थे और उनके सभी शिष्य पारस्परिक सहानुभूति के नवीन बंधन से बंध जाते थे।

ऐकेश्वरवाद को प्रधानता देकर मुसलमानों ने हिन्दुओं में एक नवीन भावना उत्पन्न कर दी। यद्यपि ईश्वर की एकता की भावना हिन्दुओं के लिए नवीन न थी परन्तु इस्लाम में इस तत्व की प्रधानता होने के कारण नामदेव, रामानन्द, कबीर, नानक आदि सन्त उपदेशक इससे बड़े प्रभावित हुए। इन सन्तों में हिन्दू और मुसलमान धर्मों का बहुत सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। मुसलमान धर्म की सादगी और केवल एक ही ईश्वर के प्रति उनकी निष्ठा से प्रभावित होकर उन्होंने मूर्ति-पूजा तथा जाति-पाति को छोड़ दिया। उन्होंने उपदेश दिया कि कर्मकाण्ड तथा निरर्थक पूजावादियों में सच्चा धर्म नहीं है। उन्होंने बतलाया कि भक्ति ही कर्म का मूल तत्व है। रामानुज के पश्चात् जो सन्त हुए उनके प्रभाव से भक्ति का प्रचार बहुत कुछ बढ़ गया। चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के धर्म की बागडोर उन्हीं के हाथों में रही।[28]

संदर्भ

1. डा० ताराचन्द : इन्फ्लूएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कलचर, पृ० 144, 45।
2. श्री हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत पृ० 473।
3. डा० ताराचन्द : इन्फ्लूएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कलचर, पृ० 178, 79।

4. वही, पृ० 159, 61 ।
5. वही, पृ० 164, 165 ।
6. उर्वशी सूप्ती : कबीर-जीवन और दर्शन पृ० 22 ।
7. वही, पृ० 35 ।
8. वही, पृ० 55, 56 ।
9. वही, पृ० 60, 61 ।
19. वही, पृ० 146 ।
11. वही, पृ० 149 ।
12. वही, पृ० 167, 68 ।
13. वही, पृ० 178 ।
14. डा० कमरुद्दीन : इस्लाम एण्ड दी माडर्न एज (क्वाटरली जनरल-वाल्यूम III नं० 1 फरवरी 1972, पृ० 61) ।
15. वही, पृ० 67 ।
16. वही, पृ० 68-70 ।
17. वही, पृ० 71-72 ।
18. श्री हरीशचन्द्र वर्मा . मध्यकालीन भारत, पृ० 474 ।
19. पं० जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी : संक्षिप्त, पृ० 185-86 ।
20. डा० जयराम मिश्र : गुरुनानक देव : जीवन और दर्शन, पृ० 90-92-, 104-108, 139, 143, 152, 161-177, 193, 208-18,- 225-27, 231, 335-38 ।
21. श्री हरीशचन्द वर्मा : मध्यकालीन भारत 476 ।
22. डा० ताराचन्द : इन्फ्लूएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कलचर, पृ० 168-77 ।
22. A—भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० 218 ।
23. वही, पृ० 218-20 ।
24. श्री हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 479 ।
25. डा० ताराचन्द : इन्फ्लूएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कलचर, पृ० 220-22 ।
25. A—बरार के सूफी शायर, पृ० 16, 19, 18, 25 ।
26. ताराचन्द : एन्फ्लूएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कलचर, पृ० 225
27. श्री हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 480-82, 85 ।
28. डा० ईश्वरी प्रसाद : मध्लकालीन भारत का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 243, 44 ।

अध्याय-10

सूफीमत और हिन्दू-मुस्लिम एकता

सूफीमत क्या है ?

कुछ विद्वानों के अनुसार "अपने हृदय की पवित्रता (सफ) और कार्यों की स्वच्छता के कारण उनका नाम सूफी पड़ा।" बिशर इब्न-अल-हरीथ (Bisher Ibanal Harith) के अनुसार "सूफी वह है जिसका हृदय खुदा की ओर शुद्ध (सफ) हो।' सूफी वह हैं जिसके आचरण खुदा की ओर शुद्ध हों और उसकी ओर खुदा का आशीर्वाद भी शुद्ध हो। लेकिन अगर सूफी शब्द की व्युत्पत्ति सफा से हुई है तो वास्तविक शब्द सफाली होना चाहिए न कि सूफी।

दूसरे विद्वानों के अनुसार सूफियों को सूफीवादी इसलिए कहा गया है कि वे खुदा के यहाँ पहली पंक्ति सफ (Saff) में हैं, यह कार्य वह उसकी ओर अपनी इच्छाओं से ऊपर उठकर अपने हृदय को उसकी ओर करके और अपने गुप्त अंगों को उसके सामने स्थिर रखकर करते हैं।

दूसरे विद्वानों ने कहा है "वे इसीलिए सूफी कहलाये क्योंकि उनके गुण उन व्यक्तियों के समूह से (असा-अल-सुफा (Asha-al-Suffa) से मिलते थे जो पैगम्बर के समय में रहते थे। उन्होंने इस संसार को छोड़ दिया, अपने घरों को छोड़ दिया और अपने साथियों को छोड़कर भाग गये। उन्होंने नंगा और भूखा रहने में ही संसार में अच्छाइयां देखीं। उनमें से एक से पूछा—"सूफी कौन है ?" उसने उत्तर दिया, "वह है जिसने कुछ प्राप्त नहीं किया था और न प्राप्त करता है।" इससे उसका अर्थ है कि वह इच्छाओं का गुलाम नहीं था। दूसरे ने कहा कि "सूफी वह है जो कुछ प्राप्त नहीं करता अथवा वह अगर कुछ प्राप्त करता है तो उसे खर्च कर देता है।"

अन्य विद्वानों के अनुसार वे सूफी इसलिए कहलाए कि वे सफ अर्थात् ऊन

पहनने थे । "वे मुलायम अथवा सुन्दर पोशाक नहीं पहनते थे जिससे आत्मा को प्रसन्नता प्राप्त होती थी । वे केवल अपने शरीर के नंगेपन को ढकने के लिए मोटे बालों के कपड़े अथवा मोटी ऊन का कपड़ा पहनते थे ।"

इब्न खलदून (Iban khaldun) का भी यही मत है कि सूफी शब्द सफ से बना है । परन्तु यहां यह स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी को सूफी कहने के लिए मोटे बाल के कपड़े और मोटी ऊन पहनना ही केवल काफी नहीं है । जैसे कि हुजवीरी (Hujwiri) ने कहा है कि "पवित्रता (सफ) ईश्वर की देन है और ऊन (सफ) एक पशु की उचित गणवेश (Dress) है ।"

अबुअली कजबीनी (Abu Ali kazwini) के अनुसार "सूफी रूप अच्छे आचरण हैं ।" मुहम्मद अल-जुरायरी (Muhammad-al Jurayri) ने कहा है, "सूफीवाद अच्छी आदतों का निर्माण करता है और मन को सभी बुरी इच्छाओं और लालसाओं से दूर रखता है ।" मुहम्मद बिन-अल-कसाब के अनुसार "सूफीवाद अच्छे आचरण हैं जो एक अच्छे व्यक्ति द्वारा एक अच्छे समय में एक अच्छे राष्ट्र में प्रदर्शित किये जाते हैं ।"

इस्लाम में सूफी मत का विकास किसी धर्म में होने वाले रहस्यवादी आन्दोलन की सफलता तथा लोकप्रियता का महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प इतिहास है । जहाँ तक रहस्यवाद का सवाल है आरबेरी (Arberry) के शब्दों में "यह वह भावना है जो हमेशा से प्रकृति के रहस्यों को जानने के लिए मानव को प्रेरित करती रही है ।"[1]

सूफी सहायक को ब्रह्मज्ञानी तथा अध्यात्मवादी माना जाता रहा है । वैसे भी "सूफी" वही कहलाता है जो तसव्वुफ का अनुयाई और सारे धर्मों से प्रेम करने वाला होता है । विद्वानों ने अनेक दृष्टिकोणों से सूफी शब्द को व्युत्पन्न करने का प्रयास किया है । सफ का एक अर्थ है ऊन या बकरी या भेड़ के बाल का ऊनी कपड़ा, अतः जो सफ के बने वस्त्र पहनता था वही सूफी कहलाया । कुछ विद्वान (सफा) से सूफी शब्द की उत्पत्ति मानते हैं । "सफा" का अर्थ है— "पवित्रता" या विशुद्धता अर्थात् जो लोग आचार-विचार से पवित्र होते थे वे सूफी कहलाये । विद्वानों के एक वर्ग का मत यह भी है कि मदीना के मुहम्मद साहब द्वारा बनवाई मस्जिद के बाहर सफा अर्थात मक्के की एक पहाड़ी पर जिन व्यक्तियों ने शरण ली, खुदा की आराधना में लीन रहे वे सूफी कहलाए । जो भी हो यह सच है कि "साधक" के लिए सूफी शब्द का प्रयोग ईसा की नवीं शताब्दी से प्रचलित होने का प्रमाण मिलता है । ये सूफिया सूफी-मनीश होते थे अर्थात् किसी भी धर्म या व्यक्ति से बैर न रखने वाले थे ।

वास्तव में सूफी दार्शनिक अपने लक्ष्य के प्रति सजग थे । उन्हें ध्यान था कि वे किसी नये धर्म को स्थापित नहीं कर रहे अपितु एक नवीन आन्दोलन

की भूमिका तैयार कर रहे हैं जिनके अन्तर्गत उन्हें इस्लामी ढांचे को साथ मिलाकर नये प्रकार की आस्था को ही प्रतिष्ठित करना है। अपने लक्ष्य के औचित्य को सिद्ध करते हुए उन्होंने कुरान की नये ढंग से व्याख्या की तथा उसमें ऐसे अनेक आधारों को पाया जिससे उनके रहस्य पर विश्वास को पूरा बल मिला। वास्तव में, रहस्यवाद के बीज कुरान में ही विद्यमान थे। मुहम्मद साहब के जीवन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वे संसार से विरक्त होकर प्रायः गहन चिन्तन में निमग्न हो जाया करते थे।

सूफी मत के इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि इसके विकास काल से ही एकान्त वास तथा पवित्र जीवन की भावना का प्रवेश हुआ है। आरम्भिक सूफी ईश्वर के प्रेम में मग्न रहते थे। सूफी चिन्तक इस्लाम का अनुसरण करते थे परन्तु वे कर्म-काण्ड के विरोधी थे। उनमें धीरे-धीरे स्वतन्त्र विचारधारा का विकास हुआ। परिणाम यह हुआ कि इस्लाम की शिक्षाओं को वे अनुभव और तर्क की कसौटी पर कसने लगे। इब्नुल अरबी प्रथम व्यक्ति था जिसने सूफी जगत में महत्वपूर्ण वहादत-उल-वुजूद (Wahadat-ul-Wujud) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त का सारांश यह है कि भगवान सर्वव्यापक है है और सब में उसी की झलक है। उससे कुछ भी अलग नहीं है। सभी मनुष्य समान हैं। इस प्रकार इब्नुल अरबी ने अपनी वाक्शक्ति और लेखनी द्वारा इस मत के विकास में जो महत्वपूर्ण योग दिया है, वह सूफी मत के इतिहास में सदैव चिरस्मरणीय रहेगा।

भिन्न-भिन्न देशों में विकसित होता हुआ सूफी मत भारत में प्रवेश करता है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में सूफी खानकाहों का जोर भारत के कई भागों में फैल रहा था। मुल्तान, पंजाब, दक्षिण भारत, कश्मीर तथा देश के पूर्वी भागों में सामाजिक और आर्थिक प्रभाव बढ़ रहा था। अफगानिस्तान के रास्ते अनेक सूफी सिलसिलों से सम्बन्ध रखने वाले लोग भारत में आए। ये लोग स्वेच्छा से ही भारत आये थे, किसी संस्था के आदेश पर नहीं। ईश्वर तथा मानव-सेवा उनका ध्येय था तथा उनका जीवन पवित्र था। उनके पवित्र आचरण ने भारत की जनता को शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।[2]

सूफी मत एक जटिल चमत्कार है। यह एक स्रोत के समान है जिसमें इस संसार की भूमि की बहुत-सी नदियों से जल इकट्ठा होता है। इसका मूल स्रोत कुरान है। ईसाई धर्म और नया प्लेटोवाद भी इसी की देन है। इसमें हिन्दू-धर्म तथा बौद्ध-धर्म से बहुत से विचारों को लिया गया है। कुछ जरस्थुवाद बातें तथा मनीवाद (Maniwad) से ली गई है। भारत का व्यापार फारस तथा इराक से होता था। भारतीय दार्शनिक विचार भी वहाँ पहुँचे। बसरा में उम्मेदी खलीफाओं के काल में बहुत से भारतीय उनके राजस्व

विभाग में कार्य करते थे। खलीफा मुवीया (Mauwiya) ने सीरिया में एन्टीओच (Antioch) में भारतीयों के लिए एक बस्ती बनवाई थी। इसी प्रकार हज्जाज (Hajjaj) ने कासगर में एक बस्ती बनाई थी। काली आँखों तथा गेहुँआ रंग के हिन्दू खलीफा के राज्य में मुसलमानों के विरुद्ध कार्य कर रहे थे। उनके साम्राज्य के पूर्व में अर्थात् खोरासान, अफगानिस्तान, सीस्तान और बिलोचिस्तान में इस्लाम धर्म स्वीकार करने से पहले हिन्दू अथवा बौद्ध रहते थे। बल्ख में बहुत से बौद्ध-विहार थे। उनके अधीक्षक बरमक(Baramak) के नाम से जाने जाते थे। उनके परिवार के व्यक्ति अब्बासी खलीफाओं के प्रसिद्ध बरमिक वजीर थे।

इसके पश्चात् अरब वालों ने भारतीय विज्ञान और साहित्य के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने बौद्ध-धर्म की पुस्तकों का अनुवाद किया, उदाहरणार्थ—किताब-बुद (kitabal-Bud) और बिलावहर-वा-बुदासिक (Bilawhar-wa-Budasik) नक्षत्र विद्या तथा औषधि में सिन्दहिन्द (Sindhind) सिद्धान्ता (Sidhanta) शुशरूद (Shushrud), सुसरूता (Susruta) और सिराक (Sirak) चरक (Charak), कहानी की पुस्तकें जैसे कलीलाह दयनाह अर्थात पंचतन्त्र और किताब सिन्दबाद नैतिक पुस्तक शनक (Shanaq) चाणक्य (Chanakya) और हितोपदेश, तर्क तथा सैनिक विज्ञान पर भी पुस्तक लिखीं। जिन भारतीयों के सम्पर्क में मुसलमान आये उनसे उन्होंने भारतीय रीति-रिवाज, आचार व्यवहार, विज्ञान और धर्म के विषय में जानकारी प्राप्त की। अलकिन्डी (Al kindi) ने भारतीय धर्म, सुलेमान और मसुदी ने भारतीय दर्शन पर अपनी यात्राओं के दौरान सूचनाएँ इकट्ठी कीं। अल-अश-अरी (Al-Ash-Ari) अलबरूनी शाहरसतानी और बहुत से दूसरों ने अपनी-अपनी पुस्तकों में भारतीय धर्म और दार्शनिक प्रणाली का वर्णन और व्याख्या की है।

महात्मा बुद्ध का वर्णन मुस्लिम साहित्य में एक संत के रूप में मिलता है। मुस्लिम दार्शनिकों ने महात्मा बुद्ध की व्याख्या इब्न आदम की तरह की है। भारतीय सन्त जो मिलकर भ्रमण करते थे, जो एक स्थान पर दो रात से अधिक नहीं ठहरते थे—उनसे मुसलमानों ने चार शपथ सीखीं जैसे—सफाई, पवित्रता, सत्य और गरीबी तथा गुलाब की वाटिका का प्रयोग भी सीखा। यह कितने आश्चर्य की बात है कि निर्वाण, अष्टमार्ग, योग का अभ्यास तथा तान्त्रिक शक्तियाँ प्राप्त के विचार इस्लाम में फना, तरीका अथवा सलूक, मराकाबाह और करामात अथवा मुजीजा (Fana Tariqua or Saluk, Maraqabah and karamat or Mujiza) है।[3]

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि हिन्दुओं और सूफियों की विचारधारा में आपस में बहुत एकता थी।

मन्सूर ने ईश्वर का सम्बन्ध मानव से जैसे मानव आत्मा में दैवी शक्ति के प्रवेश की हिन्दू विचारधारा, पुरुष मे बुद्धि का जागरण हो की बात से मेल खाता है।[4]

पूर्णावस्था (Perfect on) में मनुष्य खुदा का रूप (Nuskha) है। वह खुदा के लिए दर्पण है जिसमें उसका नाम तथा गुण दिखाई देते है। वह प्रकृति का रचयिता है खुदा और संसार के बीच मध्यस्थता है। सूक्ष्ममूर्ति है जिसमे पूर्णावस्था प्रत्येक भाग में चेतनावस्था में आती है। वह वास्तविकता और बाह्य रूप को मिलाने वाला सिद्धान्त है। इस धुरी (Qutb) के चारों ओर सत्ता (Existance) चक्कर लगाती है वह पहली रूह (Ruh) है जिसमें खुदा अपना सन्देश देता है। वह हकीकत अल-मुहम्मादियाह (Hakikat-al-Muhammadiyah) है और उसका नाम अमर-ई-अल्लाह (Amar-i-Allah) है। रूह के विषय में जिली (Jili) कहता है "मैं (रूह) बच्चा हूँ, जिसका पिता उसका पुत्र है और शराब, जिसकी अंगूर की बेल जार है। मैं उन माताओं से मिला, जिन्होंने मुझे पैदा किया और मैंने उनसे शादी के लिए पूछा और उन्होंने मुझसे शादी करने दी।" (i) इस तरह के उदाहरण वैदिक विश्व विज्ञान (Cosmologies) में प्रदर्शित हैं जहाँ आदित्य को माता कहकर पुकारा जाता और साथ ही अपने पुत्रों की पत्नियाँ भी कहा जाता है।[5] जिली (Jili) हिन्दू-धर्म से परिचित था। दस प्रमुख मतों में उसने ब्राह्मण (Brahman) को अंकित किया। उनके विषय में वह कहता है कि बिना किसी पैगम्बर और देवता का उच्चारण किये वे पूर्णावस्था रूप (Absolute aspact) में पूजे जाते हैं। उसके अनुसार ब्राह्मणों के शास्त्र उनको खुदा के द्वारा नहीं बताये गये हैं। लेकिन इब्राहीम (Ibrahima) द्वारा बताये गये हैं। उनकी पाँच पुस्तकें हैं; परन्तु पांचवीं पुस्तक के ज्ञान (Profundity) के विषय में बहुत से ब्राह्मण अनभिज्ञ थे। किंतु जिन्होंने इसे लगातार अध्ययन किया वे मुसलमान बन गए। स्पष्ट रूप से जिली की पांचवी पुस्तक वेदान्त (Vedanta) है जिसका सतदर्शन जिली के दृष्टिकोण में इस्लाम से अलग न हो सका।

मुहम्मद साहब ने खुदा (इस्लाम) के प्रति समर्पण सिखाया। सूफीमत ने गुरु के प्रति समर्पण सिखाया, जो पृथ्वी पर खुदा का प्रतिनिधि है। सिखाने वाले का अनुशासनाधिकर (Dhikar) हैं, जिसका साधारणतया अर्थ खुदा का स्मरण करना है और उसके नाम को दोहराना है, परन्तु जिसमें सभी भक्ति-क्रियाएँ सम्मिलित हैं।

(i) "I (i.e. spirit) am the child whose father is his son and the wine whose vine is its Jar, I met the mothers who bore me and I asked them to marriage, and they let me marry them."

धिकर के दो प्रकार— धिकर-ई-जाली (Dhikar-i-Jali) या जोर से उच्चारण करना और धिकर-ई-खाफी (Dhikar-i-khafi) या मन ही मन उच्चारण करना है। मैलकाम और ब्राउन (Malcolm and Brown) के अनुसार ये क्रियायें भारतीय क्षेत्र की तपस्या और सांस लेने की क्रिया (प्राणायाम) से मिलती हैं।[7]

जो धर्म मुहम्मद ने फैलाया था, वह बहुत सरल था। इसमें कम से कम रीति-रिवाज और क्रिया-कलाप थे। कुरान के अनुसार इस्लाम मनुष्य पर बोझ कम और आसान करना चाहता है। इसके सिद्धान्तों की मुख्य बात ईश्वर की एकता और सबसे प्रमुख धार्मिक क्रिया प्रतिदिन के प्रार्थना-व्रत, दान देना हवन करना और मुहम्मद साहब को खुदा के पैगम्बर के रूप में मानना, धर्म के प्रमुख अंग थे। सामाजिक स्वर पर समानता और मुसलमानों में भाई-चारा उसकी प्रमुख विशेषता है। इस धर्म में धार्मिक कर्मकाण्ड कराने वाले व्यक्ति की अनुपस्थिति है। ईश्वर में एकता के सिद्धान्त से सभी देवी-देवता के पूजा का सिद्धान्त पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है। मुहम्मद साहब की मृत्यु के कुछ सालों के बाद इस्लाम सम्प्रदायों में बँटना प्रारम्भ हो गया। इस विभाजन का पहला कारण राजनीति थी। पहले सम्प्रदाय, जो जनता के सामने आये —खरीजिया, शिया मुरजिया और कादिरिया (kharajia Shiah, Murjia and Qadiriya) थे। शिया सम्प्रदाय शीघ्र ही फारस में फैला। अतिवादी शिया घुलत (Ghulat) कहलाते हैं और उनके सिद्धान्त हिन्दू धर्म से मिलते हैं जैसे वे आधिक्य (Ghulun) और न्यूनता (Taqśim) में विश्वास करते हैं। पहले के अनुसार मनुष्य खुदा के स्तर तक नीचे आ सकता है। इन सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप उन्होंने अपने नेताओं और मार्गदर्शकों को देवताओं के स्तर तक ऊँचा उठाया। तब वे विश्वास करते थे कि खुदा मनुष्य के रूप मे (Huul) पैदा हो सकता है वे तनसुख (Tanasukh) के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। वे तशबीह (Tashbih) बिदा (Bida) और रजा (Raja) में भी विश्वास करते हैं। ये अतिवादी सम्प्रदाय विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। परन्तु उनमें विशेष अली-इलाबहियास (Ali ilabiyas) है, जो अली को अवतार मानते हैं। वे मस्जिद में जाते हैं, बहु विवाह, तलाक में विश्वास नहीं करते हैं और विवाह के समय सभी पुरुषों को एक साथ नाचने की अनुमति नहीं देते हैं। वे एक खिदमत मानते हैं, उस समय सब एक साथ खाते हैं। भेड़ की बलि देते हैं और बड़े अवसरों पर सांड की भी बलि देते हैं। उनके विचारानुसार मनुष्य पर दो शक्तियाँ शासन करती हैं एक अकल और दूसरी लालसा (नफस)। यह सम्प्रदाय एक वंशानुगत पीर रखता है, जिसकी सहायता के लिए खादिम होते हैं।[8]

इसी प्रकार के क्रिया-कलाप हिन्दुओं में भी मनाये जाते हैं केवल उनमें नाम

का अन्तर है। हिन्दुओं में वंशानुगत कुल पुजारी होते हैं।

शियाओं में कुछ दूसरे हैं, जो कुरान का उच्चारण खुले वातावरण में जोर से नहीं करते।[9] इसी प्रकार हिन्दुओं में भी मन्त्रों का उच्चारण करना कुछ ब्राह्मणों द्वारा गुप्त रखा जाता है।

शियाओं में कुछ ऐसी धारणा है कि उनका कोई धार्मिक नेता होना चाहिए। अली के वंशज इमाम बन गए। उनके अनुसार इमाम कभी नहीं मरता अर्थात अमर है तथा सभी इमामों में अवतार रूप मिलता है। इस विश्वास के कारण वे उन्हें दैवीय सम्मान देते हैं।[10]

इसी प्रकार की धारणा हिन्दुओं में भी है कि ईश्वर समय-समय पर अवतार रूप लेकर संसार में आता है।

प्रारम्भ में शिया (Shiya) सम्प्रदाय के बाद सात और बारह (Seveuers and twelver) पैदा हो गए। पहले का संस्थापक अब्द-अल्लाह इब्न मैमुन (Abd Allah-Ibn Maymun) था जिसने अरबों की सर्वोच्चता को उखाड़ फेंका। उन्होंने बताया कि वहाँ सात पैगम्बर थे जिनके सात सहायक थे और प्रत्येक पैगम्बर और उसके उत्तराधिकारी के बीच सात इमाम थे और वह उनमें सातवां तथा सबसे महत्त्वपूर्ण था। अल्लाह ने इस संसार की रचना की, और वह ही इस पर शासन करता है। शियाओं के इस विश्वास में हिन्दुओं के ब्रह्मा (Brahma) और ईश्वर के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई देता है।[11]

हिन्दुओं के एक ईश्वर वादियों की भाँति अबुल हुडहेल (Abul-Hudhail) बताता है कि अल्लाह ज्ञाता (knowing) शक्तिशाली और प्यार करने वाला है परन्तु उसका ज्ञान, शक्ति और प्यार सूत (Dhat Essence) से निर्मित है। अल्लाह के गुणों का वर्णन नकारात्मक (Negative) में किया जा सकता है। मामार-इब्न-अब्दाद (Mamar ibn Abdad) के अनुसार खुदा के विषय में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। नाजम (Nazzam) के शिष्य इससे भी एक कदम आगे गये और सर्वशक्तिमान खुदा को स्वीकार किया जिसके विषय में कोई वर्णन नहीं किया जा सकता, जो संसार का रचयिता है तथा उस पर शासन करने वाला है।

अबुल-हसन-अल-अशअरी (Abul-Hasan-Al-Ash-Ari) के विचार दक्षिणपंथी तथा मुताजलीत (Mutazalites) के बीच के थे। इस विचारधारा को मानने वाले इनसे लगभग 100 वर्ष बाद अल गजाली (1057-1112) तुस (Tus) में पैदा हुए थे। यह मुसलमानों के धर्मशास्त्र के सबसे बड़े विचारक माने जाते हैं। इनके बचपन में ही इनके पिता की मृत्यु हो गई और इनका पालन करना एक सूफी मित्र द्वारा किया गया था। इन्होंने धर्मशास्त्र तथा धार्मिक

कानूनों का अध्ययन किया। परन्तु शीघ्र ही इससे अलग हो गये और तर्क विज्ञान, दर्शन तथा सूफी मत के अध्ययन में अपना समय लगाया। इनके ज्ञान की महिमा चारों ओर फैल गई और 1085 ई० में निजाम-उल-मुल्क ने इनकी नियुक्ति बगदाद में निजामिया एकादशी में करदी। दस वर्ष बाद इनको कुछ मानसिक समस्या हो गई और इन्हें बगदाद छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। ये 'नास्तिक' हो गये,' और उन्होंने धर्म में अपना विश्वास समाप्त कर दिया। उन्होंने परम्परावादियों द्वारा चलाई गई शिक्षा को अस्वीकार कर दिया क्योंकि उनके मत में यह मूर्खतापूर्ण थी परन्तु उन्हें कलाम (kalam) विज्ञान तथा दर्शन से भी सन्तोष नही हुआ, इसलिए वह संसार से अलग रहकर रहस्यवादी क्रियाओं में लग गये और अन्त में उन्हें शान्ति मिल गई जिसे वह चाहते थे। 1106 ई० में इन्हें निसापुर की एकादशी में नियुक्ति दे दी गई परन्तु उन्होंने शीघ्र ही इसे छोड़ दिया और तुए चले गए जहाँ उन्होंने एक मदरसा तथा एक खानकाह (Khanquah) बनाया। यहाँ इन्होने अपनी पुस्तक तीहाफतूल फिलसफा (Tihafatul Filsafa) लिखी जिसमें दर्शन का खण्डन था।

गजाली ने इस्लामी धर्म शास्त्र को महत्वपूर्ण देन दी। ज्ञान के सिद्धान्त मे उन्होंने तर्क के महत्व का खण्डन किया और हिन्दुओं की समाधि को धर्म का तथ्य माना। हिन्दू दार्शनिकों की भाँति उन्होंने बताया कि साधारण ज्ञान द्वारा ईश्वर के सम्बन्ध में कम ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि ईश्वर सम्पूर्ण है। वह उसके गुणों और प्रकृति के सम्बन्ध में सकारात्मक ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। उसे ईश्वर के चमत्कार पैगम्बर के रूप में अथवा व्यक्तिगत रूप पर निर्भर रहना चाहिए। यह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। वह बताता है कि ईश्वर को जानना सम्भव है क्योंकि ईश्वर की प्रकृति मनुष्य से अलग नहीं है तथा मानव देवी शक्ति का एक अंश है और मृत्यु के बाद वह देवी शक्ति के पास चला जाता है।[12]

उपर्युक्त विवरण में हिन्दू-मुस्लिम दार्शनिकों की विचारधारा में काफी समानता दिखाई देती है।

अबुल अला (Abul Ala) आत्मा के आने-जाने में विश्वास करते थे। वे एक कट्टर शाकाहारी थे; जिन्होंने दूध, शहद और चमड़ें तक के प्रयोग का निषेध किया। वे पशुओं के प्रति दया की भावना रखते थे। उनका कपड़ा तथा खाना साधारण था तथा वह ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।[13]

इससे स्पष्ट है कि अबुल अला की विचारधारा हिन्दुओं की विचारधारा से काफी मिलती-जुलती थी।

आरबेरी ने लिखा है कि सूफीवाद का उद्भव इस्लाम को प्राप्त होने वाली राजनैतिक सफलता का प्रत्यक्ष परिणाम था। तथ्यों की छानबीन करने पर

ज्ञात होता है कि सूफीमत के विकास में ईरान का बड़ा हाथ था। "वास्तव में इस्लाम का जो पौधा ईरान में लगा था वही सूफीमत के रूप में विकसित एवं फलित हुआ। अरबों ने तो इस्लाम के प्रदेश को ही जीता था किन्तु ईरान ने अरब की संस्कृति पर विजय पाई थी। कुछ समय पश्चात् इस्लाम की दो शाखाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगीं। अरब में जन्मी इस्लामी शरीअत और ईरान के सूफीमत को "तरीकत" में भिन्नता को आसानी से समझा जा सकता है।

"रहस्यवाद और वैराग्य शायद रूढ़िवादी परमार्थ विधा (Theology) के दो विकल्प थे जबकि सूफीवाद मूलतः दार्शनिक व्यवस्था पर टिका था। इस दार्शनिक व्यवस्था के कारण ही सूफीवाद ने इस्लाम की कट्टरता को तिलांजली देकर रहस्यवाद की आन्तरिक गहराई से समझौता कर लिया। सूफीमत का इस्लाम से अनेक मुद्दों पर गहरा मतभेद है; प्रायः ऐसा देखा गया है। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि प्रायः सभी सूफी मुसलमान थे और साथ ही वे अपने सिद्धान्तों का विवेचन करते समय इस्लाम को अपनी आँखों से ओझल नही होने देते थे। सनातन पंथी इस्लाम की कट्टरता और कानून की पाबन्दी से समझौता करना प्रायः आसान नही था क्योंकि सूफी कट्टरवाद पर उतना जोर नहीं देते थे जितना कि आध्यात्मिक और रहस्यवादी व्याख्या पर।[14]

भिन्न-भिन्न देशों में विकसित होता हुआ सूफीमत भारत में प्रवेश करता है। भारत में आने से पूर्व बारहवीं शताब्दी तक सूफीमत का रूप निर्धारित हो चुका था। इसके मौलिक तथा नैतिक सिद्धांत, उपदेश और आदेश, मंत्र, प्रार्थना और उपवास, जिक्र, शेख या पीर एवं शिष्य की परम्परा तथा खानकाहों की विशेष दिनचर्या निश्चित हो चुकी थी। अनेक सूफी सिद्धान्तों को विभिन्न रहस्यवादी विचारधाराओं के द्वारा पुष्ट भी किया गया जिनका विकास अनेक युगों की साधना से किया गया था। यद्यपि सूफी आन्दोलन का भारत में प्रवेश उसकी पूर्ण व्यवस्थापरक के स्थापित हो जाने के बाद हुआ था तथापि इस मत ने कट्टर इस्लाम से ज्यादा भारतीय जनता का कल्याण भी किया।

जान-ए-सुभान ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि सूफियों का यह दावा है कि उनके सिद्धान्त कुरान तथा प्रथाओं से लिए गये हैं तथा इसके विकास में बाहरी तत्त्वों ने प्रभाव डाला है। उदाहरण के तौर पर इसके संयास पर निश्चित रूप से ईसाई धर्म का प्रभाव है विशेषकर प्लेटोनिस (Plotinus) का जिसे अरबवासी अस-शयूख्-ई-यूनानी (Ash-Shaykhu-i-yunani) अथवा ग्रीक मास्टर कहकर पुकारते हैं। इससे आगे यह देखा गया कि इसके सिद्धान्तों और क्रियाओं में भारतीय सिद्धान्त प्रदर्शित होते हैं।

शायद कोई भी इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि भारतीय विचारों ने

बहुत सीमा तक सूफीमत को प्रभावित किया। परन्तु जब हम यह निश्चित करते हैं कि वे कौन से तत्व हैं जिन्होंने इसमें प्रवेश किया तो विचारों में विभिन्नता पाते है।

इस्लाम के साथ भारत के संबंध बताते समय यह ध्यान रहना चाहिए कि 672 ई० में अरब सेना ने मकरान तथा कनकन (Kankan) के मध्य अपना अधिकार कर लिया था। इससे इस्लाम भारत के द्वार तक पहुंच गया था। आठवीं शताब्दी में इससे भी अधिक सम्पर्क स्थापित हो गया था जब सिन्ध पर अब्बासी खलीफाओं ने अधिकार कर लिया और इसे मुस्लिम साम्राज्य का एक प्रान्त बना लिया था। खलीफा मंसूर, हारुन और मामून के समय में भारतीय विचारों को समझने के लिए निश्चित कदम उठाये गय। मंसूर के काल में पंडितों के दूत सिन्ध से आये और उसे ब्रह्म सिद्धान्त तथा खण्डखाद्यक, ब्रह्मगुप्त द्वारा भौतिक ज्योतिष या खगोल विद्या पर लिखे गये प्रसिद्ध ग्रंथ भेंट किये तथा तत्काल ही उनका अरबी में अनुवाद किया गया और अरबों द्वारा उनका प्रयोग किया गया। बाद के समय में खलीफा हारुन रशीद के समय में निश्चित रूप से भारतीय विचारों ने अरब साहित्य में बड़े पैमाने पर प्रवेश किया। इस समय बरमक परिवार खलीफा का मंत्री था जो भारतीय (हिन्दू) पंडित था। यह नाम भारतीय शब्द परक का अरबी रूप लगता है जिसका अर्थ है विहारों में सर्वोत्तम। यह परिवार बल्ख से आया था जहाँ पर उनका एक पूर्वज नव विहार में एक अधिकारी था। बरमक परिवार का हारुन रशीद के दरबार में प्रभाव सर्व प्रसिद्ध है। उनके संरक्षण में अरब विद्वान भारतीय विचारों का अध्ययन करने के लिए भारत भेजे गये और भारतीय पंडित हिन्दू विद्वत्ता की व्याख्या करने के लिए बगदाद बुलाये गये थे। संस्कृत पुस्तकों से अनेक विषय पर जैसे चिकित्सा, खगोल-विद्या, दर्शन शास्त्र आदि का अरबी में अनुवाद किया गया। भारत के साथ स्थापित किया गया यह सम्पर्क कई शताब्दियों तक चलता रहा।

ग्यारहवीं शताब्दी में भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना से पहले हम देखते हैं कि भारतीय विचारों का अध्ययन करने के लिए अल मुवाफिक और अलबरूनी (Al Muwaffiq and Al Beruni) आये। 1030 ई० के समय के धर्म, दर्शन, साहित्य, भूगोल, कालक्रमिक खगोल विद्या, रीति-रिवाज, कानून तथा ज्योतिष पर अलबरूनी ने लिखा। कपिल द्वारा रचित सांख्य (Sankhya) का अल-बरूनी ने संस्कृत से अरबी में अनुवाद किया तथा पतजलि द्वारा रचित "योग-सूत्र" (yoga sutra) का भी अनुवाद किया और उसने ही अपने मुस्लिम भाइयों को भगवद्गीता का परिचय भी कराया।

अजीज अहमद के अनुसार अबू रेहान अल-बरूनी (Abu Raihan Al Baruni) जिसमें बौद्धिक इच्छा को पूरा करने और हिन्दू-धर्म तथा विज्ञान का

अध्ययन तथा विश्लेषण का प्रतीक मिलता है ने महमूद गजनवी तथा उसके पुत्र मसूद के काल में लिखा। उसने अपना कार्य व्याख्या करने वाला तथा दुभाषिया रखा और तुर्की, फारसी मुसलमानों को हिन्दुओं के धर्म, विज्ञान और साहित्य पर विचार करने में समर्थ बनाया।

अलबरूनी की महत्वपूर्ण देन यह है कि उसने हिन्दू धर्म का अध्ययन बिना किसी पक्षपात के किया और यह धर्म उसे केवल मूर्तिपूजा का धर्म ही दिखता था जैसा कि अरब विजय के 500 वर्ष के बाद तक अन्य मुसलमानों को दिखता रहा था। उसने हिन्दू धर्म की एकता को ऐकेश्वरवादी माना और हिन्दू मूर्ति-पूजा को अज्ञानता का प्रकटीकरण तथा अनभिज्ञ भीड़ की वासना माना। वह पहला व्यक्ति था जिसने भगवद्‌गीता का परिचय मुस्लिम जगत से कराया और पहला मुसलमान भी था जिसने पुराणों का अध्ययन किया और पतंजली की पुस्तक तथा सांख्य का मुस्लिम भाषा में अनुवाद किया। वह जाति प्रथा का आलोचक था परन्तु वेदांतिक रहस्यवाद से वह बच न सका। उसने हिन्दू विज्ञान, खगोल विद्या, भूगोल, गणित तथा चिकित्सा के प्रमुख सिद्धांतों की विस्तार से व्याख्या की। उसने ऐसा अनुभव किया कि हिन्दू खगोल विद्या के ज्ञान में यूनानियों से आगे नहीं हैं परन्तु अरब लेखकों जैसे अबू मशार (Abu Mashar) पर हिन्दू प्रभाव को स्वीकार किया गया। उसने संस्कृत भाषा, बोलचाल की भाषा और शब्द-कोश की विविधता पर लिखा तथा हिन्दू साहित्य और कला की प्रगति की प्रशंसा की।[16]

श्री एम० टी० टाइटस ने अपनी पुस्तक "इण्डियन इस्लाम" में अपने विचार इस संबंध में इस प्रकार प्रकट किये हैं—

भारत के मुस्लिम संसार से दसवीं शताब्दी के पूर्व भी निश्चित और सुदृढ़ संबंध थे। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी उम्मेद खलीफाओं के काल में सिंध को मिलाने की कोशिश की गई थी। परन्तु दुर्भाग्य से हम यह नहीं जानते कि भारत ने उनके धार्मिक विचारों को किस सीमा तक प्रभावित किया। परन्तु गोल्ड जीहर (Gold Ziher) के अनुसार भारतीय विचारों ने इस्लाम को अवश्य प्रभावित किया।

दूसरे घूमने वाले भारतीय साधू वहां उपस्थित थे, इन साधूओं ने बगदाद के अब्बासी खलीफाओं को प्रभावित किया। अगर वह घूमने वाले साधू भारतीय साधू अथवा बौद्ध-भिक्षु नहीं थे तो वे अवश्य ही भारतीय उदाहरण और ढंग को मानने वाले थे।

तीसरे, उन बौद्ध कार्यों का उदाहरण देना उचित होगा जिनका हिजरी की दूसरी शताब्दी में अनुवाद किया गया और यह कार्य अब्बासी खलीफा मन्सूर (754-775 ई०) और हारुन (786-809 ई०) के समय में किये गये। इनमें

से कुछ फारसी और पहलवी से अनुवादित किये गये जबकि दूसरे सीधे संस्कृत से किये गये। इन भारतीय पुस्तकों में से वलुहार वा बुदासफ (Baluhar wa Budasaf) पुस्तक का अरबी में अनुवाद किया गया।

चौथे, पूर्वी फारस तथा ट्रांस ओकसिनिया में भारतीय बौद्ध धर्म के मठों का वर्णन किया जा सकता है जो वल्ख में ग्यारहवीं शताब्दी के पहले तथा भारतीय विजय के पहले स्थित थे तथा फैल रहे थे।

भारत के इन संबंधों का इस्लाम जगत पर प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है—पहले—सबसे पहले धर्म-निरपेक्ष और उच्च-कोटि के साहित्य की रचना हुई। अनेक आचार अथवा नीति संबंधी और राजनैतिक बुद्धिमत्ता की बातें ली गई और यह चीजें विशेषकर कहानियों से जैसे पंचतंत्र की कहानियां ली गई।

दूसरे, विज्ञान के क्षेत्र में गणित और भौतिक विज्ञान की बहुत सी चीजों का अनुवाद किया गया और भौतिक विज्ञान में विशेषकर चिकित्सा तथा जादू के साहित्य का अनुवाद किया गया और इससे ब्रह्मगुप्त की भौतिक विज्ञान की पुस्तक (सिद्धांत) का भारतीय विद्वानों की सहायता से अनुवाद मिल गया।

भारतीय प्रभाव का तीसरा क्षेत्र धार्मिक है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पूरे इस्लाम के विचार को प्रभावित किया। इसने इस्लामी रहस्यवाद अथवा सूफीमत को ही प्रभावित किया। बौद्ध-धर्म और वेदांत का प्रभाव उनके विचारों धार्मिक कल्पनाओं की अभिव्यक्ति और धार्मिक क्रियाओं में देखी जा सकती है।

भारतीय विचारों का प्रभाव जुहद (Zuhd) अथवा संयास में देखा जा सकता है। गोल्ड जीहर के अनुसार अबुल-अलाहीयाह (Abul Alahiyah) (748-828 ई०) को एक उदाहरण माना जा सकता है जो बहुत सम्मानित व्यक्ति था, जो भिखारी के वस्त्रों में एक बादशाह था, उन्होंने अपने विचारों को यह पूछ कर अभिव्यक्त किया "क्या यह बुद्ध नहीं है?"

भारत में मुसलमानों के प्रवेश से पहले, इस्लाम भारतीय विचारों के सम्पर्क में आया और बहुत कुछ हद तक निश्चित रूप से इससे प्रभावित हुआ था। विशेष रूप से सूफी-सिद्धांतों और क्रियाओं में। बाद में दूसरी ओर जब भारत पर मुसलमानों द्वारा अधिकार किया जा रहा था, इस्लाम ने हिन्दू जीवन और विचारों पर अपना प्रभाव बढ़ाया। इस्लाम का हिन्दू-धर्म पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि इसमें बहुत से नये धार्मिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई जिनमें निश्चित रूप से हिन्दू-मुस्लिम विचारों और क्रियाओं का मिश्रण है।

इस तथ्य के बावजूद कि प्रारम्भिक सूफियों के विषय में कम जानकारी प्राप्त है, कुछ विशेष गाथाएं मिलती हैं जिनमें सूफियों के विषय में जानकारी मिलती हैं उनमें से एक बाबा रतन के विषय में है जो एक हिन्दू सन्त था, ऐसा कहा

जाता है कि उसने दो बार मक्का का भ्रमण किया था और दोनों बार मोहम्मद साहब से स्वयं भेंट की थी। एक बार उनके जीवन के प्रारम्भ में और दूसरी बार जब मोहम्मद पैगम्बर बन गये थे और उसके बाद भारत आये और एक लम्बे काल अर्थात् सात सौ वर्ष तक जीवित रहे। इसका वर्णन इब्न हजार असकालानी (Iban Hajar Asqalani) ने अपनी पुस्तक असाबा फी मरीफाती एस सहाबा (Isaba Fi Marifati S Sahaba और अध धड़ाबी (Adh Dhadabi) ने अपनी पुस्तक तजरीड़ (Taarid) में किया है। इब्न के अनुसार वह मोहम्मद का प्रमुख साथी था। ऐसा कहा जाता है कि उनकी मृत्यु 1234-35 ई० में हुई थी और उनको तबर हिन्द (Tabar Hind) में दफनाया गया था जिसके विषय में अब कुछ नहीं मिलता।

इसी प्रकार की एक पौराणिक कथा बीबी पाक दामन (Bibi Pak daman) की प्रसिद्ध है। लाहौर के प्राचीन कब्रिस्तान में सात कब्र हैं। ये हिजरी की पहली शताब्दी की सास्त्री संतों की हैं। उनमें से छः अली के घराने की थी. सातवीं बीबी तननूर (Bibi Tannurs) की है। ऐसा कहा जाता है कि जब हुसैन (Husain) को याजिद (Yazid) की सेना ने करबला में घेर लिया तो दुर्घटना के अन्तिम दिन मे पहले दिन उनसे कैम्प छोड़ने को कहा गया। बहुत घूमने के बाद वे लाहौर पहुंची। यहां पर हिन्दू राजा ने उनके विषय में सुनकर अपने पुत्र को उनको अपने राजमहल में लाने के लिए भेजा। स्त्रियों ने आने से इन्कार कर दिया परन्तु जब राजकुमार ने बहुत आग्रह किया तो ताज बीबी ने उसे इस प्रकार देखा कि वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा। होश में आने पर उसने क्षमा मांगी और इस्लाम स्वीकार कर लिया। कुछ समय के लिए राजकुमार के संरक्षण में वे शान्तिपूर्वक रहती रहीं परन्तु उसके बाद उन्हें हिन्दुओं ने चिढ़ाना प्रारम्भ कर दिया परन्तु जब चिढ़ाना हद मे बाहर हो गया तो उन स्त्रियों ने पृथ्वी से प्रार्थना की कि उन्हें इन अविश्वासियों की दृष्टि से बचाए और उनकी प्रार्थना स्वीकार कर, पृथ्वी ने अपना मुंह खोला और उदारता के साथ निगल गई।

इस कथा में तथा हिन्दुओं की सीता की पृथ्वी में समाने की कथा में कितना साम्य है। सीताजी एक सच्चरित्र स्त्री थीं, उनका सम्मान पूरे समाज में था। जब उसने पृथ्वी से अपने समाने के लिए जगह मांगी, तो पृथ्वी ने उसे जगह दे दी। ठीक इसी प्रकार बीबी तननूर एक सच्चरित्र स्त्री थी, जब उसने अपने समाने के लिए जगह मांगी तो पृथ्वी ने इसे जगह दे दी। हिन्दुओं और मुसलमानों की लोक कथाओं में सच्चरित्र स्त्रियों को पूर्ण सम्मान दिया गया है और आज भी वे उदाहरण बनी हुई हैं।

इसके बाद भी जब मुसलमानों ने भारत पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली

थी तब भी हम पाते हैं कि सूफी सन्तों ने धर्म से हट कर ठंडे मस्तिष्क से हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा और बहुदेववाद का अध्ययन करने की कोशिश की । यह आश्चर्य की बात है कि बहुदेववादी हिन्दुओं तथा ऐकेश्वरवादी मुसलमानों के राजनैतिक सम्बन्ध ठीक नहीं थे परन्तु फिर भी उन्होंने ऐसा किया ।[18]

अब तक हमने सूफी मत का उद्भव, विकास तथा उसकी विचारधारा का विवेचण किया । उसकी विचारधारा में भारतीय तत्व अथवा हिन्दू विचारधारा के तत्वों का सूफीमत में कहां तक समावेश था इस पर भी प्रकाश डाला । अब हम विचार करेंगे कि सूफी-संतों ने भारतीय सभ्यता अर्थात् हिन्दू धर्म और उसके अनुयाइयों के साथ किस प्रकार मेल-मिलाप बढ़ाया और हिन्दू तथा मुसलमानों को किस प्रकार एक करने की कोशिश की । कुछ प्रमुख सूफी-संतों का वर्णन इस प्रकार है—"आइने अकबरी" में अबुल फजल ने चौदह सूफी सिल-सिलों का उल्लेख किया है । इनमें चिश्ती, सुरावर्दी, कादरी और नक्सबन्दी-अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं। सैयद मुहम्मद हाफिज के अनुसार चिश्ती भारत का सर्व प्रथम प्राचीन सूफी सिलसिला है । ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती सन् 1192 ई० में शहाबुद्दीन गोरी की सेना के साथ भारत में आए थे और बाद में उन्होंने ही चिस्तिया सिलसिला की नींव रखी थी । उन्होंने यहां आकर अनेक स्थानों का भ्रमण करने के बाद अजमेर को अपना निवास स्थान बनाया ।

मुइनुद्दीन चिश्ती का पूरा नाम ख्वाजा अबू इसाक शमी चिश्ती (Khwaja Abu ishaq Shami Chisti)) था । वे चिश्ती सम्प्रदाय के आठवें क्रम (नम्बर) में आते थे । उनका जन्म 1142, 43 ई० में सीस्तान के संजार कस्बे में हुआ था । कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार 1136 ई० में उनका जन्म हुआ था । उन्होंने अपने पूर्वजों के विषय में माता की ओर से हसन तथा पिता की ओर से हुसयान से, जो मुहम्मद साहब के पौत्र थे, से सम्बन्ध बताया है । उनके पूर्वज कई शताब्दियों तक रहस्यवादी क्रियाओं में रुचि लेते रहे थे । इस प्रकार उनमें वंशानुगत रहस्यवादी प्रभाव था । उनके पिता की जब मृत्यु हुई तब उसकी आयु लगभग 14 वर्ष की थी ।

बचपन से ही आप बड़े उदार हृदय थे । कहते हैं कि जब आप दूध पीते बालक ही थे, तो अपने भाग का दूध अपनी माता को इशारा करके दूसरों को पिला देते थे । बालक मुइनुद्दीन का पालन-पोषण खुरासान प्रदेश में हुआ । प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई । इनके पिता बड़े विद्वान थे । अतः बालक मुइनुद्दीन शीघ्र ही अच्छा पढ़-लिख गये । जब पिता की मृत्यु हो गई तो आप घर के काम-धन्धों में फंस गये । एक दिन जब वे अपने बाग में पानी लगा रहे थे, संत इब्राहीम वहां आए । मुइनुद्दीन पर सत का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे संसार से विरक्त हो गये । उन्होंने घर-बार छोड़ दिया और अपना सारा धन

गरीबों में बांट दिया। तब वे संसार में सत्य की खोज में निकल पड़े। आपने दूर-दूर तक यात्रा की। वे उस समय के बड़े-बड़े संतों और फकीरों की सेवा में रहे। वे ईरान, अफगानिस्तान और अरब के सभी प्रसिद्ध स्थानों में घूमे। अन्त में 1192 ई० में अजमेर को अपना स्थाई निवास स्थान बनाया।

ज्ञान सुभान के अनुसार जब वह युवा थे तब संजार पर तातार ने आक्रमण किया और उनके अत्याचारों ने ख्वाजा में यह भावना भर दी कि संसार वृथा अभिमान है। इससे भी अधिक प्रभाव उन पर शेख इब्राहीम कन्दोजी ने डाला और उन्होंने सांसारिक जीवन को छोड़ दिया तथा फकीर बन गए और आध्यात्मिक गुरु की तलाश में भ्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। पहले कुछ वर्षों तक वह समरकन्द में धार्मिक शिक्षा पूरी करने के लिए रहे और इसके बाद कुरान का आगे अध्ययन करने के लिए बुखारा गए। अचानक ही वह निशापुर के एक प्रांत हारून आये और वहां उनकी भेंट चिश्ती सम्प्रदाय के प्रसिद्ध संत ख्वाजा उथमान हारूनी से हुई जिन्होंने कुछ वर्षों यहां रहने के बाद उन्हें भारत में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेज दिया।[19]

आपका प्रभाव हिन्दू और मुसलमान दोनों पर ही था। कहा जाता है कि हिन्दू साधू भी उनके प्रभाव के कारण इस्लाम स्वीकार कर लिया करते थे। कहा जाता है कि संत ने अजमेर के एक हिन्दू महन्त को मुसलमान बनाया था और एक हिन्दू राजा की कन्या के साथ विवाह कर लिया था। ख्वाजा ने अपनी पुत्री, बीबी हाफिजा जमाल को अपने मत का प्रचार करने के लिए अन्य अनुयाइयों के साथ भारत के विभिन्न भागों में भेजा था। स्त्री समाज पर बीबी हाफिजा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था।

शेख मुइनुद्दीन चिश्ती अपने शरीर को दोतही ((Do-tahi) मे लपेटे रहते थे। इस दोतही को बाद में हिन्दुओं ने भी अपना लिया। शेख निजामुद्दीन औलिया और शेख फरीद भी फटे-पुराने कपड़ों में रहते थे। जिस प्रकार हिन्दू संत अपने कपड़ों की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे, ठीक उसी प्रकार मुस्लिम संत भी कोई ध्यान नहीं देते थे।

शेख अब्दुल हक बताते हैं कि शेख मुइनुद्दीन के दो पत्नियां थीं उम्मात उल्लाह (Ummat-ullah) और असमातुल्लाह (Asmatullah)। पहली पत्नी एक हिन्दू राजा की लड़की थी और दूसरी सैयद वाजिद-उद्दीन की थी। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दू और मुसलमानों में भी वैवाहिक संबंध स्थापित होते थे जो आपसी एकता स्थापित करते थे।

मुइनुद्दीन चिश्ती के बाद ख्वाजा बख्तियार काकी सुल्तान इल्तुतमिश के समकालीन थे तथा उन्होंने ही बाबा फरीद को चिस्तिया-परम्परा में दीक्षित किया था। दिल्ली में बख्तियार काकी के अनेक मुरीद थे किन्तु फरीद ने

जितनी गहन भक्ति से गुरु सेवा की थी वैसी कोई न कर सका। बख्तियार काकी ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। बाबा फरीद के कारण चिस्तिया सिलसिले को भारत में व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई। उन्होंने भारतीय वातावरण से समझौता करते हुए खास तौर पर निम्न वर्गों, दीन-दुखियों के लिए प्यार और उदारता के द्वार खोल दिए। एक अन्य कारण यह भी था कि चिस्तिया-सिलसिला संगीत को ईश्वर प्रेम का महत्वपूर्ण साधन समझता था।

भारतीय सूफीमत के इतिहास में बाबा फरीद का एक निजी और विशिष्ट स्थान है, ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने भविष्यवाणी की थी कि वे एक ऐसे दीपक हैं जो चिस्ती सिलसिले को नया प्रकाश देंगे। यह सच है कि फरीद को अपने जीवन काल में आध्यात्मिक और मानसिक शांति प्राप्त हुई थी तथा उन्होंने असंख्य पथभ्रष्ट और पद-दलित मनुष्यों को सत्य और आस्था का प्रकाश दिया था।

उनका संदेश हिन्दू और मुसलमान दोनों को प्रिय था। इस संदेश में कर्मकाण्ड और आडम्बरों को त्यागकर दोनों जातियों को एक सूत्र में बांधने की भावना भी प्रबल थी। उनका मुख्य उद्देश्य मानव में सच्ची आध्यात्मिक भावना तथा प्रम-भावना का विकास था क्योंकि एक सच्चे साधक की भांति वे घृणा हिंसा एवं वैर को त्यागकर सहानुभूति और पारस्परिक प्रेम का पाठ पढ़ाना चाहते थे। फरीद का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली, विनम्र, उदार तथा मधुर भाषी था। उन्होंने समस्त वाणी में किसी भी धर्म का खण्डन नहीं किया है। उनका निरंतर यही प्रयास था कि व्यक्ति संसार की वास्तविक स्थिति को समझे और मानवता के प्रति अपने कर्त्तव्य को पहचाने। इसलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर सांसारिक आकर्षणों की निन्दा की है। उनके आध्यात्मिक गुणों का ही प्रभाव है कि आज भी उनकी समाधि सभी के लिए तीर्थ-स्थान बनी हुई है।[10]

चिश्ती सिलसिले के वंश-वृक्ष को देखने से पता चलता है कि बाबा फरीद के दो प्रमुख शिष्यों मे हजरत निजामुद्दीन औलिया तथा हजरत अलाउद्दीन साबिर का नाम महत्वपूर्ण है। शेख निजामुद्दीन औलिया के नेतृत्व में चिश्ती सिलसिले का भारत भर में विकास हुआ। परन्तु उनका वर्णन करने से पहले शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के एक अन्य प्रसिद्ध शिष्य शेख हमीद-उद-दीन का वर्णन करना आवश्यक सा प्रतीत होता है जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता में काफी योगदान दिया।

शेख हमीदउद्दीन नागौर के पास सिवाल गांव में रहते थे। वे अपने में आत्मनिर्भर रहे। वह मिट्टी के बने मकान में रहते थे और एक बीघा जमीन को जोतकर अपनी आजीविका कमाते थे। वह एक भारतीय किसान की भांति विचित्र से वस्त्र पहनते थे। वह अपने घर में गाय रखते थे और स्वय उसे दुहते (दूध

निकालना) थे। उनकी पत्नी जो बहुत ही उदार और धार्मिक थी, खाना बनाने तथा कपड़ा बुनने में एक भारतीय स्त्री की तरह जीवन व्यतीत करती थी। गांव के अन्य लोगों की भांति, जिनके मध्य वह रहते थे, शेख हमीदउद्दीन पूर्ण रूप से शाकाहारी थे। वह मांस से इतनी घृणा करते थे कि उन्होंने अपने शिष्यों को चेतावनी दी कि वे उनकी मृत्यु के बाद मांस से बनी कोई चीज वितरित न करें।

वे अपने तन को ढकने के लिए केवल एक फटा-पुराना कपड़ा लपेटे रहते थे। नागौर के गवर्नर ने जब उनकी गरीब दशा के विषय में सुना तो उसने उनके लिए कुछ धन भेजा तथा कुछ भूमि खेती करने के लिए बगैर लगान के देने की कोशिश की। परन्तु शेख ने स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इसके बाद गवर्नर ने सुल्तान की सहायता ली तथा फिर सहायता भेजी, परन्तु शेख ने फिर इनकार कर दिया। यह परिवार हिन्दवी में वार्तालाप करता था। शेख हमीद-उद्दीन इतने उचित स्वभाव व मानवतावादी थे कि गैर मुसलमानों ने भी उनके विचार अपना लिए थे।[21]

शेख निजामुद्दीन औलिया

सूफी संत शेख निजामुद्दीन औलिया ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका हिन्दू-मुसलमान तथा सभी जनसाधारण बेहद सम्मान करते थे। जिस महान चिश्ती सम्प्रदाय से वह सम्बन्धित थे वह इस बात पर बल देता था कि सूफियो को अपने समय के सुल्तानों और शासकों से दूर रहना चाहिए और उन्होंने बड़ी दृढ़ता से इस सिद्धान्त का पालन किया था। वह बड़ा सरल जीवन व्यतीत करते थे। उनकी खानकाह मे जो प्रचुर मात्रा में भेंट प्राप्त होती थी उन्हें तुरन्त दरिद्रों में बांट दिया जाता था। उनमें कोई धार्मिक पक्षपात नहीं था और उनका ज्येष्ठ शिष्य भगवान कृष्ण की प्रशंसा में हिन्दी कविता लिखता था जो शीघ्र ही दिल्ली की सड़कों पर गाई जाने लगीं। उनकी मुख्य विशेषता जिसका उन्होंने एक अन्य सूफी संत के विषय में उल्लेख किया, यह थी कि उन्हें एक सहानुभूति और ज्ञानी बुद्धि प्राप्त थी जिससे वह अपने पास आने वाले की समस्या समझकर उसे वह परामर्श देते थे जिसकी उन्हें आवश्यकता होती थी। लोगों का सन्मार्ग की ओर पथ-प्रदर्शन अर्थात ईश्वर की अराधना और सहचरों की सेवा उनका एक महान उद्देश्य था।[22]

निजामुद्दीन औलिया के पास सभी प्रकार के व्यक्ति—विद्वान, राजनीतिज्ञ सिपाही, मुसलमान, हिन्दू जोगी, कलन्दर, व्यापारी आदि आते थे और वे अपनी समस्याएँ रखते थे। शेख उनकी समस्याओं के समाधान के लिए उन्हें ताबीज देते थे। कभी-कभी बीमारों के ऊपर अपना हाथ रखते थे। कभी उनके

ऊपर पानी के छींटे लगाते थे तथा कभी किसी कुरान की आयत का उच्चारण करते थे। इस तरह की क्रियाएँ इस्लाम में मान्य नहीं हैं। यह क्रियाएं हिन्दू धर्म के सम्पर्क से इस्लाम में प्रचलित हुईं।

जब इस्लाम के अनुयायी हथियारों से लड़ाइयाँ लड़ रहे थे और रक्त बहा रहे थे, जब तुर्कों और गैर तुर्कों में तथा अमीर और निम्न वर्ग में जन्म के आधार पर अन्तर किया जा रहा था, उसी समय हिन्दुस्तान में भारतीय सूर्य के अन्दर ऐसा भी स्थान था जहाँ भारत का सुल्तान तथा बिना धन के भिखारी का एक-सा स्वागत होता था और वह स्थान खानकाह था। उस समय यह स्थान लड़ाई-झगड़े के काल में एक प्यार की झलक के समान था।[23]

निजामुद्दीन औलिया की विचारधारा में मानव मात्र के लिए अनेक उपयोगी और कल्याणकारी तत्व विद्यमान थे। उन्होंने भारतीय परम्परा के उस अंश को ही ग्रहण किया था जो उनकी अनुभव की कसौटी पर खरा उतरता था जिसमें समाज सेवा और मानव-विकास की प्रेरणा ही प्रमुख थी। बाबा फरीद की तरह निजामुद्दीन औलिया ने भी अपने उपदेशों से मानव-हृदय को शान्ति प्रदान की। भारतीय समाज में आर्थिक बन्धनों द्वारा ठुकराए हुए लोगों ने उनमें अपना परम हितैषी रूप पाया। हिन्दू-मुसलमानों की एकता एवं समाज सुधार में उनका महत्वपूर्ण योगदान था। आत्म-निन्दा पर ध्यान न देना, अपराधी को क्षमा करना तथा साम्प्रदायिता को तिलांजलि देना उनके गुण थे। निजामुद्दीन औलिया में अन्य महान सूफी साधकों की तरह ही इस्लामी शरीअत की कट्टरता नहीं थी। वे मनुष्य मात्र की एकता के सच्चे प्रतीक रहे हैं।[24]

शेख बदरूद्दीन गजनवी इस्लाम के बहुत बड़े प्रचारक थे। उन्होंने इस्लाम में प्यार के संदेश पर जोर दिया। वे शमा के बहुत शौकीन थे तथा बुढ़ापे में जब वह मुश्किल से चल-फिर सकते थे, उस समय वे एक दस वर्ष के लड़के की तरह शमा में नाचते थे। इस पर जब जनता को आश्चर्य हुआ और उनसे पूछा कि यह नाच कैसे सम्भव हुआ है? तब उन्होंने उत्तर दिया यह शेख नहीं है बल्कि प्यार है जो खुदा से प्यार करता है वह इसी प्रकार नाचता है।

सूफी सन्त करिश्में (चमत्कार) दिखाने में विश्वास करने लगे थे। उन संतों में शेख लुकमान परीन्दा, शेख शेफीदुद्दीन करजूनी, शेख अजाल सिरजी प्रमुख थे।

सूफी संतों को इल्हाम (स्वप्न) में गुरुओं की आत्मा दिखाई देने लगी थी जैसे कि शेख निजामुद्दीन औलिया को शेख फरीदुद्दीन दिखाई देते थे।

शेख निजामुद्दीन की तरह का ही एक महान चरित्र मौलाना वाहिद थे। वे जहांपनाह में एक अव्यवस्थित बस्ती में झोंपड़ी में रहते थे। उनके यहाँ एक बूढ़ी स्त्री नौकरानी रहती थी, जिसका नाम लक्ष्मण (Lakshman) था तथा

दो दोस्त एक बक्काल (Grocer) तथा दूसरा दर्जी था। वे शेख फरीदुद्दीन के खलीफा थे इसलिए जब शेख निजामुद्दीन शेख कुतबुद्दीन के मकबरे पर जाते थे तो वे मौलाना वाहिद के पास उन्हें देखने अवश्य जाते थे। इससे मौलाना बहुत खुश होते थे। अगर शेख निजामुद्दीन शमा लगाना चाहते थे तो मौलाना अपने नौकरों से बहुत-सी खिचड़ी बनाने को कहते थे और कुछ साथियों को अन्दर लेकर शमा लगाते थे तथा दरवाज़ा बन्द कर लेते थे।

सूफी सन्तों की कुछ किस्में हैं। कुछ आध्यात्मिक अनुशासन तथा एकाग्रता में विश्वास करते थे और कुछ अपने व्यवहार में सामान्य थे। जो आध्यात्मिक शक्तियों में विश्वास करते थे उनमें शेख बधनी (Shekh Badhni) प्रमुख थे। शेख बधनी को मंगोलों ने गिरफ्तार कर लिया था तो उन्होंने बधनी से अपने साथी कैदियों को पानी पिलाया था। उस समय से उन्हें बधनी नाम दे दिया गया था जब। वे बधनी से पानी पिला रहे थे तो उन्हें बधनी को दोबारा भरने की आवश्यकता नहीं हुई और सबको खूब पानी पिलाया। वे कैथल की एक मस्जिद में रहते थे। वे अपने शरीर पर कोई कपड़ा नहीं पहनते थे परन्तु ऐसा लगता है कि उनके नग्न रहने के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई जब कि उनके दर्शनों को बहुत अधिक भक्त आते और दानिशमन्द अथवा सांसारिक उलेमा भी होते थे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने एक भक्तजन के समूह से पूछा कि स्वर्ग में भी क्या प्रार्थना करनी होगी। जब उन्हें यह बताया गया कि स्वर्ग में प्रार्थना की आवश्यकता नहीं होगी तो उन्होने कहा कि तब मैं ऐसे स्वर्ग में नही रहूँगा।

शेख निजाममुद्दीन औलिया सम्मानजनक ढंग से सूफी संत ख्याजा अहमद माशूक का जिक्र करते हैं, जो रोजाना प्रार्थना नहीं करते थे। एक बार ख्वाजा जब बहुत अधिक ठंड पड़ रही थी, उस समय नदी में गए और अल्लाह से पूछा कि मेरी स्थिति (Status) क्या है ? वे उस समय तक बाहर नहीं आए जब तक आकाश से आवाज नही आई और उन्हें विश्वास दिलाया कि दूसरे सूफी सन्त मेरे प्रेमी (Lovers) हैं परन्तु तुम मेरी प्रेमिका (माशूक) हो।[25]

गेसू दराज—ख्वाजा बन्दे नवाज उपनाम गेसू दराज का जन्म 1321 ई० में दिल्ली में हुआ। गेसू दराज अपने लम्बे बालों के लिए प्रसिद्ध थे। आप दक्षिण की ओर चले गये और बहमनी राज्य की राजधानी गुलबर्गा में स्थायी रूप से निवास करने लगे। जिन दिनों मुहम्मद तुगलक ने राजधानी का परिवर्तन किया था उन दिनों गेसू की अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी। इसी परिवर्तन के समय गेसू अपने पिता के साथ दक्षिण पहुँचे थे। ज्ञान के अन्वेषण के लिए वे फिर उत्तर चले आए। कई वर्ष तक वह दिल्ली में रहकर अध्ययन करते रहे। 1356 ई० में जब दिल्ली में महामारी का प्रकोप हो गया तब गेसू ने नागरिकों की

श्लाघनीय सहायता की। इसके बाद उन्होंने देश का भ्रमण आरम्भ किया। कहा जाता है कि फिरोजशाह बहमनी के आमन्त्रित करने पर वे गुलबर्गा चले गये और वहीं पर स्थायी रूप से निवास करने लगे।

गेसू दराज के पहुंचने के बाद चिश्ती सिलसिले को दक्षिण में जो प्रोत्साहन तथा स्थायी महत्व मिला वह बेजोड़ है। यह उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था कि सूफीमत को एक पूर्ण विकसित सिलसिले का रूप मिला जैसे उत्तरी भारत के बाबा फरीद तथा औलिया जैसे संतों ने प्रदान किया। शेख गेसू दराज एक महान साधक होने के साथ ही शरीअत और तरीकत के जाने-माने ज्ञाता थे तथा उन्हीं की कार्यशीलता से गुलबर्गा में इस्लामी ज्ञान के प्रसार के लिए एक विशाल मदरसा स्थापित हुआ। लगभग दो शताब्दियों में गुलबर्गा चिश्ती सिलसिले का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। शायद वह पहले सूफी साधक थे जिन्होंने काफी हद तक अपने पूर्वजों के नक्शे कदम पर दक्षिण के कई प्रान्तों में सूफी साधना तथा मानवतावादी परम्पराओं का प्रचार किया। किन्तु जिस समय चिश्ती सिलसिला लोकप्रियता के चरम शिखर पर था, 1422 ई० में उनका देहान्त हो गया।

यह उनके प्रभाव का ही असर था कि बहमनी के कई शासकों ने उदार नीतियों का अनुसरण करते हुए सामाजिक एवं पारस्परिक वैमनस्य को दूर करते हुए आपसी एकता पर जोर दिया। दक्षिण भारत और बीजापुर के सूफी खान-काह भी हर वर्ग के लोगों के लिए खुले थे। कभी-कभार तो योगियों और सूफियों के बीच पारस्परिक वार्तालाप के भी प्रमाण मिलते हैं।

शेख गेसू दराज ने निर्गुण तथा सगुण शब्दों का प्रयोग भी किया जो कि हिंदू दर्शन शास्त्र के लिए गए। ये बातें इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि हिन्दुओं के दार्शनिक विचारों और सिद्धान्तों ने इस्लामी जीवन में प्रवेश कर लिया था और अन्त में दोनों के विचारों और सिद्धान्तों में मेल हो गया।[26]

अमीर खुसरो—सूफी संतों के वर्णन के साथ एक सूफी संत निजामुद्दीन औलिया के मुरीद अमीर खुसरो का भी यहा वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने भी भारतीय संस्कृति को अपनाया और धर्म से ऊपर उठकर मानव एकता पर बहुत अधिक बल दिया।

अलबरूनी और अकबर के बीच लगभग 500 वर्ष के काल में हिन्दू धर्म, विज्ञान और कला के अध्ययन के लिए मुसलमान साधारणतया तटस्थ रहे यद्यपि सुल्तानों और बुद्धिवादी व्यक्तियों ने कभी-कभी जैन धर्म, योग और संस्कृति से अनुवाद में कुछ रुचि लेने की कोशिश की। उनमें एक महत्वपूर्ण व्यक्ति जिसने भारतीय वातावरण में रुचि ली, वह अमीर खुसरो था।

अबुल हसन यामीनुद्दीन खुसरो जो अमीर खुसरो के नाम से प्रसिद्ध है, का

जन्म 1253 ई० में मोमिनपुर (पटियाली) उत्तर प्रदेश में हुआ था। उसकी मृत्यु 1323 ई० में हुई थी। इसका पिता अमीर सैफुद्दीन महमूद तुर्कीस्तान के लाचीन कबीलों का था। वह नसीरुद्दीन महमूद के काल में भारत आया था और पटियाली में उसे कुछ जागीर मिली हुई थी।

खुसरो ने दिल्ली के सात सुल्तानों का काल देखा था और वह राज-दरबार से सम्बन्धित था। वह बहुत से सुल्तानों के समय सैनिक अभियानों में भी गया था। उसके एक ओर सुल्तानों तथा दूसरी ओर शेख निजामुद्दीन औलिया के साथ सम्बन्ध ने उसमें राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में बड़ी आश्चर्यजनक भावना पैदा कर दी।

एक अनोखी और प्रसिद्ध बात अमीर खुसरो के चरित्र की यह थी कि उसके विचार धार्मिक, सामाजिक और जातीय आधार पर मुल्लाओं से भिन्न थे। उस समय यह एक आश्चर्य की बात थी। खुसरो के समय में ऊंच-नीच की भावना फैली हुई थी। जन्म के आधार पर लोगों को ऊँचा-नीचा समझा जाता था। भारत में जन्मे मुसलमानों को नीचा समझा जाता था और विदेशी मुसलमान स्वयं को ऊँचा समझते थे। परन्तु खुसरो भारत में जन्मा था और गर्व से कहता था कि मैं भारतीय तुर्क हूँ। वह भारत की प्रत्येक चीज की प्रशंसा करता है, चाहे वह फूल हो, चाहे भाषा और चाहे प्राकृतिक सौंदर्य हो; अमीर खुसरो ने भारतीय वातावरण के प्रति जो रुचि दिखाई वह उसके ग्रंथ "आशिका" में स्पष्ट दिखाई देती है। इस ग्रंथ में राजकुमार खिज्र खां तथा हिन्दू राजकुमारी का प्यार दर्शाया गया है। इस कविता में एक ओर भारतीय सुगन्धित चीजों केवड़ा, कर्णा और चम्पक तथा सैकड़ों भारतीय सुगन्धित फूलों तथा मसालों का वर्णन तथा भारतीय सूर्य की चमक तथा चांद की ठंडी रोशनी से भरा है जबकि दूसरी ओर वह वर्णन करता है कि भारत जिसे वह प्यार करता है; इस्लाम का गौरव है, जहां पर शरीअत का सम्मान है तथा सुरक्षित है।

अमीर खुसरो शायद पहला भारतीय मुसलमान था जो भारतीय होने में गर्व महसूस करता है। वह तुर्की परिवार से सम्बन्धित था परन्तु उसकी माता शायद भारतीय थी। उसकी देशभक्ति गणितांक थी। उसने यह सिद्ध करने के लिए कि पृथ्वी पर स्वर्ग भारत की भूमि ही है, सात तर्क दिए। पहले उसने बताया कि भारत वह भूमि है जहाँ आदमी को ईड़न के बगीचे (Garden of Eden) से निष्कासित किया गया था, दूसरे मोर जो स्वर्ग का पक्षी है, भारत में पाया जाता है, तीसरे सर्प जो ईड़न के बाग से निष्कासित किया गया था, भारत आया था और इसे उसने अपना घर बनाया और चौथे भारत को छोड़कर अन्य प्रत्येक स्थान पर आदम दुःखी था, पांचवे भारत के पुष्प फारस तथा अन्य स्थानों के पुष्पों से अधिक सुगन्धित हैं।···इसी प्रकार भारत की सर्वोच्चता

खुरासान पर सिद्ध करने के लिए उसने दस तर्क दिए, उसने बताया कि खुरा-सान की जलवायु भारत से अधिक ठंडी है। भारत की जलवायु साथ ही अधिक गर्म भी नहीं है। भारत सदाबहार है जहां सदैव रंग-बिरंगे तथा सुगन्धित पुष्प खिले रहते हैं। भारतीय पुष्प मुरझाने के बाद भी सुगन्धित रहते हैं। खुरासान में केला पैदा नहीं होता, जबकि खुरासानी फल भारत में पैदा हो सकते हैं। भारत में दुर्लभ फल केला और दुर्लभ पत्ती पान है।

वह अपनी पुस्तक "आशिका" में हिन्दी शब्दों का प्रयोग संगीतात्मक ढंग से करता है। अपने मित्रों का मन बहलाने के लिए वह फारसी के साथ हिन्दी कविताओं का मिश्रण करता है। वह अरबी भाषा के लिए अनभिज्ञता प्रकट करता है और स्वयं को भारतीय तुर्क कहता है और हिन्दी में वार्तालाप करना पसंद करता है जिससे वह प्रभावशाली ढंग से उत्तर दे सके। वह कहता है कि "मैं एक भारतीय तुर्क हूं और हिन्दी में उत्तर दे सकता हूं।"

अमीर खुसरो कहता है कि यद्यपि ब्राह्मण सच्चे धर्म को नहीं मानते फिर भी उनके धर्म के बहुत से तत्व इस्लाम धर्म में दिखाई देते है, जैसे ऐकेश्वरवाद और ईश्वर की शक्ति। प्रत्येक दृष्टिकोण से हिन्दू दूसरे अधार्मिक व्यक्तियों जैसे ईसाई आदि से उत्तम है। हिन्दू मूर्ति-पूजा एक पैतृक रिवाज हैं, यह कोई नई प्रणाली नहीं है। गणित के विषय में वह भारतीयों की सर्वोच्चता के दस तर्क देता है: भारतीय दूसरों का विज्ञान सीखते हैं जबकि दूसरे भारतीय विज्ञान से अनभिज्ञ हैं। भारतीय विदेशी भाषाएँ बोल सकते हैं जबकि विदेशी भारतीय भाषाएँ नहीं जानते। संसार के सभी देशों के लोग भारत में सीखने के लिए आते हैं जबकि कोई ब्राह्मण विदेशों में शिक्षा-ग्रहण करने नहीं जाता। अरबों का अंक का ज्ञान विशेषकर शून्य चिन्ह भारतीय मूल है; शतरंज का खेल विश्व सभ्यता को भारत की देन है। भारतीय संगीत हृदय-ग्राही है और उस पर निपुणता पाना कठिन है। हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार संगीत मानव के साथ-साथ पशुओं को भी प्रभावित कर लेता है।[27]

वह किसी के प्रति बुरा दृष्टिकोण नहीं अपनाता, चाहे वह ऊंचा हो अथवा नीचा, भारतीय हो अथवा तुर्क, हिन्दू हो अथवा मुसलमान। 15वीं शताब्दी के कबीर की तरह अमीर खुसरो ने दो सभ्यताओं को एक साथ लाने की कोशिश की।

खुसरो ने उन भारतीय-हिन्दू और मुसलमान दोनों की प्रशंसा की, जो छोटा कहा जाने वाला कार्य करते थे: जैसे मजदूर अथवा छोटे दुकानदार और जो अपनी रोटी मेहनत से कमाते थे।

प्रारम्भिक इण्डो-मुस्लिम रहस्यवाद ने एक सहानुभूति और समझदारी का दृष्टिकोण सभी धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति अपनाया। उन्होंने सहधर्मियों को

सलाह दी 'आप जो हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा का विरोध करते हैं, आपको उनके पूजा करने के ढंग को भी अपनाना चाहिए।' (i)

इस तरह के विस्मय तथा सार्वभौम दृष्टिकोण ने विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में सामाजिक और सैद्धांतिक स्तरों पर समन्वय पैदा कर दिया। अमीर खुसरो जो इस प्रकार की विचारधारा के सबसे बड़े समर्थक थे बहुत से रीति-रिवाजों की इस प्रकार से व्याख्या करते हैं जैसे वे विभिन्न धर्मों में आवश्यक एकता की खोज कर रहे हों। जब वे कहते हैं—

"यद्यपि हिन्दू मेरी तरह वफादार नहीं हैं
वह प्रायः मेरी तरह ही उसी चीज में विश्वास करता है।" (ii)

अलबरूनी ने हिन्दू धर्म का दार्शनिक स्तर पर अध्ययन किया। मुस्लिम रहस्यवाद ने इसे मनोवैज्ञानिक और संवेगात्मक स्तर पर बढ़ाया। वे अधिक जोर सैद्धांतिक एकता की अपेक्षा संवेगात्मक एकता पर देते थे। यह बहुत ही धीमी प्रक्रिया थी और यह बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित रही। यह इस बात से स्पष्ट है कि मुस्लिम रहस्यवाद ने हिन्दू-धार्मिक क्रियाओं (Practices) में हिन्दू धार्मिक विचारों (Thoughts) की अपेक्षा अधिक रुचि ली।[28]

भारतीय संस्कृति एवं साधना के सम्पर्क में आने पर सूफियों ने इस संस्कृति से बहुत कुछ ग्रहण कर लिया। नाथपंथी साधकों, योगियों आदि का प्रभाव तो इन पर जगह-जगह देखा जा सकता है। भावों के मिश्रण के साथ-ही-साथ उन्होंने भारतीय भाषा एवं बोलियों को भी अपनाया। परिणामस्वरूप बाबा फरीद ने पंजाबी साहित्य को अनूठी देन दी है। कुतुबन, मंझन, जायसी और नुर मुहम्मद जैसे सूफी कवियों का साहित्य अवधी भाषा में है। शेख गेसूदराज के साथ तक हिन्दी कविता, भजन तथा संगीत के मिश्रण से एक नया आकर्षण प्राप्त किया था। बाबा फरीद तथा निजामुद्दीन औलिया का योगियों से सम्पर्क रहा था तथा निजामुद्दीन ने योगियों की साधना-पद्धति को मुक्त मन से स्वीकार किया।

यह सूफियों के प्रयत्नों का ही फल था कि इस्लाम धर्म में उदार तथा गतिशील तत्वों को प्रेरणा मिली। आगे चलकर यही प्रेरणा भारत में हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग के लिए लाभदायक सिद्ध हुई। मध्यकालीन भारतीय सूफियों ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी किया कि वे अधिक से अधिक जन-

(i) 'O you who sneer at the idolatory of the Hindu, learn also from him how worship is done.'

(ii) 'Though Hindu is not faithful like me. He often believes in the same thing as I do.'

साधारण के सम्पर्क में आए। इसके विपरीत मुस्लिम शासक वर्ग तथा उलेमा वर्ग ने अपने को शायद ही कभी सामाजिक—समस्याओं के समाधान के लिए उपलब्ध कराया हो। सूफियों ने ईश्वर को पाने के लिए जो "सफर" निर्धारित किया उसका उद्देश्य केवल प्रभु को पाने तक सीमित न होकर समाज-सेवा भी था। मुइनुद्दीन चिश्ती ने गरीबों और दुखियों की सेवा को उच्च कोटि की भक्ति माना था। उनका कहना था कि समाज में रहकर समाज के कष्टों का निवारण ही ईश्वर प्रेम का एक सच्चा तरीका है। निजामुद्दीन औलिया के शब्दों में 'एक महान शेख का कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के दिलों के दर्द को दरियाफ्त करे, उनके साथ सहानुभूति करे ताकि एक-दूसरे के लिए मित्रता तथा प्रेम जागृत हो। श्रद्धालु हृदय में खुदा का राज छुपा होता है।' बाबा फरीद और निजामुद्दीन औलिया जैसे महान संतों ने अपना उद्देश्य केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नति तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु उनका यह निरन्तर प्रयास था कि अपने ज्ञान तथा तजुर्बे द्वारा समाज तथा मानव को कल्याण का मार्ग दिखाया जाए। भारत में खानकाहों का उदार वातावरण हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही प्यार देने में सफल रहा। यही नहीं सूफियों ने अहिंसा और शान्ति से समस्याएं सुलझाने के लिए जनता को प्रेरित भी किया। निजामुद्दीन औलिया ने सामाजिक तनाव को कम करने के लिए जनता का ध्यान बार-बार भाई-चारे की ओर आकृष्ट किया तथा अपने शिष्यों को निरन्तर सामाजिक उत्तर-दायित्व की याद दिलाई।

भारतवर्ष में सूफीमत ने ऐसे महत्वपूर्ण काव्य तथा साहित्य को जन्म दिया है जिसके माध्यम से वह उदार विचारों को स्वतंत्र रूप से जनता तक पहुंचाने में समर्थ हुआ। यही कारण है कि उर्दू तथा हिन्दी का सूफी साहित्य आध्यात्मिक रहस्यमय भावनाओं के साथ ही मानवतावाद की भावनाओं से ओत-प्रोत है।

यह सूफीमत का ही प्रभाव था कि उर्दू काव्य में प्रायः मंदिर, मस्जिद; हिन्दू-मुसलमान आदि का भेद-भाव दृष्टिगत नही होता है अपितु मनुष्य मात्र की एकता का प्रतिपादन है। परिणाम यह हुआ कि उदार उर्दू कवियों ने अपनी कविता में खुदा और मनुष्य की वास्तविकता को गहराई से पहचाना है।

अब हम कुछ ऐसे उदाहरण देते हैं जिनमें सूफीमत में हिन्दू विचार प्रदर्शित होते हैं। यह समझ लेना आवश्यक है कि इनमें सूफी सिद्धान्तों तथा हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों की एकता दिखाई देती है।

सूफी पीर और हिन्दू गुरु— अपने व्यवहारिक जीवन के प्रारम्भ में सूफी मुरीद अपने पीर (धार्मिक उपदेशक) को वही स्थान देता है जो एक शिष्य अपने गुरु को प्रदान करता है। जिस प्रकार एक सूफी बिना पीर के नहीं बन सकता इसी प्रकार की प्रथा बहुत प्राचीन काल से हिन्दुओं में है कि अगर कोई अपना

धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे गुरु की सहायता लेनी चाहिए। उदाहरण के तौर पर हिन्दू धर्मशास्त्र कहते हैं "वेदांत में सबसे बड़ा रहस्यवाद ...उसे दिया जाना चाहिए जो ईश्वर के प्रति सबसे अधिक भक्ति रखता है और अपने आध्यात्मिक उपदेशक "गुरु की जैसी ईश्वर के लिए है।" "ईश्वर (ब्रह्म) के ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसे जाने दो, अपने आध्यात्मिक उपदेशक (गुरु) के लिए अपने हाथों में प्रकाश लेकर जाने दो; जो शास्त्रों में विद्वता प्राप्त कर चुका है जिसने ईश्वर पर सत्ता प्राप्त कर ली है।"

गुरु के प्रति इसी भक्ति का उपदेश हिन्दू धर्म में बाद में भी दिया गया है, उदाहरणार्थ तुलसीदास की रामचरितमानस में (जो लगभग 1574 ई० के लगभग लिखी गई है) हम पढ़ते हैं "गुरु ईश्वर (ब्रह्मा) के गुस्से से बचा सकते हैं लेकिन यदि गुरु स्वयं क्रुद्ध हो जाये, तो संसार में कोई नहीं है जो उसे बचा सके।"(i)

डा० उर कुर्ट (Dr.Urquhart) ने गुरु के हिन्दू धर्म में स्थान के विषय में इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं, "उपनिषदों की नाटकीय व्याख्या का गठन गुरु के लिए इस प्रकार किया है जो गम्भीर रहस्यवाद को बताता है और जब वह प्राप्त हो जाता है तो शिष्य से बहुत अधिक भक्ति की कामना की जाती है।"

एक आधुनिक हिन्दू लेखक वेंकटरमन सूफीमत में शेख (Shaykh) का मिलान इस प्रकार करता है "इस ज्ञान का वास्तविक स्रोत स्पष्ट है और वैदिक साहित्य से निश्चित समन्वय है।"

डा० उरकुर्ट गुरु की सत्ता के विषय में लिखते हैं "और विकास के रास्ते में और इसके परिणाम के लिए सत्य के लिए भक्ति और गुरु के लिए भक्ति पर्यायवाची हैं।"[29] (ii)

सूफियों का ईश्वर के सम्बन्ध में ध्यान की हिन्दू धर्म दर्शन से तुलना : ऐकेश्वरवाद—ईश्वर के सम्बन्ध में कुरान में कहा गया है "अल्लाह एक है :

(i) "The Guru can save from the Brahama's anger, but if the Guru himself be worth, there is no one in the world that can save,"

—Doha 169

(ii) "And in the course of the development and as a result of its devotion to the truth and devotion to the Guru become almost synonymous."

प्रत्येक चीज उस पर निर्भर है; वह पैदा नहीं किया गया और न उसे पैदा किया जाता; और यहां उनके समान कोई नहीं है।" (i)

वैदिक सृष्टि-विधा की दृष्टि से विश्व में दो ही मूल तत्व हैं — एक देव, दूसरा भूत। देव तत्व का ही दूसरा नाम शक्ति तत्व हैं। देव या शक्ति सूक्ष्म और अदृश्य है। भूत दृश्य और स्थूल है। प्रत्येक भूत एक-एक कूट या ढेर है; जिसकी विधृति शक्ति या देव कहलाता है। बिना देव के किसी भी भूत की पृथक सत्ता सम्भव नहीं है। मूल भूत देव तत्व एक और अखण्ड है। वही सृष्टि के लिए बहुभाव या नानाभाव में परिवर्तित होता है। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़," यही सृष्टि का मूल मन्त्र है। "एक सद्विपा बहुधा वदन्ति,' इस नियम के अनुसार एक तत्व ही बहुभाव या बहुधा भाव को प्राप्त होता है। जो मूलभूत एक है, उसे वेदों में "एक मेवा द्वितीयम" कहा गया है। वह ऐसा एक है, जिसमें दो, तीन, चार संख्याओं की कल्पना नहीं है। किन्तु वह अपनी निगूढ़ शक्ति से स्वयं ही बहुभाव को प्राप्त होता है।

यद्यपि देवों के अनेक नाम कहे गये हैं, किन्तु उन सब नामों के मूल में एक ही देव प्रतिष्ठित है।

'यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्न भुवना यन्त्यन्या।' •

(ऋ० 10/8213)

उपनिषदों की मीमांसा रूप ब्रह्म-सूक्षों में ईश्वर और जीव का तीन प्रकार का संबंध बताया गया :

(1) ईश्वर का अंश जीव है। (2) ईश्वर बिम्ब स्थानीय है और जीव उसका प्रतिबिम्ब है जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल या दर्पण हुआ करता है और वह भी अपना केन्द्र बनाकर अपनी चमक फैलाया करता है। (3) जीव ईश्वर से पृथक कोई वस्तु नहीं, ईश्वर ही छोटी उपाधि के घेरे में आकर परिछिन्न हो गया है।

वेदों में शतशः मंत्र ऐसे हैं, जो एक ही ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, वहां स्पष्ट कहा गया है कि —

ऋचो अक्षरे चरमे व्योमन्
यस्मिन देवा अधि विश्वे निषेदुः
पस्तन्त्र वेद किमृचा करिश्यति
य इत्तद्विदस्त इमे समासते ॥
(ऋ० 1/164/39)

(i) "Allah is one; All things depend on him. He begetteth not and he is not begothen; And there is none like unto Him."

अर्थात ऋचा के प्रतिपाद्य अक्षर परमाकाश रूप परब्रह्म, जहां सारे देवता निवास करते हैं, को जो नहीं जानता, वह वेद की ऋचा से क्या करेगा, अर्थात्, उसका वेद पढ़ना व्यर्थ है और जो उसको जान जाता है, वह अमृता-अवस्था मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार—

तदेवाग्निस्व दादित्पस्त द्वायुंस्तदु चन्द्रका: ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप: स प्रजापति: ।।

इस प्रकार के अनेक मंत्रों में एक ईश्वर ही भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में व्यवस्थित है, यह स्पष्ट कहा गया है । उपनिषदों में तो—

स देव सोम्वेद मग्र असीदेकमेवा द्वितीयम् इतियादि ।

इस प्रकार शतश: वाक्यों द्वारा सम्पूर्ण जगत का मूल तत्व ही एक परब्रह्म को माना गया है । अनेकेश्वरवाद की तो क्या, कथा, वेद में तो परमात्मा परब्रह्म ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं माना जाता है । ईश्वर की सजातीय, विजातीय और सवगत तीनों भेदों से रहित मानते हैं । वहां अनेकेश्वरवाद का स्वप्न भी नहीं देखा जा सकता ।

बात यह है कि परब्रह्म मन और वाणी से परे है, तब जहां मन की गति ही नहीं, उसकी उपासना किस प्रकार की जा सकती है । मन लगाने का नाम ही तो उपासना है । मन जिसे पकड़ ही नहीं सकता, उसमें लगेगा कैसे ? इसलिए, कोई आधार मानकर उस पर चित्त लगाना ही उपासना की सफलता के लिए आवश्यक हो जाता है । परब्रह्म से भिन्न नहीं है । इसमें तो कहीं भी मन लगाना ही कहा जाएगा, क्योंकि वह पदार्थ भी परब्रह्म से भिन्न नहीं है । इसी आशय से भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति प्रार्थना वेदों में की गई है कि वे ईश्वर के ही रूप हैं और अद्वैत भाव से भारतीय संस्कृति का अनुयाई नदी, वृक्ष, प्रतिमा आदि सबके सामने ईश्वर बुद्धि होकर मस्तक झुकाता है । वे उन जड़ पदार्थों को मस्तक नहीं झुकाते, वरन् उसमें विराजमान ईश्वर की सत्ता को ही सिर झुकाते हैं और भेदो ने जो भिन्न-भिन्न देवताओं की या उलूखल, मूसल आदि तक की स्तुति की है, वह भी परब्रह्म सत्ता की ही स्तुति है, यह निरुक्त आदि में स्पष्ट कर दिया है ।[30]

ईश्वर के संबंध मे सूफियों की विचारधारा और ब्रह्म के विषय में हिन्दुओं के उपदेश में समानता ध्यान में आती है यह केवल इन सामान्य विचारधाराओं में ही नही कि विश्व ही ईश्वर है और ईश्वर ही विश्व है, बल्कि हम इन दोनों को अनेक सिद्धान्तों में देख सकते हैं । हम यह देख चुके हैं कि सूफी ईश्वर के विषय में वुजुदी (Wujudi) तथा शुहुदी (Shuhndi) के मतों में बटे हुए हैं यह सिद्धान्त हिन्दुओं के ईश्वर के संबंध में अद्वैत अथवा बिसिशदेवता (Visisha-devata) (Modified non-dualism) से मेल खाता है ।

"वहाबतुल-वुजूदिया और अद्वैत हिन्दू दर्शन-सूफी प्राधिकारियो और हिन्दू धर्म-शास्त्रों में अनेक पृष्ठ इन दोनों में समानता दिखाने के लिए लिखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ जिली की पुस्तक" इन्सानुल-कमील (Insanul-kamil) के पृष्ठ हिन्दू पवित्र लेखों का शिक्षाओं से मेल खाते हैं। इस प्रकार उसकी अभिव्यक्ति सभी सत्ता के विषय में बताती है और वह प्रत्येक कण में और संसार के प्रत्येक अणु में पूर्णतया बताते हैं परन्तु वह अपनी अभिव्यक्ति में अनेकता में अनेक नहीं हैं परन्तु वह अपनी अभिव्यक्ति में पूर्ण रूप से एक है जो अपनी प्रकृति में शुद्ध रूप में है। वह उन सबमें एक है। वह पूर्ण सत्ता में एक है और इसके एक होने का रहस्य यह है कि उसने पूरी सत्ता को अपने में बनाया है और वह हिस्सों में नहीं बंटा है परन्तु इस संसार की प्रत्येक वस्तु इस कारण से पूर्ण है और बनाने वाले का नाम एक ऋण के रूप में है। कुदरत का सत्य इस संसार का सारांश (Hayula) है और ईश्वर ने कहा है "हमने स्वर्ग और पृथ्वी नहीं बनाए" प्राकृतिक सत्य हक (Haqq) के अलावा संसार एक बर्फ की भांति है और ईश्वर इसकी शक्ति बढ़ाने वाला पानी है और जो इस बर्फ की उत्पत्ति है। बर्फ नाम जमी हुई चीजों के लिए है और पानी नाम इसके लिए उचित नाम है। एक उपनिषद में इसी तरह के विचार मिलते हैं।" जिस प्रकार एक चिकनी मिट्टी के टुकड़े से प्रत्येक चीज बनाई जाती है और इस तरह की बनावट केवल मौखिक अन्तर नाम का है, वास्तविकता चिकनी मिट्टी का टुकड़ा है। जिस प्रकार जस्ने के एक टुकड़े से बनाई गई प्रत्येक चीज जस्ते की होती है, किया गया परिवर्तन केवल मौखिक अन्तर होता है। नाम का वास्तविक जस्ता है इस प्रकार यह शिक्षा है।

उपनिषदों में यह पूर्ण विवरण एक पिता तथा पुत्र में वार्तालाप के रूप है। पिता उदालका (Uddalaka) अपने पुत्र सविताकेतु (Savitaketu) को इस संसार की रचना की बातों को समझाते हैं कि प्रत्येक वस्तु किस प्रकार एक में से निकलकर बनी है।

सूफियों का शहुदिया सिद्धान्त और रामानुज का विशिष्ट अद्वैत और निष्कर्ष या निश परापन का सिद्धान्त (Nishparna ideal)।

सूफियों के शुहुदी सिद्धान्त और रामानुज के विशिष्ट अद्वैत सिद्धान्त में एकता है। एकतावादियों के सिद्धान्त "यहां कोई विभिन्नता नहीं है।" के विपरीत है "उसमें स्वयं में विविधता है।" ईश्वर इस संसार का विश्वव्यापी धरातल है।

आत्मा के सम्बन्ध में रामानुज के विचार सूफी शिक्षाओं से मिलते हैं। "आत्मा ईश्वर ने बनाई है, इसके द्वारा नियन्त्रित है, इसका शरीर इसके लिए उपयोगी है, इसके द्वारा कल्पित है, इसके द्वारा सूक्ष्म दशा में पहुंच जाती है

(सांसारिक वातावरण से समाप्त हो जाती है) इसकी पूजा करने वाली है, इसके उद्धार के लिए इसकी दया पर निर्भर है।"

इसी प्रकार उपनिषदों के विचार निष्परापन का आदर्श (Nishprapana ideal) की तुलना शुहुदी सिद्धान्त से की जाती है जो विशिष्ट अद्वैत का स्रोत है। निष्परापन के सिद्धान्त की प्रो० हिरयाना ने इस प्रकार व्याख्या की है—

इसका उद्देश्य एकता पर और यद्यपि ईश्वर और प्रकृति के दोहरे विचार पर लटकता है। वास्तविक एकता पर आने के लिए, इनमें से एक को रोकना चाहिए। जो रोका गया है, यदि यह प्रकृति का विचार है, इस संसार से अलग कोई ईश्वर नहीं होगा। यह सिद्धान्त कि विश्व ही ईश्वर है और ईश्वर ही विश्व है, की धारणा उपनिषदों के पूर्ण रूप से नहीं मिलती, शायद ऐसा इस लिए है कि वह प्रकृतिवाद के अधिक निकट है, तो सामान्य अनुभव का संसार ईश्वर से अलग रहकर समाप्त हो जाएगा। संक्षेप में यह संसार का अस्तित्व अस्वीकार करने के सिद्धान्त का विचार है। केवल यहाँ पर ईश्वर में अस्तित्व-वादी सिद्धान्त को अब्रह्म के दार्शनिक सिद्धान्त में परिवर्तित किया गया है।

3. हिन्दू दर्शन में "ब्रह्म का स्वरूप तथा सूफी मत में तनज्जुलत का सिद्धान्त—

सूफीमत में ईश्वर के विषय में जो कहा गया है वह हिन्दू मत में ईश्वर के वर्णन से बहुत कुछ मिलता है। हिन्दू मत में ईश्वर को "निर्गुण ब्रह्म पुकारा गया है अर्थात वह गुणरहित, गतिरहित, चेतनारहित तथा चरित्ररहित है। इसी प्रकार सूफीमत में ईश्वर को अल-आमा (Al-Ama) अर्थात् गुण रहित तथा सम्बन्ध रहित माना गया है। स्वेत्सवतरा उपनिषद (Svetas-vatra Upnishad) में भी ईश्वर को निर्गुण कहा गया है जो एक है तथा सर्व-व्यापी है तथा सभी वस्तुओं की अन्तर-आत्मा है। सभी के कार्यों का निरीक्षण करने वाला है, वह साक्षी है, अकेला विचारक है और गुणों से रहित है इसी प्रकार स्वेतकता (Svetakata) स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म सर्वोच्च है, परिभाषा रहित है तथा हर प्रकार के गुण-दोषों से रहित है, परन्तु समस्त सृष्टि का निर्माता है।

सृष्टि के निर्माण के सम्बन्ध में भी हिन्दू मत तथा सूफीमत में समानता मिलती है। सूफी मत में तनज्जुलत तथा हिन्दू मत के अनुसार "एक रूपता" ही सृष्टि के निर्माण के लिए उत्तरदायी है। हिन्दू मत के अनुसार यही सिद्धान्त "नाम रूप" (Name and form) का जन्मदाता है जैसे "वृहद आराण्यक उपनिषद" में कहा गया है कि "सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य का रूप आत्मा थी जो कि अपने चारों ओर केअलावा कुछ नहीं देखती थी।"

शंकर की शिक्षाओं में "उत्पत्ति", "सामान्य" तथा "विशेष" के क्रम बार

विकास का फल—यहाँ "सामान्य" का प्रयोग "वास्तविकता" तथा "विशेष" का प्रयोग सामान्य के प्रभावों तथा गुणों से है। अतः सूफीमत तथा हिन्दू मत में ईश्वर की एकरूपता तथा सृष्टि के निर्माण के सम्बन्ध में एक जैसे विचार पाये जाते हैं।

4. सूफीमत में "लतैफ" तथा हिन्दू योग में "चक्र"—

सूफीमत में लतैफ का सिद्धान्त तथा उसके द्वारा मानव शरीर में विभिन्न अंगों तथा नाड़ियों की स्थिति योग दर्शन में वर्णित विभिन्न "चक्रों" से मिलती है। योग दर्शन में मानव शरीर से अति सूक्ष्म नाड़ियों जैसे "इला", "पिंगला" तथा "सुषुम्ना" नाड़ी का अति महत्व है। सुषुम्ना नाड़ी उनमें सबसे महत्वपूर्ण है। इसके दायीं ओर पिंगला तथा बायी ओर इला है। सुषुम्ना नाड़ी में छः सूक्ष्म केन्द्र हैं जिन्हें "चक्र" कहते हैं और इनका अनुभव योग द्वारा किया जा सकता है। चक्र निम्न हैं—सहस्रा, अजना, विशुद्धि, अनहृता, मनीपुरा तथा मुलाधरा (Sahasrara, Ajna, Vishudhi, Anhata, Manipura and Muladhara)

इसके अलावा कुण्डलनि (Kundalini) है। कुण्डलिनी रहस्यवादी चमत्कार का प्रतीक है, जब वह सो जाती है, तो भक्त का मस्तिक अज्ञात अवस्था में चला जाता है, जब वह जागृत होती है और "सहसररा चक्र" में जाती है तो भक्त रहस्यवादी चेतना में आ जाता है और दैवी शक्ति में मिल जाता है। लतैफ में भी शरीर में विभिन्न नाड़ियों के महत्व को स्वीकार किया गया है जो कि मनुष्य के नाशवान शरीर के विभिन्न अंशों में छिपी हुई है।

5. सूफीमत में "फना" तथा उपनिषद में मोक्ष व बौद्ध धर्म के निर्वाण—

यद्यपि 'निर्वाण' शब्द का अर्थ विभिन्न विशेषज्ञों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया गया है परन्तु सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर इसका अर्थ "अन्त" लगाया जाता है। प्रो० दास गुप्त के अनुसार "निर्वाण" उस अवस्था को कहते हैं जो इच्छाओं का अन्त होने के कारण हर प्रकार के दु:ख का अन्त कर देती है परन्तु इस अन्त का अर्थ भौतिक शरीर के अन्त से है न कि आत्मा से जो कि सर्वव्यापी तथा अमर है। प्रो० रास डैविड्स (Rass Davids) ने बुद्ध धर्म की पुस्तकों का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला है कि "निर्वाण" मनुष्य के मन, दिल, दिमाग की उपयुक्त परिस्थिति से छुटकारा दिलाता है तथा कर्म व इच्छाओं का नाश करता है जो कि किसी मानव को जीवित रहने तथा दोबारा जन्म लेने की प्रक्रिया को उत्पन्न करता है। प्रो० दास गुप्त ने लिखा है कि "जब मनुष्य के कर्म समाप्त हो जाते हैं, किसी नये कर्म का जन्म नहीं होता, जब उसका दिल हर प्रकार की भविष्य की इच्छा से खाली हो जाता है तब कोई इच्छा जन्म नहीं लेती, जब उसकी जीवित रहने की इच्छा का अन्त हो जाता

है तब वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है तथा वह पूर्ण शान्ति, अच्छाई तथा बुद्धिमत्ता को प्राप्त कर लेता है।" इस प्रकार बौद्ध मत में चर्चित "निर्वाण" तथा सूफी मत में वर्णित "फना वा बका" (Fana wa Baqa) में बहुत कम समानता मिलती है।

फना तथा मोक्ष

सैद खरराज (Said Kharraz) जो इस सिद्धान्त (फना) के प्रतिपादक थे, ने बताया है कि "पूर्ण क्षय" (Annihilation) मानव चेतना (उबुदियात) का पूर्ण क्षय है और जीवन उपाय (Subsistcrcc) ईश्वर के ध्यान में जीवन उपाय (Ilahiyyat) हैं।

दूसरों के अनुसार फना अनियात (Aniyyat) का अदृश्य हो जाना है और यात्री का "मैं" ईश्वर का "मैं" हो जाता है। कुछ दूसरे हैं जो यह कहते हैं कि "फना" में यात्री के स्वत्व, (Essence) गुण (Attributes) और कार्य (action) ईश्वर के स्वत्व, गुण और कार्य बन जाते हैं। यही मत सभी सूफियों द्वारा स्वीकार किया गया है।

उपनिषदों में मोक्ष का अर्थ आत्मा की स्वार्थ-लोलुपता, इच्छाओं तथा जीवित रहने की इच्छा से मुक्ति को माना जाता है। यह सूफीमत के सिद्धान्त "फना वा बका" के समानान्तर है। इस वक्तव्य की सत्यता को सिद्ध करने के लिए अनेक उदाहरण दिए जा सकते है। उदाहरणार्थ मुण्डको उपनिषद में लिखा है "जिस प्रकार बहती नदियाँ समुद्र में गिरने के पश्चात् लुप्त हो जाती हैं, न उनका नाम रहता है और न उनकी शक्ल रहती है। इसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति पर न उनका नाम रहता है न ही उनकी शक्ल तथा वह उस समय परमात्मा में विलीन हो जाती है, जो सबसे ऊँचा है तथा जिसकी कोई सीमा नहीं है। इसी उपनिषद में आगे कहा है, "ओम (Om) धनुष है। आत्मा तीर है" इसी उपनिषद में आगे कहा है कि मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य उस अनन्त ब्रह्म में मिल जाता है। "मुण्डको उपनिषद" में इस स्थिति को "ईश्वर में लीन" होना माना गया है। सबसे बड़े उपनिषद के विचारक याज्ञवल्क्य ने मोक्ष पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं "एक मनुष्य जब अपनी प्रिय पत्नी का आलिंगन करता है, अन्दर तथा बाहर के विषय में कुछ नहीं जानता, उसी प्रकार यह व्यक्ति, जब बुद्धिमान आत्मा का आलिंगन करता है, अन्दर तथा बाहर के विषय में कुछ नहीं जानता है।" वास्तव में यह उसका वास्तविक रूप है, जिसमें उसकी इच्छा लुप्त हो जाती है, जिसमें आत्मा इच्छा होती है, जिसमें वह बिना इच्छा के होता है और बिना दुःख के होता है।

वेदान्त ज्ञान के आधार पर वे पवित्र आत्मायें जो सांसारिक माया को

त्यागकर पवित्र हो जाती हैं, वे ब्रह्म में लीन होकर जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाती हैं। मुण्डको उपनिषद के अनुसार जिस प्रकार सूर्य की किरण सूर्य में विलीन हो जाती है, इसी प्रकार ब्रह्म के ज्ञाता ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।

"फना वा बका" का जो अर्थ है वह मोक्ष के उपनिषदों में वर्णित अर्थ से इस प्रकार अधिक मेल खाता है।

प्रो० दास गुप्ता ने "मोक्ष" को "मुक्ति" का अर्थ दिया है। उसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है "उपनिषदों के अनुसार मोक्ष अनन्त की वह स्थिति है जिसके अनुसार मनुष्य अपनत्व का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेता है जिसमें अपनत्व समाप्त हो जाता है तथा आत्मा उस अपार ब्रह्म में विलीन हो जाती है, जो महान है, जो सबसे ऊँचा है तथा जो अदृश्य है।"

श्री एम० टी० टाइटस के अनुसार सूफीमत के दार्शनिक विचारों को अगर गहराई से देखा जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "फना" का विचार हिन्दू धर्म के विचारों से लिया गया है जिसमें ईश्वर (प्रकृति की आत्मा) तथा मानव आत्मा में सम्बन्ध स्थापित होता है। प्रो० निकलसन के अनुसार फना का विचार निश्चित रूप से भारतीय मूल का है। वह इससे आगे यह भी बताते हैं कि इसके प्रथम फारसी रहस्यवादी विचारक बयाजीद, जो बिस्तान के थे, ने ये विचार अपने गुरू अबु अली, जो सिन्ध के थे और जिन पर वैदान्तिक शिक्षाओं का प्रभाव था, से ग्रहण किये थे।

ताहीद (Tawhid) अथवा ईश्वर की एकता का सूफी सिद्धांत गोल्ड जीहर के अनुसार भारतीय दर्शन पर आधारित है। वे इससे आगे यह कहते हैं कि सूफी ऐकेश्वरवादी ईश्वर का विचार साधारण मुस्लिम से भिन्न है। एक सूफी यहाँ तक कहता है कि "मैं ईश्वर को जानता हूँ।" इस वाक्य में दोहरापन है जो वस्तु को देखने तथा विषय के ज्ञान का समावेश है और यह भी भारतीय विचार है।

सूफियों की बहुत सी रहस्यवादी क्रियाए बुद्ध-धर्म के तत्वों से मिलती हैं। इसमें आचार अथवा नीति सम्बन्धी आत्मा सभ्यता योगी, तपस्या और बौद्धिक निचोड़ योग के भारतीय आचार से लिये गए हैं। गोल्डजीहर के अनुसार सूफीमत की अधिकर की क्रिया, किनोसीज (Kenosis) और अति आनन्द और स्वास साधनों की क्रिया, स्पष्ट रूप से भारतीय मूल की है। भक्ति का सबसे सामान्य तरीका इनमें माला अथवा तसवीह है तथा इसके भारतीय मूल के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है।

श्री करनदीकर (Karandikar) के अनुसार सभी सूफी सन्त राजनैतिक मस्तिष्क अथवा प्रभाव के नहीं थे। बाद के सूफी-सन्तों ने शासकों से सम्बन्ध

विच्छेद कर लिये थे। इन्होंने जनता में कार्य किया। उनके लिए इस्लाम का विचार एक दैवी कानून की भाँति पूरे जीवन को आकर्षित करने वाला नहीं: था। वे ईश्वर के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने में अधिक रुचि रखते थे। और आध्यात्मिक प्राप्ति के लिए दूसरों की सहायता करना चाहते थे। स्वभावत वे धर्म प्रभावित नहीं थे और हिन्दू सन्तों की आध्यात्मिक गूढ़ता की प्रशंसा करते थे। इसके कारण सूफी-सन्तों और हिन्दू-सन्तों में सद्भावना पैदा हो गई। हिन्दू ऐकेश्वरवाद और मुस्लिम वहादत-उल-बुजुद में अनेक सामान्य बातें हैं। पाकिस्तानी विद्वान डा० इश्तीयाक हुसैन कुरेशी (Dr. Ishtiaq Hussain Qureshi) ने हिन्दू तथा मुस्लिम रहस्यवाद के बीच सम्बन्ध स्थापित किया है—

"···ईश्वर के विषय में विभिन्न विचार तथा उसकी घोषणाओं के विवाद से अलग रहकर, हिन्दू तथा मुस्लिम रहस्यवाद ईश्वर की सर्वव्यापकता, उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करना और उसकी प्राप्ति में स्वयं को मिटा देने में एक हैं। एक पढ़ता है कि हिन्दू योगी मुस्लिम सूफी की आध्यात्मिक विषय की सभा (Seances) में भाग ले रहा है और इसके विपरीत मुस्लिम रहस्यवाद के सामान्य तथ्य सिद्ध करते हैं कि उनके मार्ग भिन्न हैं परन्तु भौतिक रूप में एक हैं। डा० कुरेशी कबीर की व्याख्या करते हैं जिसने एक उचित धार्मिक कोशिश के गुणों का प्रचार किसी भी नाम के अन्तर्गत किया। उसने हिन्दू और मुसलमानों को यह कहने की कोशिश की—आपके अन्तर्गत जो धर्म के ठीक कार्य और महत्व को समझते हैं और सहृदयता से उसका पालन करने की कोशिश कर रहे हैं जैसा कि तुम कल्पना करते हो, इसलिए जिन आदर्शों को तुम दोनों प्रिय समझते हो, उनमें एक हो जाओ—यह धर्म को समुदाय से अलग करने का एक प्रयास था, सत्य को स्वीकार करने की एक प्रार्थना थी जहाँ यह पाई गई और इसको इस आधार पर कि यह दूसरे धर्म के विश्वासों का भाग है, अस्वीकार नहीं करना है।"

कबीर के शब्दों में "हिन्दू-मुस्लिम का एक ही मार्ग है, जिसकी ओर एक सच्चे शिक्षक ने संकेत किया है, कबीर कहता है कि ऐ सन्त सुनो उसे राम कहो या खुदा कहो।"

कबीर और नानक जैसे सन्तों का दावा हिन्दू और मुसलमान दोनों करते हैं। सूफी सन्तों की दरगाह और भक्ति सन्तों की समाधि को हिन्दू और मुसलमान दोनों पवित्र मानते हैं। रहस्यवादी साहित्य सभी के लिए खजाना है। बहुत से हिन्दू सन्तों ने उर्दू में लिखा अथवा फारसी में और बहुत से सूफी सन्तों ने बहुत-सी भारतीय भाषाओं में लिखा। बहुत से सूफी सन्तों ने हिन्दू देवताओं की प्रशंसा में गीत भी गाये। इन परिस्थितियों में इन समुदायों में साम्प्रदायिक

मतभेद का प्रश्न ही नहीं उठता।

ऐसा लगता है कि जब सूफीमत हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के सम्पर्क में आया उस समय तक उसके मुख्य सिद्धान्तों का गठन हो चुका था। ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में संस्कृत से अरबी में किसी हिन्दू रहस्यवाद का अनुवाद अब्बासी काल में नहीं हुआ था। सूफीमत और बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक सम्पर्क उत्तर-पश्चिमी इरान और मध्य एशिया में खलीफाओं के समय में हुआ। गोल्ड जीहर बौद्ध धर्म के अष्ट मार्ग और सूफियों के रहस्यवादी मार्ग में अनुरूपता देखता है। सूफियों के मुराकाबा (ध्यान लगना) और बौद्धों के ध्यान लगाने में एकता बताता है। सूफियों का पहनावा गोल्ड जीहर के अनुसार बौद्ध-धर्म से लिया गया है। गोल्डजीहर के अनुसार दैवी एकता (तौहीद) भारतीय दर्शन से लिया गया है।

दैवी एकता और मोक्ष (फना) का विचार उपनिषद और वेदान्त मूल का है। कुछ समय पश्चात् ट्रांसओकिसाना में बुद्ध के विचारों का प्रभाव सूफी मत पर बहुत अधिक था। जेहनीर (Zeahner) ने अब याजिद के विचारों पर बौद्ध धर्म के विचारों का प्रभाव बताया है। सूफियों का व्यायाम जैसे हब्स-इ-दाम (स्वांस रोकना) को बौद्धों के प्राणायाम से लिया गया माना है। सूफीमत का "सुल्ह-कुल" (Peace with oll) का विचार महायान बौद्ध धर्म से लिया गया माना है, न कि सीधे हिन्दू यौगिक क्रियाओं से। कुछ सूफियों के •जियारत (Ziyarats) मकबरे और स्मृति-चिह्न मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के स्तूपों पर बने हुए हैं। ऐसा लगता है कि कुछ बौद्धों के विचार और मत ट्रांसओकिसाना में इस्लाम ने अपना लिए। नक्सबन्दी सम्प्रदाय का नेता बहा-अल-दीन बुखारा को जिस गाँव के निकट दफन किया गया हैं, वह स्थान 'कसर-इ-हिन्दुवी" (Qasr-i-Hindawi) (Hindu Palace) कहलाता है और बौद्ध धर्म का तीर्थ स्थान था, बाद में इसका नाम बदलकर "कसर-इ-उराफीन" (Qasr-i-Arifin) (Palace of the gnostics) अर्थात ज्ञान से सम्बन्धित राजप्रासाद कर दिया गया। नक्सबन्दी सम्प्रदाय की तसावबर-ई-शेख (Tasawwar-i-Shaykh) बौद्ध धर्म से ली गई लगती है। इस क्रिया में प्रारम्भिक शिक्षा से ही अपने मस्तिष्क पर खुदा का चिन्तन चिह्न बनाना होता है और इसको अधिक गहराई से देखा जाये तो यह हिन्दू-धर्म की तपस्या ही है, बल्ख जो बौद्ध धर्म के सन्तों का घर-सा बन गया था. बाद में सूफी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध संतों का घर-सा बन गया। जपने की माला (Rosary) का प्रयोग हिन्दू-बौद्ध धर्म से लिया गया। बौद्ध धर्म द्वारा ऊँचे स्थान पर लगाकर तपस्या करना बौद्धिक सार (Intellectual abstraction) ने भी सूफी मत पर अपना प्रभाव डाला है।

इस ऋणग्रस्तता के साथ-साथ सूफीमत और हिन्दू धर्म की बहुत सी

रहस्यवादी क्रियाओं में समानता है। स्वर्ग के विषय में सांख्य में जो विचार प्रकट किये गये हैं उसी प्रकार के विचार सूफीमत में हैं। मोक्ष के विषय में हिन्दू-धर्म तथा सूफी मत के विचार लगभग समान ही हैं और अब याजीद के सत्व-विद्या सम्बन्धी अर्थात रहस्यवादी ब्रह्मवाद (वेदान्त) और पन्तजलि के इसी तरह के सिद्धान्तों में समानता है।

इसी तरह की समान बातें हिन्दू और मुस्लिम रहस्यवाद में और भी मिलती हैं जैसे "वास्तविकता सर्वोच्च है" (परम और मुतलक), यह है सत्य का सत्य (हकीकत-अल-हकीयाक-सत्पासया सत्यम्) और इसी तरह की अन्य बातें।

सूफियों ने हिन्दू धर्म से नीति कथा को उधार लिया और रहस्यवादी प्रथाओं के द्वारा तरीके की व्याख्या करने के लिए उधार लिया। निजामुद्दीन औलिया ब्राह्मणों की नीति कथाओं की व्याख्या करते हैं कि एक ब्राह्मण ने अपना सब कुछ खो दिया था, परन्तु वह खुश था क्योंकि उसके पास उसका पवित्र धागा (जनेऊ) था। इस कथा को उसने इसलिए बताया कि मनुष्य को नैतिक पतन नहीं करना चाहिए और उसे सांसारिक वस्तुओं की लालसा नहीं करनी चाहिए और ईश्वर का प्यार नहीं खोना चाहिए। यही केवल एक ऐसा धन है जिसे संगृहित करना चाहिए। गेसूदराज ने भी हिन्दू नैतिक कथाओं की व्याख्या की है।

अलबरूनी के बाद एक मुस्लिम द्वारा हिन्दू रहस्यवाद पर लिखा ग्रन्थ रूकन-अल-दीन समरकन्दी का "अमृतकुण्ड" है। पहले यह अरबी में लिखा गया फिर फारसी में। यह कार्य एक ब्राह्मण भुजन (Bhujan) की सहायता से किया गया। उससे उसने संस्कृत सीखी और फिर उसे इस्लाम मे परिवर्तित किया।

चौदहवीं शताब्दी में भारतीय सूफियों पर हिन्दू-बौद्ध धर्मों का यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने जंगलों में भ्रमण प्रारम्भ किया। शरफ-अल-दीर अबू अली (मृत्यु 1323 ई०) को कलन्दर के नाम से पुकारा जाने लगा क्योंकि वह बहुत अधिक भ्रमण करते थे। दिल्ली के नसीर अल-दीन चिराग और उनके शिष्य गेसूदराज को भ्रमण करने वाला दरवेश कहा जाने लगा। पहले तो उनके मार्ग दृष्टा निजामुद्दीन औलिया ने कस्बे में आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की सलाह दी थी। इस क्षेत्र में सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात शरफअल-दीन माहया की है जिसने काफी भ्रमण के पश्चात् मगध को अपना केन्द्र बनाया जो सूफी तथा हिन्दू धर्म दोनों के लिए पवित्र था जो अब मखदूम कुण्ड के नाम से जाना जाता है। चौदहवीं शताब्दी में लल्ला कवित्री (Lal Ded) के प्रयत्नों से शैव मत और नकसबन्दी सम्प्रदाय आपस में निकट आ गए।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दू धर्म से परिवर्तित और अर्ध-परिवर्तित जनता में हिन्दू विचारों ने पूर्ण रूप से प्रवेश किया। इसी समय हिन्दुओं में भक्ति आंदोलन चला। सूफीमत में भी अनेक तांत्रिक विद्याएँ और प्रमुख अन्ध विश्वास अपना लिए गए। इसी समय सूफी कलन्दरों ने दर-अल-इस्लाम की भूमि में दूसरे देशों में काफी, अफीम और गांजा का प्रयोग फैलाया।

सत्तारी (Shattari) सम्प्रदाय जो सूफीमत का एक सम्प्रदाय था, ने सीधे हिन्दू रहस्यवाद और उसके योग से उधार लिया। सत्तारी मत के अनुयाई जंगलों में हिन्दू योगियों की भाँति कन्द मूल, फल और जड़ी बूटियों पर रहते थे और शरीर को अधिक कष्ट देने तथा आध्यात्मिक क्रियाओं में विश्वास करते थे। सत्तारियों की "धिकर" क्रिया पूर्ण रूप से एकान्त और सफाई के वातावरण में होती थी। इसने कलमा को मुस्लिम सत्यापित माना परन्तु इसका स्मरण अरबी, फारसी और हिन्दी में हो सकता था। ऐसा कहा लगता है कि धिकर की व्याख्या ने कुछ चीजें सीधे हिन्दू धर्म से ग्रहण कीं। उदाहरणार्थ ओ, ही ही (o' hi hi) का सूत्र उपनिषद् से लिया गया है ला-आई (La-i) हवा, आई (L) अग्नि यू (U) सूर्य और ऐ-हो आई (au-ho-i) सब देवताओं को बताता है। उनके शारीरिक अनाचारों में योगियों के आसन और समाधि सम्मिलित है। सम्प्रदाय ने ग्वालियर क्षेत्र में बड़ी ख्याति पाई जहाँ उनके सबसे प्रसिद्ध प्रतिनिधि मुहम्मद गोथ का घर था। उसने यौगिक अभ्यासों पर बेहर-अल-हयात (Bahr-al-hayat) नामक विवेचनात्मक लेख लिखे।

पन्द्रहवीं शताब्दी से आगे भारत में सूफियों ने वेदान्त के सिद्धान्तों और इब्न-अल-अराबी के सिद्धान्तों में समानता देनी प्रारम्भ की। सभी बड़े सूफी सम्प्रदायों चिश्ती, कादरी और नक्सबन्दी ने भारत में हिन्दू धर्म के साथ सह-अस्तित्व, सदभाव और मेलजोल की नीति को अपनाया।[31]

संक्षेप में सूफी सन्तों ने जनता को यही संदेश दिया कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव की दीवार व्यर्थ है। सभी मानव समान हैं तथा उन्हें प्रेम से गले लगाना चाहिए। सभी धर्मों का लक्ष्य विभिन्न साधनों द्वारा एक ही स्थान पर पहुँचना है और वह है प्रभु का साक्षात्कार। सम्पूर्ण मानव जाति एक है, धर्म तथा देश के नाम पर लड़ना कोरी मूर्खता है। उलेमा वर्ग ने शरीअत की पवित्रता की दुहाई देकर हिन्दू-मुसलमानों की धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रथकता पर जोर दिया था परन्तु सूफियों ने उस महान विचारधारा को प्रवाहित करने में सहयोग दिया जहाँ खुदा की नजर में सब समान हैं। यूसुफ हुसैन ने लिखा है कि सूफी सन्तों ने सामूहिक जीवन को एक नए धरातल पर ढालने की कोशिश करते हुए एक ऐसे समाज की कामना की जिसमें हर वर्ग के लोग अपनी मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का पूर्ण अवसर पा सके।

प्रो० रिजवी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि सनातन पंथी इस्लाम ने शरीयत द्वारा हिन्दुओं के लिए जो दर्जा नियुक्त किया था वह भारत जैसे देश के लिए जहाँ की अधिकांश जनता हिन्दू थी—व्यावहारिक नहीं था। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि सूफियों के उदार विचारों ने समय की वास्तविकता को धार्मिक औचित्य प्रदान किया जो सम्पूर्ण मानव समाज तथा जीव मात्र के लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुआ। दया, प्रेम, सहानुभूति, क्षमा, सहकारिता आदि मानव गुण विश्व-प्रेम के ही अनुचर रहे हैं। विश्व की शान्ति स्थापक संस्थाएँ भी मध्यस्थों द्वारा उसी संदेश का प्रचार करती हैं जिसकी व्यापक स्थापना सूफीमत के आधार पर की जा सकती है।[32]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में सूफीमत ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच एकता स्थापित करने की कार्यवाही को भलीभाँति जारी रखा जिससे भारत में मानव-मानव के बीच धर्म के आधार पर बनी दीवार कमजोर बनती गई और एक दिन ऐसा आया जब अकबर जैसे शासक ने भी इस दीवार को राजनीति से भी समूल नष्ट करने की कोशिश की और उसे कुछ हद तक सफलता भी मिली।

संदर्भ :

1. सर मोहम्मद इकबाल : दी रीकन्सट्रकशन आफ रीलीजियस थॉट इन इस्लाम पृ० 1-51
2. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत पृ० 485-88
3. डा० ताराचन्द : इन्फलुएन्स आन इस्लाम आन इण्डियन कलचर पृ० 66-67
4. वही, पृ० 77
5. वही, पृ० 76
6. वही, पृ० 77
7. वही, पृ० 82
8. वही, पृ० 51-52
9. वही, पृ० 52
10. वही, पृ० 53
11. वही, पृ० 53-54
12. वही, पृ० 58-60
13. वही, पृ० 61
14. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत पृ० 486-88
15. जोन ए० सुभान : सूफीइज्म-इट्स सेन्टस एण्ड शराइन्स, पृ० 132-150

16. अजीज अहमद : इस्टडीज इन इस्लामिक कलचर इन दी इण्डियन इन्वायरमेंट पृ० 114।
17. डा० मुरे टी० टिट्स : इण्डियन इस्लाम पृ०, 148-49
18. जोन ए० सुभान : सूफीइज्म-इटस सेन्टस एण्ड शराइन्स पृ० 119-221
19. वही, पृ० 193-96
20. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 489
21. खलीक अहमद निजामी : सम-आसपेक्टस आफ रीलिजन एण्ड पालिटिक्स इन इण्डिया ड्यूरिंग दी थरटीन सेन्चयूरी, पृ० 187 और डा० मुरे टी० टिटस : दि इण्डियन इस्लाम, पृ० 151
22. मो० हबीब : दिल्ली सल्तनत पृ० 364-65
23. खलीक अहमद निजामी : इस्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर पृ० 93
24. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 490
25. प्रो० एम० मुजीब : दी इण्डियन मुस्लिमस्, पृ० 23-27-56-57
26. एवं हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 491
प्रो० एम-मुजीब : दी इण्डियन मुस्लिम, पृ० 166, 67
27. अजीज अहमद : इस्टडीज इन इस्लामिक कलचर इन दी इन्डियन इन्वायर-मेंट, पृ० 115-18
28. खलीक अहमद निजामी : सम आसपेक्टस आफ रीलीजन एण्ड पालिटिक्स इन इण्डिया ड्यूरिंग दी थरटीन सेन्चुरी, पृ० 263
29. जोन ए० सुभान : सूफीइज्म-इटस सेन्टस एण्ड शराइन्स, पृ० 134-58 और डा० मुरे० टी० टिट्स : इण्डियन इस्लाम, पृ० 149-50 और एम० ए० करनदीकर : इण्डियाज ट्रांजीसस टू माडर्नइटी पृ० 123 और अजीज अहमद : इस्टडीज इन इस्लामिक कलचर इन दी इण्डियन इन्वायरमेंट पृ० 135-38
30. जोन ए० सुभान : सूफीइज्म इट्स सेन्टस एण्ड शराइन्स पृ० 132-33
31. म० म० प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति पृ० 5-6, 118, 226, 27
22. हरीशचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत, पृ० 494-95, 98-99

अध्याय-11

हिन्दू-मुस्लिम एकता—अन्य प्रमुख क्षेत्र

हिन्दू-मुस्लिम एकता का राजनैतिक, साहित्य, कला, संगीत, विचारधारा (भक्ति तथा रहस्यमयी) आदि क्षेत्र में अब तक हमने अध्ययन किया है परन्तु अब भी कुछ क्षेत्र ऐसे बचे हुए हैं जो इनसे बाहर रह गये हैं और उनका वर्णन मेरे विचार में करना आवश्यक है जिससे पाठकगण अन्य क्षेत्रों में एकता के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकें। उनका वर्णन इस प्रकार है—

पूजा—मध्यकाल में हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा पूजा करने के विश्वास तथा ढग पर लिखने से पहले मैं भारत में ऋग्वैदिक, उत्तर वैदिक तथा महाकाव्य काल में पूजा तथा इस्लाम का प्रचार होने से पहले और मुहम्मद साहब द्वारा पूजा के विषय में विचार व्यक्त करना चाहता हूँ। साथ ही भारत में मुसलमानों के आगमन के बाद भारतीय मुसलमानों द्वारा पूजा करने के विषय में मैं जानकारी प्राप्त कराना आवश्यक समझता हूँ तब पाठकगण स्वयं अनुमान लगा सकेंगे कि भारतीय हिन्दू तथा मुसलमानों की पूजा क्या है ? तथा कितनी समानता दोनों में इस क्षेत्र में उत्पन्न हो गई थी ?

भारतीय संस्कृति में भक्ति और उपासना की प्रधानता है। मनुष्य अपने कल्याण साधन के लिए उन्हीं का आश्रय लेता है। किसी ईश्वर रूप में अपने चित्त को स्थिर करने का नाम ही उपासना है और चित्त की स्थिरता बलपूर्वक नहीं होती, किन्तु प्रेम से ही चित्त स्थिर होता है। उसे ईश्वर से प्रेम होता है। उस ईश्वर-प्रेम को भक्ति कहते हैं।

पूजा (इबादत) अति भृत्यभाव अथवा भक्ति के लिए एक शब्द है जो हमारे वास्तविक पैदा करने वाले के सम्मुख व्यक्त किया जाता है जिसके प्रमुख तरीके (ढंग) हैं : प्रार्थना, उपवास, दान देना और मक्का का हज करना।

धार्मिक सन्देश का कार्य मुहम्मद साहब ने प्रारम्भ कर दिया परन्तु मक्का

वासियों ने उनकी अवहेलना की और उन्होंने उनकी बातों को अनसुना कर दिया। कुछ ने उनमें अविश्वास प्रकट किया और कहा : कैसे एक मृतक व्यक्ति जो धूल में मिल गया है; फिर खड़ा हो सकता है। मुहम्मद हमारे देवताओं को एक ईश्वर बता रहा है। यह एक आश्चर्य की बात है··· मुहम्मद केवल मरण-शील है; वह खाना खाता है और बाजार घूमता है। यदि वह ईश्वर का दूत था तो वह सबके लिए स्वर्ग क्यों नही भेजता जहाँ से वह जाता है। अल्लाह हमारे मार्ग दर्शन के लिए एक दूत क्यों नहीं भेजता? हमारे पूर्वज देवताओं की पूजा करते थे जिन्हें हम पूजते हैं। वे गलती पर कैसे हो सकते हैं?

प्रार्थना के विषय में कुरान में कहा गया है :

"प्रत्येक व्यक्ति के लिए हमने पूजा के ढंग निर्धारित किए हैं जिन्हें वे मानते हैं। इसलिए उन्हें इस बात पर नहीं झगड़ना चाहिए, बल्कि अपने मालिक (ईश्वर) के सही रास्ते पर उन्हें लाना चाहिए : अगर वे इस सम्बन्ध में विवाद करें तब कहो : अल्लाह सबसे अच्छा ज्ञाता है कि वह क्या करता है। वह अन्तिम फैसले के दिन निश्चित करेगा कि किस मामले पर वह भिन्न है।" (22 : 66.9)

प्रार्थना का रूप झगड़े का मामला न बनने दो। जिस तरफ आप अपना चेहरा परिवर्तित करते हैं यह निश्चित रूप से प्रार्थना की आत्मा (प्रवृत्ति) नहीं हो सकती। इस विषय में कुरान पूर्णरूप से स्पष्ट है :

'पूर्व और पश्चिम अल्लाह के हैं : इसलिए जिस ओर वह चेहरा करता है, उसी ओर ईश्वर का चेहरा है।" (2 : 109)

ऋग्वैदिक काल के लोगों का धर्म बहुत ही साधारण था। वे प्राकृतिक घट-नाओं के रूप में बहुत से देवताओं की पूजा करते थे। वे पृथ्वी सम्बन्धी बहुत से देवताओं में विश्वास करते थे जैसे इन्द्र, वायु, मारूत तथा प्रजान्य और स्वर्गीय देवताओं जैसे वरुण, दयूस (Dyaus) असविन, सूर्य, सावित्री, मित्रा (Mitra) पुशन और विष्णु।

यद्यपि बहुत से देवताओं का वर्णन ऋग्वेद में हैं परन्तु ईश्वर की एकता की अवहेलना नहीं की जाती थी। इसका वर्णन एक पद में स्पष्ट रूप से किया गया है।

"वे उन्हें पुकारते थे, इन्द्र, मित्रा, वरुण,
और अग्नि; वह है स्वर्ग की चिड़िया गरूतमत;
वह एक है, कवि उन्हें अनेक नाम से पुकारते हैं,
वे उसे पुकारते हैं, यमा, ए मतारी सवान।"
They Call him Indira, Mitra, Varuna

and agni, He is the heavenly bird garutmat;
To what is one, the poets give many a name,
They call it Agni, yama, a matari svan"

मैकसमूलर के अनुसार बहुदेव पूजा (Polythcism) का नाम ऋग्वैदिक धर्म के लिए देना उचित नहीं है।

बाद के वैदिक काल में (ब्राह्मण काल) धार्मिक स्थिति में परिवर्तन हो गया और यज्ञ (Sacrifices) करने की भावना अधिक बढ़ गई। प्रतीकवाद (Symbolism) पर अधिक जोर दिया गया। महाकाव्य काल (the Epic-age) में धर्म के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। वैदिक काल के देवताओं के पद ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव ने ग्रहण कर लिए थे। अनेक देवता और देवी जैसे गणेश और पार्वती प्रसिद्धि प्राप्त कर गये। अवतार अथवा विष्णु का अवतार तनुधारी का सिद्धान्त प्रसिद्ध हो गया। राम और कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में पूजा जाने लगा। भगवद्गीता हिन्दुओं की सबसे प्रसिद्ध धार्मिक पुस्तक हो गई।

पुराणों में भक्ति के विषय में लिखा गया है कि वह ऐकेश्वरवाद के दर्शन पर निर्भर थी। उसी समय के ब्राह्मणवाद को ध्यान में रखकर अलवरूनी ने लिखा है—"हिन्दू एक ईश्वर में विश्वास करते हैं जो शाश्वत है और अनादि-अनन्त है।"[2]

जब इस्लाम का उद्‌भव हुआ उस समय अरब के अधिकांश निवासी मूर्ति-पूजक थे। वे अल्लाह को सर्वशक्तिमान मानते थे और उसका नाम समस्त प्रलेखों के शीर्षक में लिखा जाता था किन्तु अल्लाह उनकी उपासना का लक्ष्य नही होता था। कुरान में लात, मानत तथा उज्जा नामक तीन मूर्तियों का उल्लेख मिलता है जिनकी मध्यस्थता ईश्वर की पुत्रियों के रूप में चाही जाती थी। अन्य जन-जातियों की मूर्तियों का उल्लेख करना व्यर्थ है। यद्यपि कावा में स्थानाभाव था फिर भी उसमें लगभग तीन सौ मूर्तियाँ या उनके प्रतीक रखे थे; उनमें केवल एक, हाबल की प्रतिमा थी।

चालीस वर्ष की अवस्था में हज़रत मुहम्मद ने एक दीर्घकालीन आध्या-त्मिक शक्ति का अनुभव प्राप्त किया जिसके फलस्वरूप उन्हें यह निश्चय हो गया कि वह एक नबी (सिद्ध पुरुष) और "रसूल" (देवदूत) हैं जिसे ईश्वर ने मनुष्य मात्र के चिरकालीन धर्म अर्थात् आदम, नूह, मूसा, ईसा मसीह तथा अन्य सिद्ध पुरुषों द्वारा प्रतिपादित धर्म, जिनमें हम कोई अन्तर नहीं समझते; को स्थापित करने या अधिक उपयुक्त शब्दों में पुनर्स्थापित करने के लिए भेजा है।···मूर्तिपूजक अरबों को बताया गया कि जिन देवियों के मध्यस्थ वे अल्लाह को पुत्रियाँ या किसी भी रूप में उनका दैवी मध्यस्थ समझकर पूजा करते हैं,

उनका अस्तित्व ही नहीं है। अल्लाह की सीधे आराधना करनी चाहिए। कुरान में लिखा है; तुम मेरा चिन्तन करो और मैं तुम्हारा चिन्तन करूंगा और पुन: "जब मेरा भक्त मेरी प्रार्थना करता है तो मैं उसके निकट होता हूँ। इस नये धर्म अर्थात् इस्लाम का आधार ऐकेश्वरवाद है। समस्त मुसलमान भाई-भाई हैं और इस्लाम मठाधिसत्ता या पुरोहिताई सहन नहीं करता।[3]

उपर्युक्त दोनों धर्मों के विवरण से पूर्णत: स्पष्ट है कि ऋग्वेद कालीन धर्म में जिस प्रकार कोई मूर्ति-पूजा नहीं थी और ईश्वर की एकता में विश्वास किया जाता था ठीक उसी प्रकार इस्लाम का जब प्रारम्भ हुआ तो उसने अरब समाज में व्यापक मूर्ति-पूजा को समाप्त किया अर्थात् मूर्ति-पूजा को कोई स्थान नहीं था और ईश्वर की एकता में पूर्ण विश्वास किया जाता था। प्रारम्भ में हिन्दू और इस्लाम धर्म के उद्देश्यों में काफी समानता थी।

जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया अर्थात् महाकाव्य काल तक धर्म के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए और हिन्दू-धर्म में मूर्ति-पूजा अर्थात् प्रतीकवाद बहुत अधिक जोर पकड़ता गया और जब मुसलमान भारत में आए तो हिन्दू-धर्म में देवी-देवताओं की पूजा अनेक रूप में हो रही थी। ठीक इसी प्रकार जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया भारतीय मुसलमानों में भी अनेक प्रतीकों के रूप में पूजा प्रारम्भ हो गई थी और सल्तनत काल के अन्त तक धार्मिक पूजा के प्रतीक तथा अनेक कर्मकाण्ड हिन्दुओं की भाँति बहुत बढ़ गए थे। मुसलमानोंमें व्याप्त पूजा के विषय में श्री एम० मुजीब ने "दी इण्डियन मुस्लिम" नामक पुस्तक में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

करनाल (दिल्ली के उत्तर में) में 1865 ई० तक बहुत से मुस्लिम कृषक अपने पुराने गाँवों के देवताओं की पूजा करते थे। साथ ही मुसलमान होने के कारण कलमा (Kalma) भी पढ़ते थे। पंजाब, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त, जम्मू-कश्मीर राज्य में शिक्षित तथा अशिक्षित मुसलमान अन्धविश्वासों में विश्वास करते थे और मृतक तथा जीवित सन्तों के साथ अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए जाया करते थे और जादू-टोने में विश्वास करते थे।

अलवर और भरतपुर राज्यों में मेव और मीना (Meos-and Minas) रहते थे। उनके नाम पूर्ण रूप से हिन्दू थे और अपने नाम के साथ खान (Khan) लगा लेते थे। वे केवल दीवाली और दशहरा ही नहीं मनाते थे बल्कि कृष्ण की जन्माष्टमी भी मनाते थे। वे अमावस्या भी मनाते थे और जब वे कुआँ खोदते थे तो एक चबूतरा बनाते थे और हनुमान की पूजा करते थे। केवल कुछ ही कलमा पढ़ सकते थे। उनके पूजा के स्थान पंच पीर, भैया अथवा मोमिया और चहुण्डा थे। चहुण्डा जो खेड़ा देवता के नाम से भी जाना जाता था, पर एक चबूतरा बनाया जाता था और महादेवी-देवी को प्रसन्न करने के लिए पशुओं

की बलि चढ़ाते। साथ ही मेव (Meos) सालार मसूद गाजी (जो गज़नी के मसूद के एक सेनापति के पुत्र थे, ऐसा विश्वास किया जाता है) मदार साहब तथा ख्वाजा साहब (अजमेर के ख्वाजा मुइजुद्दीन चिश्ती) के मकबरे की पूजा करते थे। मसूद गाजी की प्रत्येक मेव गाँव में शबेरात के दिन पूजा होती थी। मेव भी हिन्दुओं की तरह अपने गोत्र में शादी नहीं करते।

मीना, जो एक वन्य जाति है, धरचा (Dharecha) व्यवहार में लाते थे। भैरों (शिव की एक शक्ल) तथा हनुमान की पूजा करते थे और कटार (Katar) से शपथ लेते थे। बून्दी राज्य में परिहार मीना रहते थे जो गाय तथा जंगली सुअर के गोश्त को निषिध मानते हैं। रतलाम से लगभग 50 मील दूर जाओरा (Jaora) क्षेत्र में कृषक मुसलमान शादी के समय हिन्दू रीति-रिवाज को मानते हैं; चेचक की देवी की पूजा करते हैं और शादी के समय तोरण लगाते हैं।

अहमदाबाद के निकट पालनपुर के अपने विश्वास अलग हैं। वे तकिया (Taqiyah) को व्यवहार में लाते हैं। तकिया का अर्थ है—विश्वास को छिपाना—में विश्वास करते हैं। ये दारिया अथवा चक्र में संगठित किए गए और उनके धार्मिक प्रमुख सैयद कहलाए। ये अपने ही सम्प्रदाय में शादी करते हैं। इसी क्षेत्र में कोली, भील, सिन्धी और ठाकुर रहते हैं। इन्होंने इस्लाम तो स्वीकृत कर लिया है परन्तु अन्ध विश्वास के कारण उन्होंने अपराधी प्रवृत्ति (Nature) को नहीं छोड़ा है।

सिन्ध के पार रेगिस्तान में सुन्नी मोमीन रहते हैं। सिन्ध नदी की पूजा के लिए पूजा-पद्धति अलग है और दरिया पंथ की पूजा करते हैं। इसी क्षेत्र में गोरवरी जिले में माई पीर (Mother Saint) की पूजा की जाती है।

सिन्ध में बहुत से अवित सम्प्रदाय हैं। पंच भाई सम्प्रदाय के इस्माइल खोजा आगा खाँ के अनुयायी हैं तथा वे अली को विष्णु का दसवाँ अवतार मानते हैं। ये कुरान के स्थान पर एक अन्य धार्मिक ग्रन्थ पढ़ते हैं जो पीर सदरूद्दीन ने लिखा था। इनकी प्रार्थना में हिन्दू और इस्लाम दोनों की बातों का सम्मिश्रण होता है। आगा खाँ के अनुयायियों ने अभी तक हिन्दू-धर्म की बातों को, जो जन्म, शादी और मृत्यु से सम्बन्धित है, अपना रखा है। धिकारीज (Dhikaris) कुरान पढ़ते हैं परन्तु यह विश्वास करते हैं कि मुहम्मद साहब की आज्ञा को मेंहदी ने अधिग्रमण कर दिया है। खदराज (Khadras) स्त्रियों की तरह वस्त्र पहनते हैं और स्वयं को फकीर कहते हैं तथा देवल देवी की पूजा करते हैं। उसकी मूर्ति की स्थापना करते हैं तथा आटा, मीठा और घी का भोग लगाते हैं।

उत्तर प्रदेश तथा मध्य भारत में गाजी मियों नामक नये मुसलमान हैं।

ये उर्स अथवा मृत्यु की वर्षगांठ मनाते हैं और सन्तों के मकबरों की पूजा करते हैं। पूर्णियां जिले में हिन्दू धर्म के निचले वर्ग तथा मुसलमानों के धार्मिक विश्वास और मान्यताएँ मिलती हैं। प्रत्येक गांव में काली स्थान है जहाँ काली देवी की पूजा की जाती है। प्रत्येक मुसलमान के घर के पास 'खुदा का घर' नाम का छोटा-सा स्मारक बना होता है जहाँ पर अल्लाह और काली दोनों के नाम से प्रार्थना की जाती है। शादी के समय इन स्थानों पर भगवती देवी की पूजा की जाती है। यहाँ हिन्दू और मुसलमानों का सबसे प्रमुख देव 'देवता महाराज' है। किशनगंज में बंगाली मुसलमानों की उपजाति में "खुदा का घर" तथा "बसीहारी माँ का घर" दोनों की पूजा की जाती है।

चौबीस परगना के बरारात और बसीरहट क्षेत्र में मोबराह (मुबारक) गाजी की पूजा करते हैं। इसमें फकीर जंगल में जाकर कुछ स्थान साफ करके एक घेरा (Circle) बनाते हैं जिसमें जगवन्धु, महादेव और मंशा देवी की पूजा की जाती है। इसी घेरे के पास छोटा चबूतरा बनाया जाता है जहां रूप परी, काली मैया, बूढ़ी ठकुराइन आदि की पूजा की जाती है। कुछ दूसरे घेरे भी बनाये जाते हैं जिनमें से एक में मुबारक गाजी तथा उसके भाई कालू तथा दूसरे में उसका पुत्र चावल पीर तथा भतीजा राम गाजी के चिन्ह बनाये जाते हैं। एक अन्य घेरे में वस्तु देवता (धरती) का चबूतरा बनाया जाता है और उनकी पूजा की जाती है।

चटगांव जिले में पीर बदर (Peer Badar) की हिन्दू और मुसलमान नाविक दोनों पूजा करते हैं, जब वे समुद्र और नदी में यात्रा करने पर निकलते हैं।

मध्य भारत में इन्दौर में मुसलमान पटेल और मराठा हिन्दू नाम रखते हैं। हिन्दुओं की भांति ही वस्त्र पहनते हैं। हिन्दुओं के भवानी और अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते हैं।

गुजरात क्षेत्र में अनेक अन्य जातियां ऐसी है जिनके धार्मिक विचार और व्यवहार मुस्लिम सभ्यता से नहीं मिलते हैं। उन वन्य जातियों में सीदी, मोलिसलाभ, कसवाती (kasbatis) राठौर घनचीस (ghanchis) विशेष उल्लेखनीय हैं। साम्प्रदायिक समूहों में हुसैनी ब्राह्मण, मदारी, शेखदास (Shaikhdas) और कमालियास (kamaliyas) विशेष उल्लेखनीय हैं।

राठौर और कसवाती मुसलमान राजपूत हिन्दुओं में से थे। उन्होंने पुराने धर्म को छोड दिया था परन्तु पुराने धर्म के विचारों को नहीं छोड़ा था। वे केवल हिन्दू धर्म के त्यौहारों को ही नहीं मानते थे बल्कि उस धर्म के देवताओं की पूजा भी करते थे। उनमें से कुछ स्वामी नारायण की मूर्ति अपने घरों में रखते थे। वे कुरान रोजाना नहीं पढ़ते थे। वे मुसलमानों के साथ-साथ हिन्दुओं

से भी वैवाहिक संबंध रखते थे।

हुसैनी ब्राह्मण स्वयं को अथर्ववेद का अनुयायी बताते हैं। उन्होंने यह नाम पैगम्बर के पोते इमाम हुसैन से लिया था। ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तव में उन्होंने इस्लाम में परिवर्तन नहीं किया था परन्तु उन्होंने इस्लाम के उन विश्वासों और सिद्धान्तों को अपना लिया था जो हिन्दू धर्म के विरुद्ध नहीं थे। वे गाय के माँस को छोड़कर अन्य जीवों का मांस गुप्त रूप में खाते थे। पुरुष मुसलमान की तरह वस्त्र पहनते थे परन्तु माथे पर तिलक लगाते थे। वे शादी के समय अपनी जाति के पुजारी (Priest) से कार्यक्रम कराते थे। वे अपने मृतक को दफनाते समय बैठने की स्थिति (Sitting Posture) में रखते थे। साथ ही वे रोजे रखते थे और अजमेर के ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती को विशेष सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

शेखदास बाला मुहम्मद शाह के अनुयाई हैं। वे अपने माथे पर तिलक लगाते हैं और अन्य मुसलमानों के साथ बैठकर नहीं खाते हैं। वास्तव में वे स्वामी नारायण के भक्त हैं। वे शादी के समय हिन्दू और मुसलमान दोनों के रीति-रिवाजों को मानते हैं तथा मुसलमानों की तरह मुर्दे को दफनाते हैं।

कमालिपास भी अहमदाबाद के पास सान खानपुर (San khanpur) में रहते हैं। पत्तन (Pattan) में उनका एक मन्दिर है परन्तु उसमें कोई मूर्ति नहीं है किन्तु एक आला (Niches) बना हुआ है जिसका नाम देवी भवानी के नाम पर है। उसके रीति-रिवाज हिन्दुओं की भांति ही हैं। उनका मुख्य व्यवसाय भी भीख-मंगी (Begging) है।

कच्छ के मोमनास (momnas) शिया सम्प्रदाय के हैं परन्तु उनकी आदतें, धारणाएं, विचार सभी हिन्दुओं की भांति है। वे मुसलमानों से मिलकर नहीं रहते। माँस नहीं खाते, जादू-टोने में विश्वास नहीं करते, रोजाना नमाज नहीं पढ़ते, रोजा नहीं रखते। बच्चे के जन्म के छटे दिन घर के बाहर लाल रंग (गुलाल) से एक चिह्न बनाते हैं और एक महीने के बाद बच्चे के नामकरण संस्कार के लिए एक सारस्वत ब्राह्मण को बुलाते है।

नीमार जिले में एक सम्प्रदाय है जिसे पीरजादा के नाम से पुकारा जाता है। इसका केन्द्र बुरहानपुर में है। इसकी स्थापना मुहम्मद शाह दुल्ला (Muhammad Shah Dulla) ने लगभग 250 वर्ष पूर्व की थी। इन्होंने विष्णु को अपना सबसे बड़ा देवता माना है और इस सम्प्रदाय में इनको निष्कलंकी (पाप रहित (Nishkalanki) के नाम से पुकारा जाता है। ये केवल विष्णु को अपना देवता मानते हैं अन्य हिन्दू-देवताओं को नहीं मानते। इसके अनुयाई प्रमुख रूप से कुनबीस (kunbis) और गुज्जर हैं। इनको अपनी जाति की प्रथाओं को मानने की छूट दी गई है। ये वर्ष में एक बार मुहम्मद साहब के मकबरे पर

इकट्ठे होते हैं जिसने इस सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उसने एक पुस्तक लिखी थी जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों की धार्मिक बातों को छांटकर लिखा था। इस सम्प्रदाय के प्रमुख कट्टर मुसलमान हैं परन्तु अनुयाई हिन्दू रह सकते हैं।

बुलडाना के कुछ देशमुख और देशपाण्डों ने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। परन्तु वे गुप्त रूप से अपने देवी-देवताओं की पूजा करने के लिए ब्राह्मणों को बुलाते हैं। थारा, अहमदनगर, बीजापुर के कसाई हिन्दू-धर्म की ओर झुके हुए हैं। वे गाय के मांस खाने वालों से इस हद तक परहेज करते हैं कि वे गाय काटने वालों को छूना भी पाप समझते हैं। जबकि उनकी शादी तथा अन्य धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए काजी आते हैं। अहमदनगर में काजी बकर कसाबस (Qasabs) और पिंजारा अब भी हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं और अपने घरों में मूर्तियां रखते हैं। बीजापुर में इन दो जातियों के साथ-साथ बाघबंस (माली), कंजर, मुर्गी पालने वाले, रस्सी बनाने वाले, पींधरस (Pindharas) घास काटने वालों ने यद्यपि इस्लाम स्वीकार कर लिया है, परन्तु वे अन्य मुसलमानों से मिलना नहीं चाहते और खुले रूप में हिन्दू-देवताओं की पूजा करते हैं। छप्पर बांधने वालों ने इस्लाम स्वीकार कर लिया है परन्तु हिन्दू देवताओ की पूजा करते हैं।

राजस्थान में सूरतगढ़ के निकट एक हिन्दू मन्दिर है जिसमें मुसलमान पुजारी (Priest) है, जो मूर्ति-पूजा का कार्य सम्पन्न करता है और पूजा करने वालों से सामग्री लेता है। यह कार्य बहुत सी पीढ़ियों से चला आ रहा है। यह मन्दिर घोगा मेरी का है जिसमें घोगा राजपूत संत की मूर्ति है जो अपने जीवन काल में बहुत बड़े चमत्कार दिखाने वाले थे।[4]

इस्लाम में पूजा के विरुद्ध मुहम्मद साहब ने अपनी मृत्यु के कुछ घंटों पहले भी बहुत सख्त हिदायतें दी थीं। उन्होंने कहा था "ओ मानव मेरी मृत्यु के बाद मेरी कब्र की पूजा मत करना। खुदा उनसे नाराज हो जाएगा जो अपने पैगम्बरों की कब्रों को पूजा-स्थल बनायेगा।" "O People do not worship my grave after I am no more. God's wrath shall befall or those who turn the graves of their prophets into places of worship." डा० ताहीर महमूद ने "दी हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 15,1984 को डोलीपूरा केस पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है "भारतीय उपमहाद्वीप में मुसलमान बहुत सी गैर-इस्लामी क्रियाएं करते हैं जैसे मुहर्रम का मनाना, कब्रों पर रोशनी करना, उनके ऊपर चादर चढ़ाना, उन्हें प्रणाम करना और उनसे सांसारिक और आध्यात्मिक लाभों की प्राप्ति की आशा करना।"

डा० एम०टी० टाइटस के अनुसार इस्लाम की धार्मिक प्रवृत्ति और इतिहास साधुओं और उनकी पूजा से इतना जुड़ा हुआ है कि एक का अध्ययन दूसरे के

बिना अधूरा है। वे जीवन में धार्मिक प्रवृत्ति के थे और दैवी शक्ति से दूसरों का ध्यान आकर्षित करते थे। व्यक्ति सांसारिक तथा आध्यात्मिक लाभ के लिए उनका सामीप्य प्राप्त करने में उनके शब्दों और कार्यों को सावधानीपूर्वक नोट किया करता था और स्वामी भक्त शिष्य उनकी आत्मकथाएं लिखते थे। इतिहासकार भी ऐसे लोगों की जीवनी तथा कार्यों को पढ़ते थे जैसे अबुल फजल तथा बदायूनी, जबकि सम्राटों ने उनकी शिक्षाओं की तरफ ध्यान दिया, उनके साथ बहुत समय व्यतीत किया। उनकी कब्रों पर सुन्दर मकबरे बनवाए और उनकी दरगाहों पर तीर्थ यात्राएं कीं।"

साधुओं में विश्वास और उनके पूजन-स्थलों और मकबरों की भारत के मुसलमानों द्वारा पूजन किसी तरह से भी भारतीय इस्लाम के मुताबिक नहीं है। वास्तव में यह सब धर्म के ठेकेदारों द्वारा अफगानिस्तान, ईराक, ईरान आदि से भारत में आया। इसके अतिरिक्त गुरु-चेला प्रवृत्ति और देवी-देवताओं की पूजा की प्रवृत्ति, जो भारत के हिन्दुओं में चल रही थी, उन मुसलमानों ने भी उसे अपनाया जो हिन्दुओं से मुसलमान बने थे। इसके बाद यह मुसलमान धर्म का अभिन्न अंग बन गया। वास्तव में भारत के मुसलमान धार्मिक दिनचर्या की अपेक्षा साधुओं की पूजा में पूर्ण निष्ठा से लग गए। आधुनिक शिक्षा तथा अनेक सुधार आंदोलनों के बावजूद यह संदेहपूर्ण है कि आज पहले की अपेक्षा कम साधु-पूजा है।

भक्तों का यह विश्वास है कि वास्तव में साधु की आत्मा मकबरे में निवास करती है और वह उनकी प्रार्थना को सुनता है और अल्लाह से प्रार्थना की स्वीकृति की प्रार्थना करता है। यह घनिष्ठ, व्यक्तिगत सम्बन्ध जो कि व्यक्ति संघ के साथ महसूस करता है, भारत में इस्लाम के अध्ययन का सबसे आनन्ददायक अध्याय बन गया है। गूढ़ व्यक्तिगत आवश्यक सम्बन्ध का यह स्पष्ट संकेत है जिसे व्यक्ति अल्लाह के साथ महसूस करता है और किसी तरह से वह ऐसा अनुभव करता है कि वह संत की तपस्या के द्वारा प्राप्त कर सकता है जो कि एक ओर खुदा का एक साथी (वली) था दूसरी ओर मानव का मित्र और साथी था।

ऐसा भी विश्वास है कि संत अपनी आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा मनुष्य के दुःख दूर कर सकता है। मुरादाबाद जिले के अमरोहा में एक संत का मकबरा है जिसकी पूजा से बिच्छू के काटे का इलाज हो सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बिच्छू उसके मकबरे के चारों ओर डंक नहीं मारेगा। दूसरा संत, जो उसी स्थान पर है, समय से पहले सूखी गायों के अन्दर दूध पैदा कर देता है और इसी प्रकार माताओं में, जो आवश्यकता समझती हैं, वे ऐसा करती हैं। मुकदमा लड़ने वाले अपने मुकदमे में विजय के लिए उनकी दरगाहों पर जाते

हैं; एक किसान जिसने अपना घोड़ा खो दिया है, एक स्त्री जिसे बच्चे की इच्छा है, एक पिता जो अपने पुत्र को स्वस्थ कराना चाहता है, एक व्यापारी जो व्यापार में सम्पन्नता चाहता है, एक शिकारी जो अपना शुभ दिन चाहता है, एक जुआरी और एक चोर तक भी पूजा करते हैं ।

ऐसे भी बहुत से उदाहरण हैं जिनमें शासक भी सम्मान और डर से संतों का आदर करते थे । ऐसा विश्वास किया जाता है कि अगर वे किसी तरह से नाराज हो जाएं तो भयंकर मुसीबत आ सकती है और अगर उनका आशीर्वाद मिल जाए तो बहुत ही लाभकारी सिद्ध हो सकता है । शेख निजामुद्दीन औलिया और ग्यासुद्दीन तुगलक का उदाहरण इसका स्पष्ट प्रमाण है। उदारवादी सुल्तान फिरोजशाह इन पवित्र मनुष्यों के साथ व्यवहार में बहुत सावधानी बरतता था। जब कभी वह किसी संत के विषय में सुनता था तो उसके दर्शन करने जाता था और उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की कोशिश करता था । थट्ठा के आक्रमण के पहले उसने दिल्ली के निकट संतों और पवित्र मनुष्यों की दरगाहों की यात्राएं की ।

एक दरवेश के नाराज होने का एक सबसे बड़ा उदाहरण फिरोजशाह खिल्जी के काल में सीदी मौला का है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि दरवेश सुल्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहा था, इसलिए उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया, अमीर खुसरो तारीख-ए-अलाई में लिखता है कि इस पवित्र व्यक्ति की मृत्यु से प्रकृति नाराज हो गई और इस दिन एक काला तूफान आया जिससे सारे संसार में अंधकार छा गया । इसके बाद राज्य में गड़बड़ी पैदा हो गई। इसी वर्ष देश में वर्षा की कमी हो गई और देहली में अनाज की कमी हो गई और अनाज के भाव बढ़ गए । शिवालिक में भी अनाज की कमी हो गई और वहाँ से हिन्दू अपने परिवारों के साथ झुंड बनाकर दिल्ली आए और भूख की अधिकता के कारण वे यमुना नदी में डूबकर मर गये ।

पवित्र स्थान (Shrines)

पवित्र स्थान, जहां पर संत की पूजा की जाती है और जहाँ पर उसका आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है वह सदैव मकबरा नहीं है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि जो संत में विश्वास करते थे वे किसी भी स्थान पर उसकी यादगार खड़ी कर लेते थे और उसे उसके नाम से पुकारते थे और इसी स्थान पर भेंट-पूजा उसी प्रकार पवित्र मानी जाती थी जिस प्रकार उसके आराम के स्थान पर । यह पवित्र स्थान ईंट-पत्थर और मिट्टी का बनाया जाता था। कभी-कभी यह मकबरे के रूप में बनाया जाता था और सिर की ओर एक पत्थर रख दिया जाता था तथा पूजा करने वालों के लिए आले (Niches) दीपक रखने के लिए

बनाए जाते थे। यह किसी भी आकार का हो सकता था। पवित्र स्थान पर अधिकतर झंडा (Flag) लगा दिया जाता था। चिथड़ा अथवा धागा पवित्र स्थान पर बांधना पुजारी के उत्तर का प्रमाण माना जाता था।

संत के लिए जिन्दा अथवा मृतक के मकबरे अथवा पवित्र स्थान के लिए सामान्य नाम पीर है। दूसरा नाम जो काश्मीर में प्रयोग किया जाता है वह जियारत (Ziyarat) है। सर्वत्र व्याप्त रहने वाले पीरों की संख्या सेना के समान है। वे प्रत्येक ग्राम, कस्बे और शहर में मिलते हैं जहां मुसलमान रहते हैं। यहां तक कि वे खेतों में, वनों में, पहाड़ों पर और गलियों में भी रहते हैं।

मृत संतों की पूजा

पवित्र स्थान पर पूजा बहुत साधारण ढंग से की जाती है। पूजा दो ढंग की होती है। पहली संत के लाभ के लिए और दूसरी पूजा करने वाले के लाभ के लिए। पहले में धन अथवा कीमती वस्तु चढ़ाई जाती है, फूलों को पूजा अथवा चिराग जलाना अथवा फतीताह (कुरान का पहला अध्याय) को संत के स्वयं के लाभ के लिए दोहराना होता है। पूजा को दूसरे लाभ में पुजारी पवित्र स्थान के पास खड़ा हो जाता है अथवा खड़ा होकर उसकी (पवित्र स्थान की) ओर मुंह कर लेता है यहां वह अपने दिल में संत से बातचीत करता है और उसे अपनी समस्याएं, कठिनाई, इच्छाएं बताता है और शपथ लेता है कि अगर उसकी इच्छा पूर्ण हो गई तो वह फिर आयेगा और भेंट चढ़ायेगा।

प्रत्येक सप्ताह में एक निश्चित दिन लोग पवित्र स्थान का भ्रमण करते हैं परन्तु प्रत्येक संत का वर्ष का विशेष दिन "उर्स" का उत्सव मनाना होता है। "उर्स" अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है "शादी करना" और यह संत की मृत्यु के लिए प्रयोग किया जाता है और सूफियों का विचार है कि उसकी मृत्यु पर उसकी आत्मा का अल्लाह से मिलन (वसल) अथवा शादी होती है। कभी-कभी "उर्स" कई दिन तक मनाया जाता है परन्तु उसकी मृत्यु के दिन सबसे बड़ा उत्सव मनाया जाता है। यह उत्सव बड़े आनन्द के साथ मनाया जाता है, मित्र मिलते हैं और दावतें की जाती हैं, बाजार लगाये जाते हैं और नाच-गान किए जाते हैं। संत के जीवन से सम्बन्धित पुस्तकें जनता में बेची जाती हैं। व्यक्ति अच्छे वस्त्र पहनकर आते हैं; इस समय व्यक्ति घूमने जाते हैं और इसमें प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति भाग लेते हैं; चाहे कोई उन्हें मानता हो अथवा नहीं। कभी-कभी इस समय इकट्ठा लोग मुहम्मद साहब के स्मारक-चिन्हों का प्रदर्शन करते हैं। एक उर्स पर मैंने (डा० टाइटस) मुहम्मद साहब की दाड़ी के बालों का तथा उनके वस्त्रों का प्रदर्शन देखा, एक पत्थर जिस पर

उनके पैर के चिन्ह थे और यह स्मारक कदम शरीफ कहलाता है; का प्रदर्शन किया गया और इस तरह के भारत में बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

उर्स के अवसर पर मकबरों पर बहुत से संस्कार किए जाते हैं। प्रत्येक आने वाले को पवित्र स्थान पर प्रवेश की अनुमति दी जाती है और प्रत्येक व्यक्ति अपना जूता उतारकर अन्दर जाता है। संत के लिए फातीयाह पढ़े जाते हैं धन, मिठाइयां और इसी प्रकार की अन्य चीजें (Offering) चढ़ाये में चढ़ाई जाती है और इसके बाद पुजारी बाहर चला जाता है। उसके समय कुरान का पाठ किया जाता है। कार्यक्रम के अनुसार पूरी कुरान का पाठ एक ही बैठक में किया जाता है और यह रस्म "खतम" (khatm) कहलाती है; ऐसा करने के लिए तीस (30) अध्याय अथवा जुज (Juz) को पढ़ने का कार्य तीस व्यक्तियों को दिया जाता है। पूरी कुरान का अध्ययन संत की आत्मा को लाभ पहुंचाने के लिए किया जाता है। "उर्स" भारतीय मुसलनानों का सबसे महत्वपूर्ण त्योहार है और दूसरे धार्मिक त्योहारों की भांति ही मनाया जाता है।

मकबरों की विभिन्न प्रकार : शहीद

सन्तों अथवा पीरों के मकबरे और पवित्र स्थान उनकी उत्पत्ति के आधार पर विचारणीय है। कुछ धार्मिक बातों के साथ वे ऐतिहासिक सम्बन्ध के हैं। कुछ ऐसे हैं जिनकी प्रमाणिकता सत्यापित नहीं हैं और वे दन्त-कथाओं के आधार पर चल रहे हैं। उनमें से कुछ शहीदों के हैं जो इस्लाम की प्रारम्भिक विजय के साथ लड़ाइयों में लड़ते हुए मारे गये। उनमें से दो महत्वपूर्ण चरित्र गाजी मियां सलार मसूद और साखी सरवार सुल्तान के हैं। पहला सुल्तान महमूद गजनवी का भतीजा था। वह बहराइच के निकट 1033 ई० में अवध पर किए गए आक्रमण में मारा गया था। मुसलमान उसके मकबरे का सम्मान करते हैं और उसे शहीद मानते हैं। साखी सरवार सुल्तान पंजाब से सम्बन्धित है उसके विषय में ऐतिहासिक तथ्य कुछ कम मिलते हैं। उसके सम्मान में मध्य पजाब में पवित्र स्थान लगभग प्रत्येक गाँव में मिलते हैं।

हिन्दू-मुस्लिम सन्त

दूसरे जाने-पहचाने सन्तों में पौराणिक चरित्र बहुत मिलते हैं। उनमें से कुछ आज मुस्लिम नाम से पुकारे जाते हैं। ऐसा लगता है कि मुस्लिम समुदाय का विश्वास से कुछ कम सम्बन्ध था। उनमें से एक पीर गुग्गा (Guga) या घोघा अथवा जाहिर पीर है, ऐसा समझा जाता है कि वह हिन्दू परिवर्तित मुसलमान था उसका विशेष सम्बन्ध राजपूताना से है, परन्तु उसके भक्त विशेषकर निम्न

जाति के मनुष्य पूरे उत्तरी भारत, उत्तर-पश्चिम में पाए जाते हैं; उनके पवित्र स्थान घरों तक में बने हैं, लाल बेग एक दूसरे इसी प्रकार के सन्त हैं जो उत्तरी भारत की मेहतर जाति में माने जाते हैं। यहाँ पर पाँच पीर संतों का समूह भी है। पुजारी उन पाँचों के पवित्र स्थान बनाते हैं और उनकी पूजा करते हैं। ये भी निम्न जाति के हिन्दुओं द्वारा पूजे जाते हैं।

पौराणिक सन्त

इस्लाम के पौराणिक सन्तों की ओर भी पूर्ण रूप से ध्यान देना चाहिए। उनमें से एक ख्वाजा खिदर है जिसका मुसलमानों में बहुत सम्मान है परन्तु ऐसा लगता है कि वे शुद्ध रूप से स्थानीय मूल के थे। ख्वाजा खिदर भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न नाम से पुकारे जाते हैं; जहाँ हिन्दुओं का प्रभाव अधिक है वहां राजा खिदर कहलाते हैं। बंगाल में उसका नाम ख्वाजा और पीर बदर है। ख्वाजा खिदर मुस्लिम कहानियों का पौराणिक संत है, यह पूरे मुस्लिम ससार में जल से सम्बन्धित हैं इसलिए इसे समुद्र का संत माना जाता है। उसका विशेष यान मछली है और जिस पर वह बैठा हुआ दिखाया गया है। उसकी पोशाक हरी है। वास्तव में, वह अब भी संसार में जीवित माना जाता है, यद्यपि वह दिखाई नहीं देता। जहाँ तक मैं जानता हूँ (श्री टाइटस) इस संत के पवित्र स्मारक नहींब नते परन्तु वह कुछ रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में पूजा जाता है जैसे अलीकाह अर्थात् पहली बार बच्चे के बाल उतरवाना। कुएँ पर उसके लिए भेंट चढ़ाई जाती है और जो व्यक्ति समुद्र में यात्रा कर रहे हैं अर्थात् जो कुएँ में डूब रहा है, उसकी प्रार्थना करते हैं। उसकी पूजा तब भी की जाती है जब नदियों का पानी सूखने लगता है अथवा बाढ़ का खतरा है। ख्वाजा खिदर की पूजा के साथ भारतीय मुसलमान उसका बेड़ा भी बनाते हैं। इस बेड़े पर पुजारी चिराग जलाते हैं और फूलों की माला, फल, मिठाइयाँ और अन्य खाने की चीजें चढ़ाते हैं।

दूसरा सन्त इसके विपरीत चरित्र वाला शेख सद्दू (Shaikh Saddu) है जिसके भक्त पूरे भारत में हैं, विशेषकर स्त्रियाँ इसकी भक्त हैं। कहावत है कि वह अरब का विद्वान था जो रहस्यमय शक्ति वाला था जो कुरान की निश्चित आयतों का प्रयोग जादू के उद्देश्य से किया करता था, ऐसी धारणा है कि ऐसी शक्ति द्वारा वह जिन्न (भूत) को नियन्त्रण में कर लेता था ऐसा कहा जाता है कि एक बार वह एक राजकुमारी के प्रेम में फँस गया और जब शादी में वह उसको प्राप्त न कर सका तो उसने अपने जिन्न (भूतों) की सहायता राज-कुमारी को रात को अपने निवास पर लाने में ली। यह एक रोजाना की बात हो गई और वह सुबह होने से पहले राजमहल में पहुँच जाती थी। यह सब

राजकुमारी को एक स्वप्न के समान दिखाई देता था। अन्त में यह बात राजकुमारी ने राजा को बताई और राजा ने शेख को फांसी की सजा दी। दूसरी धारणा यह है कि मुरादाबाद के निकट अमरोहा में उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े भूत द्वारा कर दिए गए, जिन्हें वह नियन्त्रण में रखता था। किसी भी तरह अनभिज्ञ मुसलमानों का यह विश्वास है कि उसकी प्रेतात्मा घूमती है और उनकी स्त्रियों को सताती है और उनके बच्चों को भी सताती है। ऐसा कहा जाता है कि अमरोहा में उसकी कब्र पर सदैव आवाज और गड़बड़ रहती है।

इन सन्तों के अलावा भी कुछ अन्य पौराणिक सन्त हैं जैसे पीर सीताब, पीर दीदार, कथ बावा साहिब (Kath Bawa Sahib), पीर इमाम जमीन और इसी तरह के अन्य दूसरे पीर हैं।

नौ-गाजा-पीर

नौ-गजा-पीर पवित्र स्थानों में जानने की इच्छा करने वाली चीज है। यह शब्द मकबरे की लम्बाई की ओर संकेत करती है। नौ का अर्थ है नौ गज और केवल यह संकेत देती है कि सन्त बड़े आकार का व्यक्ति था। इस प्रकार का एक मकबरा मुल्तान में है जहाँ पर शदमा शाहिद (Shadma Shahid) को दफनाया गया था। परन्तु नियम के अनुसार शाहिद से नौ गज का कोई संबंध नहीं है। शायद यह प्राचीन पैगम्बरों के पवित्र स्थान है। कुछ के अनुमान के अनुसार उनकी ऊँचाई बहुत थी।

सहायक सन्त

सहायक सन्तों का अध्ययन भी विशेष रुचि का है। लखनऊ के गोलगंज में एक इस प्रकार के सन्त का मकबरा है जो बस्ती के लोगों द्वारा पूजा जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि अगर हिन्दुओं में पूजा ने स्थान ले लिया है तो मुसलमानों में भी भारत में पूजा ने स्थान ले लिया है और पूजा द्वारा सांसारिक और आध्यात्मिक लाभ की कामना करना, के उद्देश्य में दोनों में एकता पैदा हो गई है।

खिदर पीर नाविको, धोबियों और भिश्तियों द्वारा पूजा जाता है। शाह आलम खरादियों का सन्त है। हसन तेली, तेलियों का संत है जबकि लाहौर के रंगरेजो (Dyers) का पीर अली रंगरेज था। मालूम-ई-यार (Malum-i-Yar) नाविकों का दूसरा सहायक संत है जबकि शेरशाह मुल्तान के प्रेमियों के हितों का ध्यान रखता है।

जान-ए-सुभान के अनुसार खिदर देवता में विश्वास करना सूफियों की एक

विशेषता है और उनके सम्प्रदाय वाले मुसलमानों में सन्त-पूजा प्रचलित होती है। खिदर का साहित्यिक नाम "हरा समुद्र" और उनको यह नाम इस विचार-धारा से दिया गया है कि वे जहाँ कहीं बैठते थे, वह स्थान हरा हो जाता था। उनका वास्तविक नाम अबुल-अब्बास मलकान (Abul-Abbas-Malkan) कहा जाता है।

डा० टाइट्स के अनुसार ये क्रियाएँ जो मुसलमानों के विपरीत हैं, वे मूर्ति-पूजन क्रियाएँ हैं और हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा है, जो ग्रामीण इस्लाम में मिलती हैं। संयुक्त प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में चूड़ीहारा (Churiharas) कालका शाहजी माई (Kalka Sahji Mai) की पूजा करते हुए बताए जाते हैं और वह हिन्दुओं की भांति श्राद्ध करते हैं। पंजाब के मेव (Meos) अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं सीयांसी जैसे इगती और लालची (Siansi, Eagti and Lalchi)। अमृतसर के मिराजी दुर्गा भवानी की पूजा करते हैं; जैसे कि दशहरा त्योहार पर हिन्दू औजार पूजते हैं, उसी प्रकार मद्रास के प्रेसी-डेंसी के डूडेकूलास औजार पूजते हैं। सन्त-पूजा प्रत्येक स्थान पर है और कुछ स्थानों पर शेख सद्दू को बहुत अधिक सम्मान दिया जाता है और निस्संदेह यह दैत्य-पूजा के समान ही है। प्रेतात्मा को दूर रखने के लिए तावीज हाथ में अथवा गले में बांधा जाता है और जादू का प्रयोग भी होता है जबकि भाग्य के बताने वाले इल्म-उर-रमल के नाम पर बताते हैं; नक्षत्र विद्या, जादू का चबूतरा और कुरान को खोलने के लिए सलाह और इसी प्रकार की क्रियाएँ सभी वर्गों में प्रचलित हैं।

ग्रामों में मुसलमान स्त्रियां चेचक निकलने पर शीतला देवी की पूजा करती हैं और बीमारी को दूर करने के लिए संतों की दरगाहों पर आशीर्वाद लेने जाती हैं। प्लेग फैलने के समय ग्राम के मुसलमान बीमारी को दूर करने के लिए बकरे का बलिदान करते हैं।

पंजाब के उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र में अवानस (Avans) ब्राह्मणों को अपने पुजारी के रूप में प्रयोग करते हैं और संयुक्त प्रदेश के उनके भाई मुस्लिम भट्ट भी ऐसा ही करते हैं। सिन्धु-घाटी के शिया (Shia) गाय को बहुत सम्मान देते हैं और उसका मांस नहीं खाते हैं। यही बात कच्छ के मोमिनों के विषय में सत्य है।

यौगिक क्रियाएँ मुसलमानों में देखने को मिलती हैं। वे हिन्दुओं की भांति शरीर पर राख रगड़ते हैं। वे उन पवित्र स्थानों की रक्षा करते हैं जिनकी हिन्दू और मुसलमान दोनों पूजा करते हैं जैसे कि पंजाब में सखी सरदार के सम्बन्ध में है।

मुसलमानों में पवित्र अग्नि भी पाई जाती है। पंजाब के झंग (Jhang)

जिले में सादिक निहंग की दरगाह पर रात-दिन आग जलाई जाती है जो धूनी (Dhuni) कहलाती है। वर्ष में एक बार उसी पर एक बड़ी रोटी बनाई जाती है जो रोट (Rot) कहलाती है, जो इसी पवित्र अग्नि पर बनाया जाता है, फिर इसे छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ा जाता है और उपस्थित लोगों में बाँटा जाता है। इसी पवित्र अग्नि का दूसरा उदाहरण गोरखपुर का इमामबाड़ा है। क्रुक (crooke) के अनुसार यह पहले रोशनअली, जो प्रसिद्ध शिया फकीर थे, द्वारा प्रारंभ किया गया था। इसे हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मान देते हैं जैसे कि हिन्दू योगियों द्वारा अग्नि को रखा जाता है और इसी राख को बहुत सम्मान दिया जाता है। इस्लाम स्वीकार करने से पूर्व अज्ञात समय से जिस प्रकार उनके पूर्वज कर रहे थे, उसी प्रकार बहुत से मुसलमान हिन्दुओं के त्यौहार मनाने में शामिल होते हैं। इन त्यौहारों में सबसे सामान्य त्यौहार, हिन्दुओं के होली, दीवाली, बैसाखी, हिन्दुओं का नव वर्ष हैं, जबकि बसन्त पंचमी को अवध के मुसलमान शासक नौ रोज के रूप में मनाते थे।[5]

तीर्थ-यात्रा—हिन्दू अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए तीर्थ-यात्रा करने जाया करते थे। यह तीर्थ-यात्रा धार्मिक महत्व के स्थान के साथ-साथ महान सन्तों के समाधि-स्थल भी होते थे। इस्लाम में हज की अनुमति है, परन्तु सन्तों की दरगाहों पर तीर्थ-यात्रा की कुरान, हदीथ, (Hadith) अथवा फिक्ह (Fiqh) में किसी एक कब्र या कब्रिस्तान की अनुमति नहीं दी है। परन्तु भारत में मुसलमानों ने तीर्थ-यात्राएँ प्रारम्भ कर दी। के० एम० अशरफ के अनुसार लोकप्रिय मुस्लिम तीर्थ-यात्राएँ प्रतिष्ठित सन्तों की दरगाहों तक सीमित रहती थीं। उनमें से एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण सन्त बहराइच (उत्तर प्रदेश) के मसूद सालार गाजी की थी। प्रतिष्ठित सन्तों के उर्स या वार्षिकोत्सवों की प्रसिद्धि अभी जनता में प्रारम्भ हो रही थी कुछ सूफी या प्रसिद्ध सन्तों के अनुयायी सन्तों की कब्रों पर वर्ष में एक बार एकत्र हुआ करते थे; किन्तु यह कार्य केवल कुछ ही लोगों तक सीमित था। सन्तों के मकबरों तक जाना अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था। सुल्तान फिरोज तुगलक ने दिल्ली नगर के बाहर स्थित मकबरों में स्त्रियों के जाने की अनुमति नहीं दी थी। सिन्ध में नर-नारियों के विशाल समूह प्रत्येक चन्द्र मास के पहले शुक्रवार को किसी प्रतिष्ठित सन्त की कब्र के दर्शनार्थ "मकली पर्वत, पर जाया करते थे। सिन्ध में जहाँ दर्शन के ऐसे स्थान थे, प्रत्येक मास पहले सोमवार को अन्य समाधियों पर पहुँचने के लिए ऐसे ही भ्रमणों का उल्लेख मिलता है। ऐसे अवसरों पर इतनी भीड़ इकट्ठा हो जाती थी कि खड़ा होने के लिए भी मुश्किल से स्थान मिल पाता था। भ्रमणार्थी मनोविनोद और आनन्दोत्सवों में दिन बिताते थे और शाम तक कुछ देरी से लौटकर घर पर आते थे।

कट्टर पंथी लोग विशेष रूप से धर्मशास्त्री स्वभावतः स्त्री-पुरुषों के बीच सामाजिक समागम की स्वतन्त्रता और इन सम्मेलनों के आनन्द तथा प्रसन्नता के वातावरण से रुष्ट थे किन्तु जनमत इनकी बातों पर ध्यान नहीं देता था।[6]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दुओं की भाँति मुसलमान भी तीर्थ-यात्राओं में विश्वास करने लगे थे और इस क्षेत्र में भी उद्देश्य में एकता स्थापित हो गई थी।

जौहर—हिन्दू अर्थात् राजपूत शासक जब यह देखते थे कि अब युद्ध में हार निश्चित है तो वह अपने योद्धाओं तथा स्त्रियों को जौहर करने की सलाह देते थे और जौहर के बाद स्वयं युद्ध में बलिदान हो जाते थे। मुसलमानों ने हिन्दुओं की भाँति जौहर करने की प्रथा अपना ली थी। इसका वर्णन के० एम० अशरफ ने इस प्रकार किया है "जब तैमूर ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया उस समय दया की न कामना की गई और न दया प्रदान ही की गई। क्रूरता-पूर्ण हत्याकाण्ड की सम्भावना ने अनेक योद्धाओं को राजपूत जौहर का मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया। भटनेर के गवर्नर कमालुद्दीन और उनके अनु-चरों का उदाहरण—जिन्होंने अपनी स्त्रियों और सम्पत्ति को भस्मीभूत कर दिया और तब रक्त पिपासू दैत्यों के सामने तैमूर से लड़ने के लिए बढ़े।[7]

खलीफ अहमद निजामी के अनुसार मुसलमानों ने हिन्दुओं की "जौहर" करने की प्रथा को अपना लिया। जब नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया तो दिल्ली के मुसलमानों ने जौहर करने का विचार गम्भीरता से किया। परन्तु शाह वली उल्लाह ने उन्हें करबला का उदाहरण बताकर ऐसा करने से हतो-त्साहित किया। इस विवरण से स्पष्ट है कि जौहर करने की प्रथा में हिन्दुओं और मुसलमानों के उद्देश्य मे एकता थी।

शबे बरात

शबे-बरात (स्मृति-रात्रि) शबान को 14वीं तिथि को पड़ता था। इसे ठीक ही "इस्लाम का गाई फॅक्स दिवस" कहकर वर्णित किया गया है, यद्यपि इससे सम्बद्ध बातें इस अंग्रजी त्योहार से बिल्कुल भिन्न हैं। यह इस्लाम की एक गाथा का स्मृति-दिवस कहा जाता है, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। कोई निश्चित निर्णय कठिन है किन्तु "शबे-बरात" शिवरात्री के हिन्दू त्योहार की नकल पर मनाया जाता है। (रात्रि जागरण) और आतिशबाजी दोनों त्योहारों में समान रूप से रहते हैं।[8] मेजर के अनुसार आतिशबाजी का प्रयोग दक्षिण के हिन्दू त्योहार महानन्दी में भी किया जाता है। कुछ धर्मोत्साही व्यक्ति शबे-बरात की पूरी रात्रि को विशेष प्रार्थनाएँ करते हुए और पवित्र ग्रंथ तथा अन्य मन्त्रों का पाठ करते हुए बिताते हैं। साधारण जनता इस

त्योहार के आनन्द व उल्लास में समय बिताती थी। आतिशबाजी का बहुलता से प्रयोग किया जाता था और घरों तथा मस्जिदों को इस लोकप्रिय उत्सव के समय प्रकाशित किया जाता था। जब यह त्योहार सामान्य रूप से प्रचलित हो गया तो सुल्तान उत्सवों में भाग लेने से पीछे नहीं रहे। ऐसा कहा जाता है कि सुल्तान फिरोज तुगलक इस त्योहार को चार दिन तक मनाता था।

मुहर्रम—मुहर्रम आडम्बरहीन तरीके में मनाया जाता था। ताजियों (या करबला के शहीदों के प्रति रूप मकबरे) के आरम्भ का श्रेय तैमूर को देते है, चाहे सत्य कुछ भी हो, हिन्दुस्तान में इस दिशा मे उसके प्रभाव का अनुभव नहीं किया गया। फिर भी हिन्दुस्तान जैसे देश में बाद में होने वाली मुहर्रम की विस्तृत तैयारियों के प्रचलन का अनुमान लगाना कठिन है। (वर्तमान मुहर्रम) "पैशनप्ले" (ईसामसीह के कष्टों और मृत्यु से सम्बन्धित नाटक) के विभिन्न तत्व करबला के नाटकों के मकबरों के छोटे नमूने के वीरों के अवशेष और अनेक प्रकार के विलाप तथा प्रदर्शन हिन्दुस्तान में होते थे। मुसलमानों में अवशेषों की पूजा प्रचलित थी। वे आदम और मुहम्मद के काल्पनिक पद-चिह्नों को उतने ही उत्साह से पूजते थे जैसे कि हिन्दू अपने अवशेषों को। जगन्नाथरथ और कृष्ण लीलाएँ तथा उनके जुलूस लगभग मुहर्रम के जुलूसों के समान ही थे।[10]

अग्नि परीक्षा— हिन्दुओं में किसी बात की सत्यता जानने के लिए अग्नि-परीक्षा करने की प्रथा थी। इसको भारत में मुसलमानों ने भी अपना लिया। जब सैयद मौला और सुल्तान जलालुद्दीन खिल्जी के सम्बन्ध खराब हो गए तो सैयद मौला ने सुल्तान के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा। एक षड्यन्त्रकारी ने सुल्तान को सारी बातें बता दीं तो सुल्तान ने एकदम कार्यवाही की तथा सभी षड्यन्त्रकारियों को गिरफ्तार कर लिया। जब प्रत्येक षड्यन्त्रकारी से पूछताछ की गई तो सबने षड्यन्त्र में शामिल होने से इन्कार कर दिया। सुल्तान ने उनको निर्दोष सिद्ध कराने के लिए अग्नि-परीक्षा का आदेश दिया। इस अग्नि-परीक्षा की क्रिया को मुसलमानों ने हिन्दुओं से अपनाया।[11]

अग्नि-परीक्षा में जिस प्रकार हिन्दुओं का उद्देश्य बात की सत्यता जानना था ठीक उसी प्रकार मुसलमानों में भी बात की सत्यता जानना था। यह उद्देश्य दोनों में विचारात्मक एकता उत्पन्न करता है।

ब्रह्मचर्य—वैदिक धर्म में मानव जीवन के चार आश्रम बताये गये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। हिन्दुओं में ब्रह्मचर्य पर पूरा जोर दिया जाता था। निजामुद्दीन औलिया, शेख नसीरूद्दीन चिराग देहली जैसे प्रसिद्ध सन्तों ने ब्रह्मचर्य का पालन किया था तथा कुछ व्यक्तियों ने ब्रह्मचर्य की हिन्दू योगियों की क्रियाओं को ग्रहण करना प्रारम्भ किया। के० एम० अशरफ के अनुसार मुसलमानों ने हिन्दुओं की लिंग पर लोहे का छल्ला बांधने

की क्रिया को अपनाया और इसका नाम शेख मुहर (Sekh Muhar) दिया।[12]

चिल्ला—चिश्ती सन्तों की प्रसिद्धि और सफलता का प्रमुख कारण भारतीय रीति-रिवाजों, धार्मिक प्रवृत्तियों तथा प्रेरणाओं से समायोजन करना था। उन्होंने भारत में शेख के सम्मुख झुकना, आगन्तुकों को पानी पिलाना, जनबिल (Zanbil) घुमाना, रहस्यवादी प्रथा को धारण करने वाले नये व्यक्ति के सिर के बाल मुंडवाना, शमा लगाना आदि प्रथाओं को अपनाया। चिल्ला-ए-माकूस (Chillah-I-Makus) हिन्दुओं और बौद्धों के रीति-रिवाजों के प्रतिरूप थे। चिश्ती सिलसिला की लोगों से साधारण और धार्मिक जीवन व्यतीत करने की गैर मुस्लिम वातावरण में यह बहुत ऊँची विचारधारा थी। चिल्ला-ए-माकूस में, जो व्यक्ति इसको करता था, वह अपने पैरों को रस्सी से बांध लेता था तथा अपने शरीर को कुएँ में नीचे की ओर झुका लेता था और चालीस दिन तक इसी विधि से प्रार्थना करता था। कुछ चिश्ती सन्तों ने इस क्रिया को अपना लिया। शाह वली उल्लाह ने इस प्रकार कहा है "चिल्ला के विषय में पैगम्बर मुहम्मद ने तथा धार्मिक सलाहकारों ने कुछ नहीं कहा है। इसकी सत्यता केवल अल्लाह ही जानता है। यह क्रिया शायद साधुओं से ली गई है। हिन्दुओं में एक वर्ग है जो अर्धमुखी के नाम से जाना जाता है। उनके विषय में यह कहा जाता है कि वे अपने पैरों को किसी पेड़ के तने से तथा किसी अन्य चीज से बांधकर अपने सिर को नीचे की ओर झुका लेते हैं।[13]

व्यापार—हिन्दू और मुसलमान व्यापारियों के मध्य राजनीतिक नैतिकता और संघ की भावना पर आधारित एकता के सम्बन्ध थे। मुल्तानी व्यापारी अधिकतर हिन्दू थे। उनके तथा मुसलमान तुर्की अमीरों सहित आपसी लेनदेन के सम्बन्ध थे। भारतीय व्यापारियों को अपना व्यापार करने की गजनी में पूर्ण स्वतन्त्रता थी, उस समय में भी जब भारत तथा गजनी के व्यापारिक सम्बन्ध तनावपूर्ण थे।[14]

पादुका-पूजन—हिन्दुओं में पादुका पूजन की प्रथा थी जैसे राम की पादुका का पूजन किया जाता था। भारत में मुसलमानों ने इस प्रथा को भी अपना लिया। के० एम० अशरफ ने इस विषय में इस प्रकार लिखा है "लोगों को सुल्तान की उपस्थिति में सिज़दा करना पड़ता था, यहाँ तक कि सुल्तान के नाम का उल्लेख होने पर सम्मान प्रकट करने के लिए उन्हें खड़े हो जाना पड़ता था। दिल्ली से दूर रहने पर वे सल्तनत की राजधानी की ओर झुककर सम्मान प्रकट करते थे। रिक्त राज सिंहासन या सिंहासन पर राजतन्त्र के प्रतीक स्वरूप रखी गई काष्ठ पादुकाओं और तरकश के पास से निकलने पर भी उनका अभिवादन किया जाता था। पादुका-पूजन प्राचीन हिन्दू प्रथा से लिया गया होगा; जैसे कि रामायण की कथा में लिखा है।[15]

हिन्दू शासक विशेषतः हमारे काल में जबकि ब्राह्मण पुरोहितवाद के सम्भावित नियन्त्रण समाप्त हो गये थे अब सुल्तान के मुस्लिम आदर्श के निकट आ गये। एक आदर्श हिन्दू शासक की लोकप्रिय अवधारणा यह है कि वह जो दण्डशास्त्र में निपुण है, आनन्द-भोग करता है; चारों दिशाओं को विजित करता है, अपने सारे शत्रुओं को युद्ध में मार डालता है; यज्ञ करता है; देवी-देवताओं को बलि देता है और याचकों को स्वर्ण बांटता है। विचित्र बात है कि मुस्लिम और हिन्दू राजनीतिक शर्तें (सियासत और दण्डनीति) तात्पर्य और महत्व में मिलती-जुलती हैं।[16]

हरम—हिन्दू शासकों और सल्तनत कालीन शासकों के हरम में भी काफी समानता पैदा हो गई थी जैसा कि के० एम० अशरफ के वर्णन से स्पष्ट है। सामान्यतः सुल्तान के साथ ही हिन्दू राजा भी अत्यधिक विषयासक्त थे। जहां तक हमें ज्ञात है स्त्रियों और रखेलों में उनका अधिकांश समय चला जाता था; उनमें से कुछ ने तो चुनी हुई सुन्दररियों की प्रदाय व्यवस्था के लिए एक विभाग ही खोल रखा था और फिर भी वे काम-क्षुधा से पूर्णतः संतुष्ट नहीं हो पाते थे। हिन्दू और मुस्लिम दोनों शासकों की एक मुख्य रानी होती थी जिसकी संतान सिंहासन की उत्तराधिकारी होती थी या यदि इसे और सही ढंग से कहें तो जहां भी शान्तिपूर्ण और विवादहीन सिंहासनारोहण सम्भव रहता था, उन्हें इसका सर्वप्रथम अधिकार था।···शाही हरम में सुल्तान पत्नियों और उपपत्नियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियां जैसे मां-बहिनें और पुत्रियां, वास्तव में सब स्त्री रिश्तेदार रहती थीं, विशेष कर सुल्तान की मां। राजपूतों में जिसे मां जी कहा जाता है, कुछ बातों में तो सुल्तान की मुख्य पत्नी से भी अधिक सम्मानीय थी। फारसी परम्परा और राजपूत प्रथा दोनों के अनुसार सत्तारूढ़ राजा की मां के इतने प्रभावशाली अधिकार थे जितने कि उसने एक रानी के रूप में भी उपभोग नहीं किए होंगे।[17]

ज्योतिष—ज्योतिष ने भी हिन्दू-मुस्लिम एकता में सहयोग दिया। ज्योतिषी, दरबारी कवि और संगीतज्ञ आदि की नियुक्ति करने की पद्धति मुसलमानों ने हिन्दुओं से अपना ली थी। जैसा कि के० एम० अशरफ के इस वर्णन से स्पष्ट है "प्राचीन हिन्दू राजाओं के दरबार में ज्योतिषियों की नियुक्ति और उन पर हिन्दू शासकों की श्रद्धालुता सर्वविदित है। मुस्लिम सुल्तान इस बात में उनस भिन्न नहीं थे। जन्म पत्रियों का प्रयोग सर्वत्र होता था; शकुन विचार किया जाता था; स्वप्नों की व्याख्या की जाती थी; टोना-टोटका का प्रयोग होता था। वास्तव में किसी कार्य को दैवी सिद्ध करने के लिए कुरान का प्रयोग भी

कम नहीं होता था। ऐसी परिस्थिति में शाही जीवन का सूक्ष्मतम अंग भी दरबारी ज्योतिषियों और तंत्र तथा रहस्यमय विद्याओं के ज्ञाताओं द्वारा नियंत्रित किया जाता था।[18]

ज्योतिषियों की माँग बहुत बढ़ गई थीं। जीवन की सुगमता के लिए जन्मपत्री बनवानी आवश्यक हो गई थी। सम्मानित परिवारों में कोई भी कार्य और साधारण व्यक्तियों द्वारा भी कोई भी महत्वपूर्ण कार्य बिना किसी ज्योतिषी की सलाह के नहीं किया जाता था। इसका परिणाम यह था कि प्रत्येक सड़क पर हिन्दू अथवा मुस्लिम ज्योतिषी बैठे रहते थे। इस कार्य में वे व्यक्ति लगे हुए थे जो कुछ आश्चर्यजनक कार्य करते थे। मुहम्मद तुगलक योगियों में बहुत विश्वास रखता था।[19]

भारतीय ज्योतिष और यवन ज्योतिष

पं० सुन्दरलाल शास्त्री के अनुसार काल का वैज्ञानिक बोध भारतीय मनीषा में आरम्भ से ही रहा हैं। संध्योपासक ब्राह्मण इसी को अर्घ्य प्रदान करता था—

'अहोरात्राणि विदधत्
सूर्याचन्द्रमसो धाता
संवत्सरो ह्यजायत।'

अंतरिक्ष में निराधार लटके गोलाकार पृथ्वीमंडल का भी दर्शन भारतीयों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से किया—

'गोलाकृति पृथ्वीमण्डलं नभोमध्ये स्थिरं निराधारं च तत्परितो ज्योतिश्चक्र परिभ्रमनि।[17]

इस सिद्धान्त को 1840 ई० में कलकत्ता के एसोयेटिस्क लिथो प्रेस में छपी अरबी भाषा की पुस्तक में सचित्र निरूपित किया गया। इन चित्रों में साकार राशियाँ, साकार चन्द्रभ्रमण आदि का स्पष्ट भान होता है।

ज्योतिष का सर्वप्रथम उपदेश सनन्दन महर्षि ने नारद को 88 अनुष्टुप छंदों में व्याकरण का उपदेश देने के पश्चात् इस प्रकार दिया—

ज्योतिषाङ्गं प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मणा पुरम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण धर्मसिद्धिर्भवेन् नृणाम्॥
त्रिस्कन्धं ज्योतिषं शास्त्रं चतुर्लणमुदाहृतम्।
गणितं जातकं विप्र संहिता स्कन्धसंज्ञितम॥

युगानुसार ज्योतिष शास्त्रों के प्रवर्त्तकों में मय दैत्य हुए। उन्होंने सूर्य की आराधना के लिए दुश्चर तपकर सूर्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनके मत में काल दो प्रकार का माना गया—मूर्त्त काल और अमूर्त्त काल। इस सूर्य सिद्धांत का भाष्य भूधर पण्डित ने किया है।

उक्त सिद्धांत की दृष्टि से भास्कराचार्य और आर्य भट्ट के मतों में भेद है दीपक की छाया अस्थिर तथा सूर्य की छाया स्थिर है—इस विवाद का आर्यभट्ट ने प्रवर्त्तन किया। सूर्य सिद्धांत के साथ-साथ गणित के ग्रन्थों का भी निर्माण होता रहा। शतानन्द ने पुरुषोत्तम क्षेत्र में भास्वती की रचना की। इस ग्रन्थ में 'खण्डकखाद्य' नामक ज्योतिष ग्रन्थ का उल्लेख है, जिसे अलबेरूनी ने यहाँ से प्राप्त किया था। 'यह ग्रन्थ मुहम्मद गौरी के साथ गजनी पहुँचा। इस प्रकार हमारी परम्परा में ज्योतिर्विद्या के अन्तर्गत खगोल या अंतरिक्ष की विवेचना भी हुई; तथा व्यवहार गणित की भी, जिसका प्रमुख ग्रन्थ 'लीलावती' है। दूसरी ओर जातक का भी अध्ययन विशेष रूप से हुआ है।

जातक के दो अर्थ हैं—एक है गणितात्मक, दूसरा "स्वार्थे कन्" प्रत्यय से "जात एव जातकः" अर्थात् जन्मधारी प्राणी। जन्म लेते ही लग्न और कुण्डली से देहधारी की नियति जानी जा सकती है। आजकल गुरु-परम्परा या अनुभूति परम्परा का लोप हो जाने से स्थूल पंचांगीय लग्न बनाया जा रहा है, जो अशास्त्रीय है। बिम्बोदय की गणित विधि लुप्तप्राय हो गई है जिसका विवरण बृहज्जातक, पाराशरीय, योगावलि, मोमसिद्धान्त, भावदीपिका, मानसागरीय, होरारत्न आदि में मिलता है। इन ग्रन्थों में यवनमत का भी उल्लेख किया गया है तथा फलादेश में यवनाचार्य को एक गुरु माना गया है।

किन्तु यवनाचार्यों की भारतीय ज्योतिष को अनुपम देन ताजिक है। हायनरत्न में कहा है—

> खत्तखुत्तो मेकश्च हिल्लाजो धिषणाह्वयः।
> दुर्मुखाचार्य इत्येते ताजिकस्य प्रवर्तकाः॥
> ज्योतिःशास्त्रफलं पुराणकैरादेश्यम्—इति सिद्धान्तस्मरणम्।
> विद्वांसो यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
> ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥

यवनाचार्यों के जातकशास्त्र को हमारी परम्परा में 'यवनजातक' कहा गया। इसमें 1(योगों का वर्णन है, जिनके नाम फारसी में हैं। ये योग फलादेश, जन्मफल, वर्षफल और प्रश्नफल जानने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं। ताजिकनोजकण्ठी, भुवनभूषण, हायनरत्न आदि ग्रन्थों में इनके नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—

> इक्कवालेन्दुवाराखतो इत्थशालामतः परम्।
> इसराफश्च नतूं च यमया मणऊ तत्।
> कम्बूल गौरिकम्बूलं खल्लारकरद्दके।
> ततो दुष्फाल-कुत्थश्च दुत्थदधी-तंविरो।
> दुत्थश्च दुरुपश्च योगाः षोडश कीर्त्तिताः।

ताजिक के केरल, कर्णाटक, काशी, काश्मीर और कान्यकुब्ज में अपने-अपने सम्प्रदाय स्थापित हुए। इनमें अष्टपक्ष, शकुन, पञ्चस्वर और प्रश्नाक्षर आदि की विधियों का अपने-अपने प्रस्थान के अनुसार प्रयोग होता है। अष्टपक्ष पर 'अष्टैश्वर्यसिद्धि' तथा पञ्चस्वर पर प्रजापति मिश्र कृत 'पञ्चस्वर' प्रमुख ग्रन्थ थे।

रमल

यह पाशकविद्या कहलाती है। इसमें पञ्च तत्वों का बोध है। 4-2-3-3½ इस प्रकार चार पाशक बनाये जाते हैं। छः मणिका द्वार तथा बारह राशियाँ इन पाशकों में रहती है। रमल शास्त्र का एक ग्रन्थ "मुहूर्तमाला" हस्तलिखित पोथी में हमारे पास है। इसमें रमल की परम्परा इस प्रकार बताई है—

लोदी वंशावतंसो हतवनितावारिधारप्रपूर—
प्रादुर्भूतांससिन्धुघमितवरयशोलीलया पावितश्च।
तत्पुत्रख्यातकीर्त्तिरहमदनृपतेः कामसिद्धांतविद्वान्—
जाया श्रीलाडखानक्षितिपति मुकुटैर्घृष्टपादारविन्दः॥
सर्वम्य कौतुकनिमित्तमनङ्गरङ्गं
ग्रन्थं विलासजनवल्लभमातनोमि।
श्रीमानहं कविरशेषकलाविदग्ध—
कल्याणमल्ल इति राजमुनिर्यशस्वी॥
तस्यादाविरभून्नृसिंह इति यः काश्यां कृतावस्थितिः
तत्-तत् जातकसंहितागणितवित् वैदग्ध्यवाचस्पतिः।
शाहाकब्बरसार्वभौमतिलकात दिल्लीमतल्लीश्वरात्
ज्योतिर्वित् सरसत्वमाप पदवीं मासेऽरिदुर्ने ग्रहे।
जित्वा दाराशाहं सुजाशाहं मुरादशाहं च
अवरङ्गजेबशाहे शासत्यवनी ममायमुद्योगः।

श्रीचित्तपावनजातीयशाण्डिल्यकुलमण्डनमहामहोपाध्याय श्रीज्योतिवित्—सरसात्मरघुनाथ ने इस मुहूर्तमाला ग्रन्थ का निर्माण किया।[20]

सम्पत्ति एकत्र करने की विचारधारा—मुसलमानों ने हिन्दुओं से सम्पत्ति जमा करने की परम्परा को अपना लिया जैसा कि निम्न वर्णन से स्पष्ट है "सम्पत्ति जमा करने की परम्परा भारत में अति प्राचीन है। प्रत्येक हिन्दू शासक अपने पूर्ववर्ती शासक की विरासत को बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखता था, अपने शासन काल में खुद भी कोष एकत्र करता था और अपने उत्तराधिकारी के लिए यह बुद्धिगत सम्पत्ति छोड़ जाता था, जो अनाप-सनाप बढ़ती जाती थी। ये राजकोष और मन्दिरों की सम्पत्ति उत्तर-पश्चिम के लोलुप और शक्तिशाली मुस्लिम आक्रमणकारियों के लिए अप्रतिहत तृष्णा का कारण बनते थे।

मुस्लिम काल में यह परम्परा यथावत रही है और आश्चर्य है कि मुस्लिम सुल्तानों ने भी बड़ी सजगता से इसका पालन किया ।[21]

नजर तथा भेंट देना— हिन्दुओं की नजर तथा भेंट देने की प्रथा को मुसलमानों ने भी अपना लिया । विशेष अवसरों पर हिन्दुओं की भांति मुसलमान भी उपहार अथवा भेंट देने लगे जैसा कि के० एम० अशरफ के वर्णन से स्पष्ट है "नजर और निसार समारोह इस सम्बन्ध में ऐसे दो समारोहों का संदर्भ दिया जा सकता है जिनका उल्लेख दरबार के किसी भी वर्णन में और अन्य अनेक सरकारी क्रिया-कलापों में मिलता है । नजर (अथवा खिदमती) उपयुक्त पद्धति से शासक को भेंट की गई किसी भी मूल्य की एक ऐसी भेंट थी जिससे भेंट देने वाले व्यक्ति की राजभक्ति और निष्ठा प्रकट होती थी । सुल्तान के सम्मुख पहली बार प्रस्तुत किये जाने वाले सब व्यक्ति उसे "नजर" या भेंट प्रदान करते थे । जब तक कि वे उसके आधीन कार्य करते रहते थे या सीधे उससे सम्बन्धित रहते थे । भेंट के मूल्य का भेंट से कोई सम्बन्ध नहीं था । वह एक नारियल से लेकर मूल्यवान जवाहरात तक हो सकती थी । (उदाहरणार्थ नारियल की भेंट देने की हिन्दू प्रथा को अपनाना, ग्वालियर के राजा बिक्रमादित्य के परिवार द्वारा हुमायूं को प्रसिद्ध कोहिनूर हीरा की भेंट दिये जाना) ।[22]

हिन्दू भेंट में फूल तथा सुगंधित लकड़ी दिया करते थे । मुसलमानों ने भी भेंट में फूल तथा सुगंधित लकड़ी देने की प्रथा अपना ली । इस सम्बन्ध में के० एम० अशरफ के विचार इस प्रकार हैं—"फूलों का संवर्धन हिन्दुस्तान में बहुत प्राचीन है । वे अपने आकर्षण, सुगंध और विभिन्नता के लिए प्रसिद्ध हैं । उनमें से कई जैसे तुलसी और गेंदा अनेक धार्मिक कृत्यों और पूजा से सम्बन्धित होने के कारण पवित्र माने जाने लगे हैं । हिन्दुओं में फूलों की भेंट देना एक सामान्य शिष्टाचार था । महत्वपूर्ण सामाजिक अवसरों और घरेलू उत्सवों में सदैव फूलों और पुष्पाहारों की भेंट दी जाती थी । उदाहरणार्थ, बिना पुष्प-हार के किसी नव-विवाहित दम्पत्ति या उनकी सेज की कल्पना करना कठिन था ! अमीर खुसरो और मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी पुस्तकों के समूचे अध्याय इन भूमि के फूलों के वर्णन से भर दिए हैं ।

इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तान में उत्पन्न किये जाने वाले सुगन्धित काष्ठों जैसे चन्दन और मुसब्बर का उल्लेख किया जा सकता है । आसाम, मुसब्बर की एक विशेष लकड़ी के लिए विशेष प्रसिद्ध था, जो इस भूमि के कुछ प्रसिद्धतम मंदिरों को भेंट की जाती थी । बुगारा खाँ अपने पुत्र मुईजुद्दीन कैकुबाद को भेंट में दी जाने वाली वस्तुओं में यह लकड़ी सम्मिलित करना नहीं भूला । कुतबुद्दीन ऐबक द्वारा गौर के मुहम्मद-बिन-साम को हाथी द्वारा ढोने योग्य भार के बराबर श्वेत और लाल पुष्पों और विभिन्न प्रकार के इत्रों, जिनकी तुलना में स्वर्ग के उद्यानों

की सुगन्ध भी कम थी, भेंट किए जाने का उल्लेख है।[23]

नजर लगने के अन्ध विश्वास में हिन्दुओं की भांति मुसलमान भी विश्वास करने लगे थे और उनकी ही भांति वे भी नजर उतारने के क्रिया-कलाप करने लगे थे जैसा इस वर्णन से स्पष्ट है--निसार एक अलग महत्व का समारोह था जिसका उद्भव सम्भवत: नजर लगने के अन्ध विश्वास से हुआ और जो 'उतारा की हिन्दू विधि और आजकल की 'आरती' से मेल खाता था। इनमें सोने या चांदी की मुद्राएं या अन्य मूल्यवान जवाहरात थालों में भरकर शासक के सिर के ऊपर से अनेक बार फिराने के बाद दीनों या दरिद्रों की भीड़ या अन्य किसी समूह में बिखेर दिए जाते थे। अनेक अवसरों-जैसे दरबार समारोह, विजयोपरांत शासक का राजधानी प्रवेश, नाजुक वार्त्ताओं का शान्तिमय और सफल निपटारा और अन्य असामान्य क्षणों का सावधानी से ध्यान रखा जाता था और अशुभ प्रेत्तामाओं के कुप्रभाव से कई बार इस ढंग से बचाव किया जाता था। शासक के लिए 'निसार' देना भी इन कुप्रभावों से बचने का तरीका था। इस प्रकार सुख और आनन्द के अनेक अवसरों उदाहरणार्थ शासक के स्वास्थ्य लाभ करने, पुत्र-प्राप्ति होने या राजकुमार या राजकुमारी के विवाह के अवसर पर पूर्व निवारण के रूप में निसार दी जाती थी। यदि सुल्तान किसी अमीर के घर जाकर उसे अनुगृहीत करते तो अमीर अशुभ प्रेतात्माओं को दूर रखने के लिए निसार देता था, इसी प्रकार प्रेमिकाओं (पुरुष प्रेमी की भी) को निसार दी जाती थी जिससे इनका सौंदर्य और गुण अक्षुण्ण रहे। (सुल्तान मुइजुद्दीन कैकुबाद अपने कृपापात्र एक किशोर प्रेमी को निसार देता था)।[24]

निसार देना तथा भेंट देना के उद्देश्यों में हिन्दुओं और मुसलमानों में समानता थी।

खिताब देना—"जहा तक खिताबों का सम्बन्ध है, वे शासकों की रुचि और कल्पना-शक्ति के अनुरूप ही विस्तृत थे, तथा उनकी प्रतिष्ठा बनाए रखने के हेतु उनमें से कुछ खिताबों को स्वेच्छा से चुना जाना अनिवार्य था। कुछ विशिष्ट खिताबों के नाम थे। रेबाजा जहान, "इमादुलमुल्क", "किवाम-उल-मुल्क", "निजाम-उल-मुल्क", "अजामुल-मुल्क", कुतलुगखान "सद्र-ए-जहान", "आलम-उल-मुल्क" आदि। दूरस्थ प्रान्तों में हिन्दू प्रभाव दृष्टिगोचर होता था था और बंगाल के सुल्तान तो "नायक खान" और "सत्य राजा" जैसे खिताब भी प्रदान करते थे।"[25]

बीड़ा भेंट करना—राजपूतों में बीड़ा भेंट करना या उसे स्वीकार करना, दोनों बीड़ा भेंट करने और स्वीकार करने वाले को आपस में बांधने का द्योतक था। किसी समझौते की शपथ लेने की दूसरी पद्धति थी—कमरबन्दी या एक दूसरे के वस्त्रों के कोनों को एक साथ बांधकर शत्रु का सामना करने के लिए

आगे बढ़ना। यह मौलिक हिन्दू प्रथा बाद में मुसलमानों में भी प्रचलित हो गई।[26]

गुरु का पद—मुसलमानों और हिन्दुओं के समागम से एक और कड़ी मुसलमानों द्वारा हिन्दुस्तान के "गुरु" के आदर्श को अपनाना तथा मुस्लिम समाज में "पीर" या शेख द्वारा इस्लाम के ब्राह्मणों का पद ग्रहण करने से जुड़ी है जिसका वर्णन के० एम० अशरफ द्वारा इस प्रकार किया गया है---"मुसलमानों का एक वर्ग इस्लाम के मूल आदर्शों का अनुसरण करता था और सामान्य से वैराग्य तथा पारलौकिक साधनाओं का पालन करता था। जब इन मुसलमानों ने अपने आदर्शों के अनुसार जीवन-यापन करने का हठ किया तो इस्लाम के अनुयाइयों के हृदय में उनके प्रति एक विचित्र आतंक और गम्भीर सम्मान उत्पन्न हो गया क्योंकि मुसलमानों को भौतिक वातावरण के मध्य आदिम स्वरूप के प्रति यह लगाव एक विशेष आकर्षण रखता था। हिन्दुस्तान "गुरु" के आदर्श से परिचित था ही। इसकी उपयुक्त अभिव्यक्ति मुस्लिम समाज में "पीर" या शेख पर मिलते जुलते विश्वास में दृष्टिगोचर होती है। यदि किसी सन्यासी ने अपने जीवन काल में संसार का तिरस्कार किया था तो उसके पुत्र और उत्तराधिकारी उसकी मृत्यु के बाद सांसारिक सुखों का आनन्द उठा रहे थे। पीरों के वंशज "पीरजादे" और शेखों के वंशज "मखदूमजादे" धर्मोपदेशकों का स्थान ग्रहण करने लगे। विशेषकर इसलिए कि उलेमाओं का नैतिक पतन हो रहा था। वे धर्मशास्त्रियों को स्थान देने लगे और कालान्तर में उन्होंने "इस्लाम के ब्राह्मणों का पद" प्राप्त कर लिया। हिन्दू योगियों और संयासियों को भी विस्मृत नहीं किया गया था। यदि मुसलमान तन्त्र विद्याओं या रहस्यमय तत्त्वों पर विश्वास करते थे तो योगियों के पास उससे कहीं प्राचीन परम्परा और श्रेष्ठ व्यावसायिक साधन थे। मुस्लिम सूफी प्रेरणा और मार्गदर्शन के लिए हिन्दू साधुओं, संयासियों और योगियों से निकट सम्पर्क रखते थे, किन्तु ज्ञान के अपने इन स्रोतों को जनसाधारण में प्रकट नहीं करते थे। मुस्लिम शासक भी अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति में सहायता प्राप्त करने के लिए मुस्लिम संतों के साथ ही हिन्दू संयासियों के पास जाने से नही चूकता था। डा० टाइट्स के अनुसार आध्यात्मिक सलाहकार पीर कहलाता है और उसका शिष्य मुरीद कहलाता है। यह आध्यात्मिक उपदेशकवादी क्रिया पीरी-मुरीदी के नाम से पुकारी जाती है। जो गुरु-चेलों के हिन्दुओं की प्रथा के समान है और भारत में बहुत प्रचलित है।[27]

जाति-प्रथा-- हिन्दुओं में मुसलमानों के आगमन के समय जाति प्रथा विद्यमान थी और इस जाति प्रथा का प्रभाव भारतीय मुसलमानों पर भी पड़ा। इस क्षत्र में भी दोनों में विचारात्मक एकता पैदा हो गई। डा० टाइट्स के अनुसार हिन्दू धर्म का सबसे निश्चित प्रभाव इस्लाम पर यह पड़ा कि हिन्दुओं की भांति

मुसलमानों में भी जाति प्रथा पैदा हो गई। इससे इस्लाम के प्रमुख आदर्श भ्रातृ-भावन की भावना भारतीय मुसलमानों में पैदा न हो सकी। यह सत्य है कि भारत में इस्लाम के फैलने का एक प्रमुख कारण हिन्दुओं की जाति प्रथा थी; परन्तु यही जाति प्रथा मुसलमानों को भारत में एक इस्लामिक समूह में संगठित न कर सकी।

पहले भारत में विदेशी मुसलमान अरब, तुर्क और इरानी थे जो स्वयं को प्रारम्भ से सामाजिक पैमाने में सबसे ऊपर रखते थे। वे स्थानीय परिवर्तित मुसलमानों पर अपनी श्रेष्ठता बताते थे। इससे भारत में मुसलमानों में जाति प्रथा प्रारम्भ हो गई। दूसरे, भारत में ब्राह्मणों, राजपूत और अन्य निम्न जातियों से परिवर्तन के बाद मुस्लिम समुदाय में जो व्यक्ति गए थे वे अपने पूर्वजों के गांवों में ही अधिकतर रहते रहे। इस प्रकार के वातावरण में यह असम्भव था कि वे हिन्दुओं की सामान्य भावना जाति प्रथा से अलग रह सकते। इसलिए आज भी मुसलमानों में हम देख सकते हैं कि समाज में दो तरह के समूह हैं एक शरीफ जाति अथवा ऊंची जाति और दूसरे अजलफ जात अथवा निम्न जाति।

वास्तव में, जिस प्रकार हिन्दुओं में चार सामाजिक वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र हैं उसी प्रकार भारत के कुछ भागों में परिवर्तित मुसलमान अपने को सैयद, शेख, मुगल और पठान से जोड़ने की कोशिश करते हैं। परिवर्तित हिन्दुओं में से प्रत्येक की यह कोशिश रहती है कि वे किसी प्रकार ऊंची जाति में मिल जाएं। शेख अरब मूल का शब्द है परन्तु कुछ उसकी दूसरी व्याख्या करते हैं कि शेख शब्द बुज़ुर्ग विद्वान और बड़े व्यक्ति को सम्मान देने के लिए प्रयोग किया जाता है, इसलिए परिवर्तित मुसलमानों ने मूल का ध्यान न रखकर इस सम्मानित पद को अपना लिया और अपनी अलग जाति बना ली। किसी प्रकार कुछ परिवर्तित मुसलमानों ने अपने आपको इन चार वर्गों में शामिल नहीं किया जैसे राजपूत, जाट और अहीर और इन्होंने अपने ही शीर्षकों को कायम रखा। अवध का अब भी एक मुस्लिम परिवार अपने नवाब नाम के साथ ठाकुर शीर्षक लगाता है। ब्राह्मण परिवर्तन के बाद सैयद शीर्षक अपना सकते हैं। निम्न जातियों से परिवर्तित मुसलमान नव-मुस्लिम कहलाते हैं और उनका शीर्षक उनके व्यवहार और सम्पन्नता पर निर्भर करता है। इसके विषय में एक पुरानी कहावत है "गत वर्ष मैं एक जुलाहा था, इस वर्ष एक शेख और अगले वर्ष अगर फसल अच्छी हो गई तो मैं एक सैयद हो जाऊंगा।" इस प्रकार जातियों की एक बहुत बड़ी संख्या हैं जो व्यवसाय के आधार पर जुड़ी हुई है जैसे जुलाहा, तेली भाट, जोगी। उनमें से अधिकतर पुरानी हिन्दू जातियां हैं। वे केवल अपने जाति के नामों को ही नहीं जोड़े हैं बल्कि खाने, पीने और शादी-विवाह के

व्यवहारों को भी अपनाएं है। उत्तरी भारत में एक जाति कलाल है जो शराब बेचने का कार्य करती है, जो धर्म के विपरीत कार्य है, परन्तु इसके बावजूद भी उनमें से कुछ भारत में प्रमुख व्यक्ति बन गए हैं।

इस सम्बन्ध में के० एम० अशरफ ने इस प्रकार लिखा है—"मुसलमानों के निम्न वर्गों को हिन्दू जनता से अलग करना कुछ कठिन ही था। उनमें से अधिकांश मूलतः इस्लाम में दीक्षित हिन्दू थे जिनकी सामाजिक स्थिति में इससे भौतिक रूप से कोई परिवर्तन नहीं हुआ था, यद्यपि कुछ हद तक स्थिति में सुधार ही हुआ होगा। कुछेक अवसरों पर सुल्तान मुस्लिम जनता के प्रति कुछ दयालु रहे होंगे, किन्तु यह किसी प्रकार निश्चित नहीं कहा जा सकता। (उदाहरणार्थ तैमूर के हत्याकाण्ड बिना भेदभाव के किये गये थे)। सुल्तान सामान्यत. लोगों के धार्मिक विभाजन की उपेक्षा करते थे। इस्लाम ग्रहण करने के साथ एक औसत मुसलमान अपना पुराना वातावरण, जो जाति भेद और सामान्य सामाजिक बहिष्कार से अत्यन्त प्रभावित रहता था, नहीं बदल पाया था। परिणामस्वरूप भारतीय इस्लाम क्रमशः हिन्दू धर्म के मोटे तत्व आत्मसात् करने लगा। विभिन्न वर्ग जिनसे मिलकर मुस्लिम समुदाय बना था, एक शहर के भिन्न हिस्सों में भी एक दूसरे से परे रहने लगे। दूसरी ओर विदेशी शासक और सुविधा प्राप्त वर्गों का सम्मान और आदर दिए जाने के परिणामस्वरूप विदेशी और अभारतीय मुसलमानों को सामाजिक सम्मान पाने के उच्चतम अधिकार प्राप्त हो गये। जहाँ तक सम्भव हो पाया लोग अपनी विदेशी वंश परम्परा खोजने में लग गये। भारत के मुस्लिम समाज की स्थिति के विषय में इम्पी० गजे० इण्डी० में इस प्रकार लिखा है, "भारत में जाति प्रथा वातावरण में ही है, इसकी छूत मुसलमानों में भी फैल गई और विशिष्ट हिन्दू तरीके पर इसका विकास हो रहा है। दोनों समुदायों में विदेशी वंशानुगतता को सर्वोच्च सामाजिक सम्मान प्राप्त हो रहा है, दोनों में पदोन्नति पश्चिम पर आधारित है। जो स्थान द्विज आर्य को हिन्दुओं में प्राप्त है, वैसा ही कथित अरब, फारसी, अफगान या मुगल मूल के मुसलमानों का अपने सहधर्मियों के सामान्य समुदाय में है। बिलकुल परम्परागत हिन्दू पद्धति के समान उच्चकुल के व्यक्ति निम्न कुलों की स्त्रियों से विवाह कर सकते थे, जबकि इससे उल्टी प्रणाली का मुसलमानों के ऊंचे तबकों में भी दृढ़ता से विरोध किया जाता था, एक सैयद शेख की पुत्री से विवाह कर लेगा, किन्तु बदले में अपनी पुत्री नहीं देगा और देश के उन प्रदेशों को छोड़कर जहां कुलीन वर्ग स्वल्प है, स्वयं घोषित विदेशियों के ऊंचे तबके और भारतीय मुसलमानों के मुख्य समूह के बीच विवाह सम्बन्ध सामान्यता निषिद्ध है और वह अपने विवाह सम्बन्ध अच्छे से अच्छे तरीके से सम्पन्न कर सकता है। निम्न वर्गीय कामकाजी समूह प्रचलित जातियों के अनुसार संगठित किए जाते हैं, उनमें सभाएं

और अधिकारी रहते हैं जो जाति बहिष्कार के सर्वमान्य सम्मोहन द्वारा जाति विषयों का पालन करवाते हैं। इसी सम्बन्ध में लेखक आगे लिखता है "इस्लाम का पदार्पण भारतीय जीवन की बुनियादी स्थिति में कोई आधारभूत क्रान्ति नहीं थी। इसने जाति और उनकी सापेक्षिक स्थिति में परिवर्तन तो ला दिया, किन्तु इस प्रथा को जड़-मूल से उखाड़ने में वह असमर्थ रहा। वास्तव में, इस्लाम भी जाति-भेद की भावना के वशीभूत हो गया और कुरान का संदेश भूल गया।[28]

एम० मुजीब ने जाति-प्रथा के विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए कुफ (kufw) के आधार पर कानून और रिवाज बनाए गए जो मनुष्य की स्थिति, सभ्यता तथा रहने का ढंग निश्चित करता है। यह विवाह के नियमों को निश्चित करता है। उदाहरणार्थ सैयद किसी भी कार्य को कर सकता है। वह धनी अथवा गरीब हो सकता है परन्तु यह दुर्भाग्य की बात समझी जाएगी अगर एक सैयद लड़की गैर सैयद से शादी कर लेती है।[29]

महरउद्दीन खां ने 22 जनवरी 1984 को नवभारत टाइम्स में "मुसलमान भी जातीय समाजों में बंटे है" नामक शीर्षक पर लिखा "बहुत से अन्य धर्मावलम्बी यही समझते हैं कि ऊपरी तौर पर मुसलमानों में शिया तथा सुन्नी दो ही वर्ग हैं। मगर बात ऐसी नहीं है। इस महाद्वीप का मुसलमान भी हिन्दुओं की भांति अनेक जातियों में बंटा है तथा यह जाति-प्रथा केवल सुन्नी वर्ग में ही नहीं वरन् शिया वर्ग में भी विद्यमान है। मुसलमानों में भी जाति का निर्धारण जन्म से ही होता है, न कि कर्म से। किसी एक जाति का मुसलमान अपनी जाति बदलने में उतना ही असमर्थ है जितना कि हिन्दू अपनी जाति बदलने में। विवाह सम्बन्ध भी हिन्दुओं की भांति जाति के अन्दर ही स्थापित किए जाते हैं।

उपर्युक्त विवरण इस बात का स्पष्ट संकेत देता है कि हिन्दुओं की भांति मुसलमानों में भी जातियाँ बन गई थीं और जो अब भी मुस्लिम समाज में जड़ जमाए हैं।

पुरुषों को प्राथमिकता देने की प्रथा—'भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को प्राथमिकता दी जाती थी। पुत्र सदैव ही पुत्री की अपेक्षा प्राथमिकता पाता था और पुत्रों में भी ज्येष्ठ पुत्र प्राथमिकता पाता था।' इस सम्बन्ध में के० एम० अशरफ ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं—एक बात में—अर्थात् स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष को विशेष प्राथमिकता देने में हिन्दू और मुस्लिम समाज आपस में एकमत है। पुत्र सदैव ही पुत्री की अपेक्षा प्राथमिकता पाता है। दोनों सामाजिक पद्धति की अपनी सामान्य विशेषता है, माता-पिता के प्रति प्रेम और सम्मान, तो पारस्परिक रहता है क्योंकि माता-पिता अत्यन्त ममतालु और अत्यधिक स्नेही होते हैं। हिन्दू जीवन का एक सर्वप्रमुख उद्देश्य है, एक पुरुष सन्तान की उत्पत्ति, जो परलोक में पिता की देखभाल

करके नरक से बचाने के लिए आध्यात्मिक रूप से योग्य हो। कुरान के अनुसार "पुरुष स्त्रियों के पोषक हैं" ईश्वर प्रदत्त श्रेष्ठ गुणों के कारण पुरुष स्त्रियों में श्रेष्ठ है। हिन्दू परिवार का ज्येष्ठ पुरुष सदस्य, संयुक्त सम्पत्ति का कर्ता या प्रबन्धक होता है। राजपूत सरदार का ज्येष्ठ पुत्र "कुँवर" बहुधा उत्तराधिकार में पारिवारिक सम्मान पाता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि शेर खां के पिता मियां हसन की मृत्यु होने पर उसके एक छोटे सौतेले भाई सुलेमान ने मृतक की पगड़ी धारण कर ली थी जिस पर उसके एक चचेरे भाई ने उसके सिर से पगड़ी छीन ली और चेतावनी दी कि उसके सम्बन्धी परिवार के ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाधिकार का इस प्रकार हनन सहन नहीं करेंगे।[30]

पुत्र उत्पन्न होने की प्रथा—हिन्दुओं और मुसलमानों में पुत्र उत्पन्न होने की स्थिति को काफी शुभ माना जाता है। दोनों में अनेक प्रकार के कार्य करके खुशियां मनाई जाती हैं। इस सम्बन्ध में भी के० एम० अशरफ ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये—"परिवार में सन्तानोत्पत्ति की घटना अत्यन्त महत्व की थी। चतुर और प्रबुद्ध लोगों ने चाहे मृत्यु और अगले जीवन के रहस्यों को अधिक महत्व दिया हो, किन्तु अधिक स्वस्थ मस्तिष्क वालों के लिए संसार में नए प्राणी का आगमन ही उत्सव मनाने योग्य था। अनेक छोटे-छोटे पालने नन्हें मेहमान का स्वागत करने के लिए बहुधा पहले से ही तैयार कर लिए जाते थे। यदि पुत्र उत्पन्न होता तो हिन्दू घरों में बड़ी हलचल रहती। पिता ताजे पानी से स्नान करने और पूर्वजों की आत्माओं तथा कुल देवताओं की प्रार्थना करने दौड़ पड़ता। तत्पश्चात् वह एक अच्छी अंगूठी निकालता, उसे मक्खन और शहद में डुबोता और फिर उसे शिशु के मुख में रखता था। उसी समय ज्ञानी पंडित जन्म-पत्री बनाने के लिए शिशु-जन्म की घड़ी और अन्य सूचनाएं लिखने में व्यस्त हो जाता। यदि वह जन्म की घड़ी ठीक लिखनी भूल जाता तो वह जन्म का लग्न निकालने हेतु सावधानी से शिशु के शरीर के चिह्नों की जांच करता। इन प्रारम्भिक क्रियाओं के पश्चात् आनन्दोत्सव प्रारम्भ होते, जिनमें स्त्रियां प्रधान रूप से भाग लेतीं। शिशु के स्वास्थ्य के लिए निछावर (निसार या उतारा) किया जाता और सम्पन्न तथा दरिद्र, अमीर तथा जनसाधारण सबको अच्छे उपहार बांटे जाते। सूतक की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात मुसलमानों में 'अकीका' या बलि की क्रिया सम्पन्न की जाती थी।[31]

पुत्रों को विद्यालय भेजने की प्रथा—हिन्दुओं और मुसलमानों में पुत्रों को विद्यालयों में भेजने के रिवाजों में भी समानता थी। जैसे कि के० एम० अशरफ के विचार से स्पष्ट है "शिशु की शिक्षा पर काफी ध्यान दिया जाता था। उसे रंगीन समारोहों के साथ शाला में भेजा जाता था। या उसे किसी शिक्षक की देखरेख में रखा जाता। पांच वर्ष की आयु में हिन्दू शिशु को एक "गुरु" अथवा

पंडित को सौंपा जाता, जो जीवन का दूसरा चरण प्रारम्भ होने तक उसकी देख-भाल करता था। इस्लाम में बिस्मिल्ला खानी का उद्‌घाटन या शाला (मक्तब) भेजने का समारोह चार वर्ष चार माह और चार दिन की आयु की समाप्ति के दिन किया जाता था। ज्योतिर्षी के परामर्श द्वारा तय किये गये मुहूर्त में शिशु अपने शिक्षक से पहला पाठ पढ़ता था। साधारणत: सातवें वर्ष मुस्लिम बालक का खतना किया जाता और परिवार के साधनों के अनुरूप बहुत आनन्द और मनो-रंजन के साथ यह उत्सव मनाया जाता। "द्विजों" की पहली तीन जातियों का होने पर, हिन्दू बालक के जीवन का प्रथम महत्वपूर्ण संस्कार "उपनयन" संस्कार था। यह बहुधा नवें वर्ष की समाप्ति के बाद मनाया जाता था और बाल्यावस्था की समाप्ति का द्योतक था। अब पुत्र और पुत्री दोनों दूसरे चरण, अर्थात् वैवाहिक जीवन में प्रवेश करने की तैयारी करते थे।—रेशम की रस्सी पर गांठ लगाकर प्रतिवर्ष लड़के या लड़की की सालगिरह मनाई जाती थी।[32]

बच्चों के जन्म के छठे दिन की क्रिया तथा अकीकाह (Aqiqah):— हिन्दुओं में बच्चे के जन्म के छठे दिन कुछ क्रियाएं की जाती हैं जिसे छठी कहते है इसी प्रकार की क्रिया मुसलमानों में भी की जाती हैं जिसे अकीकाह कहते हैं। एम० मुजीब के अनुसार अकीकाह किसी बच्चे के जन्म के बाद की जाने वाली क्रिया का नाम है। धार्मिक रीति-रिवाज के अनुसार मुस्ताहाब अथवा सुन्नाह (Mustahabh or Sunnah) उस दिन किया जाता है जब नये बच्चे का नाम-करण किया जाता है। उसके सिर के बाल काटे जाते हैं तथा बकरा काटने की क्रिया की जाती है। लड़के के लिए दो बकरे तथा लड़की के लिए एक बकरा। अगर यह क्रिया किसी कारण से सातवें दिन नहीं हो पाती तो बाद में भी की जा सकती है। यहां तक की बच्चा भी अपने आप कर सकता है जब वह अपनी आयु पर आ जाता है। बच्चे के जन्म के छठे अथवा सातवें दिन मनाने की बात इतनी महत्वपूर्ण दिखाई नहीं देती जितनी इसको मानने की भावना अर्थात् हिन्दू और मुसलमान दोनों बच्चे के पैदा होने की खुशी मनाते हैं चाहे छठी में हिन्दुओं में हलवा बांटकर और मुसलमानों में बकरा काटकर-दोनों में उद्देश्य एक ही है।

पोशाक—हिन्दू और मुस्लिम अमीरों की पोशाकों में बहुत अधिक समानता आ गई थी और इस बात को के० एम० अशरफ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है— "जहां तक हिन्दू पोशाकों का प्रश्न है उच्च वर्गीय मुसलमानों में हिन्दू पगड़ी लोकप्रिय हो रही थी। हिन्दू कुलीन वर्ग पोशाकों के सम्बन्ध में पूर्णत: उच्च-वर्गीय मुस्लिमों का अनुसरण करता था। यदि कोई व्यक्ति उच्चवर्गीय हिन्दुओं के साम्प्रदायिक चिन्ह या कुछ विशिष्ट अलंकार जैसे राजपूतों के कान के कुण्डल हटा देता, तो मुस्लिम अमीर और हिन्दू अमीर में अन्तर करना कठिन हो

जाता ।[33]

एम० मुजीब ने पोशाक पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं—उस समय भारतीय मुसलमानों की निश्चित वेश-भूषा नहीं थी। उस समय की वेश-भूषा में बहुत-सी तरह के कपड़े प्रचलित थे। उस समय कुछ ऐसे दरवेश थे जो कुछ नहीं पहनते थे और कुछ मोटा (Rag) कपड़ा अंग के सामने के हिस्से पर पहनते थे परन्तु प्रार्थना के नियमों के अनुसार शरीर पूरा ढका होना चाहिए। शरीयाह (Shariah) के नियमानुसार एक पगड़ी, एक कुर्ता तथा एक लुंगी पहनना आवश्यक है। एक मिरजई (Marzai) इसके साथ पहनी जा सकती थी।[34] अरब यात्रियों के सर्वक्षण के अनुसार भारत में सिन्धु घाटी तथा पश्चिमी तट पर बसने के बाद मुसलमानों ने हिन्दुओं के परिधान को अपना लिया अथवा ऐसा हो सकता है कि भारतीयों के इस्लाम स्वीकार करने के बाद भी उन्होंने अपने पहनावे को नहीं छोड़ा। इस्तारवरी (Istakhri) जो भारत में 951 ई० में आया ने थाने मनसुराह (Mansurah) के निवासियों के वस्त्रों के विषय में लिखा है कि इस क्षेत्र के निवासियों के वस्त्र इराकियों जैसे थे। शासक देखने में भारतीय राजाओं जैसे लगते थे। उन्होंने अपने बाल लम्बे बढ़ाये हुए थे। कुर्ता पहनते थे; तटीय कस्बों में मुसलमान और हिन्दू एक जैसे वस्त्र पहनते थे। तुर्क सलवार अथवा इजार (Salwar or Izar) पहनते थे। हिन्दुओं में मुस्लिम वस्त्र गगारा स्त्रियों द्वारा तथा शेरवानी और अचकन पुरुषों द्वारा अपना लिए गए तथा इस प्रकार दोनों में पोशाक में भी समानता स्थापित हो गई।[35]

भोजन—मुसलमानों ने हिन्दुओं के भोजन पकाने के बहुत से शिष्टाचार भी अपना लिए थे। के० एम० अशरफ ने इस विषय पर लिखा है "मुस्लिम लोग प्राय: भोजन के सम्बन्ध में अपने धर्म के निषेधों को मानते हैं जैसे सूअर का मास और कुछ अन्य मांस या बिना हलाल किए पशु का मांस खाना उनके लिए वर्जित है। इन मर्यादाओं के बाहर वे अपनी इच्छानुसार कुछ भी और कहीं भी पकाने और खाने के लिए स्वतन्त्र थे। उन्हें सम्भवत: निम्नतम व्यक्ति को छोड़-कर किसी अन्य व्यक्ति के साथ खाने में शायद ही कोई आपत्ति थी। कुछ उदाहरण, जो विशेषकर अफगान धर्मोत्साहियों के देखने में आए हैं जो यह प्रकट करते हैं कि उन्होंने हिन्दुओं के सारे शिष्टाचार और विशिष्ट पूर्वाग्रह अंगीकार कर लिए थे। इसी प्रकार उल्लेख मिलता है कि सिन्ध के समारा अपनी जाति के लोगों के अतिरिक्त किसी के लाथ नहीं खाते-पीते थे।[36]

प्रो० एम० मुजीब ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि खाना तथा परोसने का ढंग परिवारों की सम्पन्नता पर निर्भर करता था। इब्नबतूता के अनुसार एक खाने के बाद दूसरा खाना (Course) परोसा जाता था। परन्तु साधारणतया अधिकतर खाने की चीजें एक बड़े कपड़े जिसे दस्तरख्वान (Dastarkhwan)

कहा जाता था, पर रखते थे। खाने से पहले मीठा शर्बत दिया जाता था। खाने के बाद मिठाइयाँ दी जाती थीं। गरीबों के खाने में पकी हुई रोटियाँ, सब्जी अथवा गोश्त होता था।[37] गुलाब तथा पुलाव हिन्दू खाने लगे। मुसलमानों की तरह हिन्दू भी खान-पान में माँस और मदिरा का प्रयोग करने लगे। इस प्रकार खान-पान में दोनों में बहुत अधिक एकरूपता उत्पन्न हो गई तथा इस क्षेत्र में भी दोनों वर्ग समानता की ओर बढ़े।

खेल तथा मनोविनोद के साधन—हिन्दुओं और मुसलमानों में कुछ खेल तथा मनोविनोद के साधन सामान्य थे जैसे कि कुश्ती, तीरन्दाजी, तैराकी, पोलो और घुड़-दौड़। कुश्ती या दंगल विनोद का प्रमुख साधन था। वास्तव में प्रत्येक कुलीन और साधारण व्यक्ति इस कला में कुछ प्रशिक्षण अवश्य प्राप्त करता था। शासक और धार्मिक सन्त भी कुश्ती को प्रोत्साहन देते, प्रसिद्ध पहलवानों को रखते, मुकाबला देखते, यहाँ तक कि स्वयं कुश्ती में भाग भी लेते थे, कुशल तीरन्दाज देश में प्रसिद्धि और नाम पाते थे। तलवारबाजी, चक्र और भाला फेंकना भी वैसे ही लोकप्रिय थे। तैराकी को सामान्यतः प्रोत्साहन दिया जाता था। बाबर के तैराकी के करिश्मे प्रसिद्ध हैं। गौण खेलों में हम काश्मीर की हाकी की लोकप्रियता और बंगाल में गेंद फेंकना (गेरू) की लोकप्रियता का उल्लेख कर सकते हैं।

मैदानी खेलों में अति शानदार खेल पोलो और मनोविनोदों में घुड़-दौड़ का नाम लिया जा सकता है। हिन्दुस्तान में मुसलमादों ने इसे प्रारम्भ किया और शीघ्र ही यहाँ यह खेल सब वर्गों में लोकप्रिय हो गया। वास्तव में दिल्ली के प्रथम सुल्तान कुतुबुद्दीन की मृत्यु लाहौर में पोलो खेलते समय एक दुर्घटना में हुई थी। तुर्क लोग इस खेल के बहुत शौकीन थे; दरबार के क्रिया-कलापों के चिन्हों में एक चिन्ह सोने की पोलो की लकड़ी और गेंद का भी था। बाद में अफगानों के हाथ में शासनाधिकार चले जाने पर भी खेल की लोकप्रियता को कोई हानि नहीं पहुँची। पोलो के खेल में राजपूतों का कौशल अत्यन्त उच्च कोटि का था। चोपड़ का खेल भी हिन्दू और मुसलमान दोनों में लोकप्रिय थ।।[38]

व्यक्तिगत स्वास्थ्य—हिन्दू शिष्टाचारों का कोई भी वर्णन उनके धार्मिक विचारों का उल्लेख किए बिना पूरा नहीं हो सकता, जिन्होंने मुस्लिम रिवाजों को भी पर्याप्त सीमा तक प्रभावित कर दिया। व्यक्तिगत स्वास्थ्य पर भी धार्मिक विश्वासों का प्रभाव पड़ता था। भ्रष्टाचार और अपवित्रता का भय एक रूढ़िवादी हिन्दू की कल्पना में असाधारण रूप से छाया रहता था। उदाहरणार्थ, यदि कोई स्त्री मासिक धर्म में होती तो वह उस अवधि में और बाद में बारह दिनों तक अपवित्र मानी जाती थी। इसे अलग कर दिया जाता और उस भोजन

सामग्री या पुरुष सदस्यों के वस्त्रों का स्पर्श न करने दिया जाता था या उसका रसोई के भीतर प्रवेश रोक दिया जाता था। अपवित्रता की वस्तुओं की एक लम्बी सूची थी जिसके कारण यदि हिन्दू मस्तिष्क में व्यवहारिक प्रतिभा का अभाव होता, तो दैनन्दिन जीवन बिल्कुल असहनीय बन गया होता। इन छूत की वस्तुओं के साथ-साथ शुद्धि कराने वाली बातों का भी उतना ही व्यापक क्षत्र है जो अन्य बातों के प्रभाव का प्रतिकार करने में प्रभावात्मक सिद्ध होती थीं। यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण पुरोहित की सद्भावना प्राप्त करने में सफल हो जाता तो वह अपना जीवन पर्याप्त रूप से अनुकूल और सुखद बना सकता था।[39] इसी प्रकार के विश्वास मुसलमानों में भी पैदा होने लगे थे। वे भी इसी प्रकार मासिक धर्म के समय स्त्री को अपवित्र मानने लगे थे तथा अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए पीर तथा फकीर का आशीर्वाद प्राप्त करने की कोशिश करते थे। इस क्षेत्र में भी विचारात्मक एकता पाई जाती है।

किसी विशेष स्थान पर पैदा होना तथा मृत्यु को प्राप्त होना की भाग्य-वादी विचारधारा—उन भाग्यशाली लोगों को पवित्र माना जाता था जिन्होंने विहार के कर्मनाशा नदी के पश्चिम की ओर या गंगा के मैदान के ऊपर के भाग में जन्म लिया होता और उसी पवित्र भाग में वे मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते। इन भौगोलिक सीमाओं के बाहर कोई अविवेकपूर्ण कार्य उनके अगले जन्म को पतित कर देता था और अगले जन्म में जीवन की प्रतिकूल अवस्था में उनके जन्म होने की पूरी आशंका रहती थी। ऐसी परिस्थितियों में मुसलमानों के लिए ऐसे तथा और भी हिन्दू विश्वासों और पूर्वाग्रहों को आत्मसात कर लेना स्वाभाविक ही था।[40]

धार्मिक स्थानों में प्रवेश के तरीके—जब कोई व्यक्ति मस्जिद में प्रवेश करता तो उसे अपना दाहिना पैर पहले रखना पड़ता और इस नियम का उल्लंघन निन्दनीय माना जाता था। इसी प्रकार उसे स्वयं को अशुद्धि से बचाये रखने की विशेष सावधानी बरतनी पड़ती थी। उदाहरणार्थ औपचारिक शुद्धि के बिना कुरान को स्पर्श करना पाप माना जाता था। अशौचावस्था में किसी का भोजन लेना मना था। मुसलमानों को पूर्ण नग्नावस्था में लघुशंका न करने की चेतावनी दी गई थी। मध्याह्न के भोजन के पश्चात सोना एक पवित्र कार्य था; जो मैदान की उष्ण जलवायु के अनुकूल ही था। नियमित स्नान, दांतों की सफाई और अन्य रिवाज दोनों समुदायों के सदस्यों में एक समान थे।[41]

कांच की चूड़ियां—हिन्दुओं में कांच की चूड़ियां सुहागिन स्त्रियों द्वारा पहनना शुभ माना जाता है। विवाह के समय दूल्हे के पिता कांच की (हरे) चूड़ियां अवश्य ही दुल्हन के लिए भेजते हैं, यह सबसे शुद्ध चीज मानी जाती है। भारत में मुसलमानों में भी इसी प्रकार चूड़ी पहनना शुभ माना जाता है और चूड़ी पह-

मने की प्रथा को पैगम्बर मुहम्मद का आशीर्वाद भी प्राप्त था, ऐसी विचारधारा जोड़ रखी गई है। इस पर एम० मुजीब ने इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए हैं—"पैगम्बर मुहम्मद की लड़की बीबी फातिमा जब शादी योग्य हुई और जब उसकी शादी की तैयारियां हो रही थीं, तब प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई भेंट लेकर आया। पैगम्बर इदरिस (Prophat Idris) कांच की चूड़ियां लेकर आये। पैगम्बर ने उनसे पूछा ये क्या है? उन्होंने उत्तर दिया—'ये चूड़ियां हैं। ये वैवाहिक जीवन की खुशियों का सूचक हैं।' पैगम्बर ने उन्हें उदारतापूर्वक स्वीकार कर लिया और चूड़ियां बनाने का कार्य करने वालों को अपनी शुभकामनाएं दीं।[42]

यात्रा के साधन—सल्तनत काल में यातायात का प्रमुख साधन बैल तथा बैलगाड़ी था। उन यात्रियों के लिए जो घोड़े पर नहीं चढ़ सकते, उनके लिए अनेक प्रकार की खुली तथा बन्द पालकियां (डोला, डोली) होती थीं ऐसा लगता है कि यात्रा का साधन जाति की सम्पन्नता एर निर्भर करता था। इब्नबतूता वर्णन करता है कि एक शादी की रस्म के बाद दुल्हन को एक बहुत सजे हुए "डोला" में ले जाया गया तथा बेगमें जो शादी में भाग लेने के लिए आई थीं, घोड़े पर बैठकर गई तथा गरीब स्त्रियां पैदल गई। पालकी और डोला को गुलाम ले जाते थे। जिनके पास गुलाम नहीं होते थे, वे भारवाहक (Porters) को किराये पर लाते थे जो उन दिनों बाजारों में भी मिलते थे और इस तरह का कार्य किया करते थे।[43] हिन्दुओं के यात्रा के साधन भी इसी प्रकार के थे।

मृत्यु के बाद की क्रियाएँ—हिन्दुओं में किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने के बाद तीसरे दिन एक क्रिया की जाती है जिसे तीजा कहा जाता है। इसी प्रकार की क्रिया मुसलमानों में भी भारत में प्रचलित थी जिसे सीयूम (Seyum) कहते थे। यह क्रिया भी मृत्यु के तीसरे दिन की जाती थी। इसमें भाग लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति कुरान का एक या दो अध्याय पढ़ता है और इस प्रकार करने का लाभ मृतक की आत्मा को पहुँचता है। कुरान को पढ़ने के बाद गरीबों में भोजन वितरित किया जाता है।[44]

शादी—इब्नबतूता के अनुसार शादी की पद्धति पूरी करने में हिन्दुओं का निश्चित प्रभाव दिखाई देता है। दूल्हा तथा दुल्हन अपने-अपने मकानों में अलग रहते थे। उनके हाथों तथा पैरों में मेंहदी लगाई जाती थी। मुस्लिम कानून के अनुसार केवल चार साक्षी (Witnesses) शादी के समय होने चाहिएँ—दो दूल्हे की ओर से तथा दो दुल्हन की ओर से। परन्तु चौदहवीं शताब्दी तक यह रिवाज हो गया था कि शादी के समय व्यक्तियों के दो विपरीत समूह (Parties) होने चाहिएँ। एक दूल्हे की ओर से तथा दूसरा दुल्हन की ओर से जब दूल्हा दुल्हन के मकान पर जाता था, तो वह फूलों की माला पहनता था।

उसकी पार्टी के व्यक्ति छोटी छड़ियाँ रखते थे तथा दुल्हन के मकान पर बनी रुकावट को तोड़कर अन्दर जाते थे। दूल्हा उपदेशक के लिए बने ऊँचे चबूतरे पर जाकर बैठ जाता था; जिस पर स्त्रियों से घिरी दुल्हन पहले से ही बैठी हुई होती थी। जैसे ही दूल्हा अन्दर जाता है स्त्रियां उठकर खड़ी हो जाती हैं। गाना गाना तथा तकबीर (Takbir) पढ़ना शुरूकर देती है, जबकि बाहर की तरफ ढोल बजाये जाते हैं। दूल्हा घोड़े से नीचे उतर कर नीचे आता है और जमीन पर झुकता है। तब दुल्हन खड़ी होती है और अपने हाथ से उसे पाव देती है। दुल्हन एक कदम नीचे बने चबूतरे पर बैठ जाती है और दोनों के ऊपर सिक्कों की बौछार की जाती है। अन्त में; दुल्हा खड़ा होता है और अपनी दुल्हन का हाथ पकड़ता है और चबूतरे से नीचे उतरने में उसकी सहायता करता है। वह आगे चलता है और पीछे दुल्हन चलती है और दूल्हा उसे डोली में बैठाता है और स्वयं अपने घोड़े पर चढ़ता है। भारतीय मुसलमानों के शादी के रिवाजों में हिन्दुओं के बहुत से रिवाज लिए गए। प्रथाओं के अनुसार अमीर खुसरो ने कुछ गीत लिखे जो बाबुल (Babul) के नाम से जाने जाते थे और ये तब गाये जाते थे जब दुल्हन अपने माता-पिता का घर छोड़कर जाती थी।

शादी एक संस्कार थी जिसमें स्त्री की आवाज निर्णायक थी और इसके द्वारा इसमें इस्लामिक बातें प्रवेश कर गईं। शायद ऐसा इसलिए था कि स्त्री गायिका, जो जाति से गायिका होती थी, प्रत्येक संस्कार पर गाती थी और क्रियाओं की विधियाँ बताया करती थीं, जो उचित समझी जाती थी।[45]

डा० कमरूद्दीन के अनुसार, "यद्यपि शादी मुसलमानों में स्वयं में बहुत साधारण है, भारतीय मुसलमानों ने बहुत-सी क्रियाएँ और रीति-रिवाज हिदुओं के अपना लिए थे। मुस्लिम शादी में पति-पत्नी द्वारा काजी के समक्ष एक-दूसरे को अपनाना होता है। व्यक्ति नए युगल के लिए प्रार्थना करते हैं और यही सब कुछ है। परन्तु भारतीय मुसलमानों ने हिन्दुओं की बहुत सी बाते अपना लीं। जैसे कि चचेरे भाई-बहन की शादी भारतीय मुसलमानों में विशेषकर गाँवों में। इसका कारण यह है कि भारत में हिन्दुओं में ऐसी शादी करने की अनुमति नहीं है। दूसरे लड़के के चुनने का प्रस्ताव हिन्दुओं की भाँति लड़की वालों की ओर से ही जाता है। साथ ही लड़का भी उसी व्यवसाय का होना चाहिए जिसकी लड़की है। शादी के समय हिन्दुओं की भाँति भात नोतना, घर में सफेदी करना, लड़के-लड़की दोनों को अपने घरों में हल्दी लगाना, भात देना, मंढा गाड़ना, बरोठी आदि के रीति-रिवाज किये जाते हैं।

डा० टाइट्टस के अनुसार मुसलमानों के कुछ ऐसे निश्चित समुदाय हैं जो केवल नाम से मुसलमान हैं। वे हिन्दू रीति-रिवाजों को अपनाते हैं अथवा हिन्दुओं के रीति-रिवाजों से शादी करते हैं; बाद में काजी को मुस्लिम क्रियाएँ

करने के लिए बुलाते हैं।[46]

संयुक्त परिवार-प्रथा—संयुक्त परिवार-प्रथा में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लक्षण दिखाई देते हैं। हिन्दुओं में संयुक्त परिवार-प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। भारत में मुसलमानों ने भी इसी प्रथा को अपना लिया था। इस पर डा० टाइट्स ने इस प्रकार लिखा है—"कुछ समुदायों में, उदाहरणार्थ, मैसूर में, ग्रामीण क्षेत्र में मुसलमानों ने संयुक्त परिवार-प्रथा को अपनाए रखा। वास्तव में, उन्होंने पैतृक सम्पत्ति, दहेज प्रथा और कुछ ऐसे दूसरे सिद्धान्तों को भी अपनाएँ रखा। बहुत सी वन्य जातियों ने अपने पूर्वजों के रीति-रिवाजों को धर्म-परिवर्तन के बाद भी अपनाए रखा।[47]

आचार-विचार में एकता—हिन्दुओं और मुसलमानों के आचारों तथा विचारों में भी काफी हद तक एकता पैदा हो गई थी। हमारे यहाँ का एक सामान्य नियम है कि संध्या-पूजा आदि के समय हम कुश, ऊनी वस्त्र और रेशमी वस्त्र को ही पवित्र मानते हैं। इनका ही आसन रखते हैं और शरीर पर ओढ़ने की आवश्यकता हो, तो भी ऊनी या रेशम का वस्त्र ही लेते हैं। भगवद्गीता में आसन के लिए आज्ञा है—"चैलाजिन कुशोत्रम्। अर्थात् कुश, मृगचर्म या ऊन का वस्त्र और रेशम का वस्त्र में ये क्रम से ऊपर रखे जाने चाहिए; जैसाकि पहले वर्णन किया जा चुका है कि सूफी-संत भी ऊर्णा अर्थात् ऊन के वस्त्रों को धारण करते थे, इसी प्रकार दोनों के वस्त्रों के सम्बन्ध में विचार एक थे। साथ ही दोनों की प्रार्थना की विधियों में भी काफी समानता है। जब मुसलमान प्रार्थना करने के विषय में सोचता है और प्रार्थना की चटाई की ओर कदम बढ़ाता है तब उसके होठों पर यह शब्द होते हैं "मैं अपने बनाने वाले की ओर कदम बढ़ा रहा हूं; वह मुझे मार्ग दिखायेगा।'

उसके मस्तिष्क में अल्लाह के अलावा अन्य कोई विचार नहीं होता है। इसी प्रकार हिन्दू भक्त भी प्रार्थना में ईश्वर के अलावा अपने मस्तिष्क में अन्य कोई विचार नहीं रखता।

दुआ करने की विधि—में भी काफी समानता दिखाई देती है। मुसलमानों में अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिए ईश्वर की प्रार्थना करो; यह ईश्वर की आज्ञा है और सर्वशक्तिमान ईश्वर आश्वासन देता है कि "मुझसे पूछो और उसकी तुम्हें स्वीकृति दे दी जाएगी।' हमें आराम देने के लिए ईश्वर कहता है "अभी भी ईश्वर की शान्तिप्रद दया की आशा मत छोड़ो।" इसी प्रकार हिन्दुओं में भी लोग दुआ करते हैं और ईश्वर की दया की आशा अन्त तक नहीं छोड़ते हैं।

ईश्वर में विश्वास के विषय में भी दोनों में समानता है। मुसलमानों में ईश्वर की सहायता प्राप्त करने का एक अन्य तरीका यह है कि अपने सभी

कार्यों की देखभाल का कार्य ईश्वर के सुपुर्द कर दो। ऐसा करने के पश्चात् हमारी सभी चिन्ताएं दूर हो जाएँगी और हृदय ख़ुशी से भर जाएगा। पैगम्बर मुहम्मद साहब ने कहा है "ईश्वर के अलावा न कोई शक्ति है और न कोई विचार है।" इसी प्रकार हिन्दुओं में भी लोग अपने कार्यों को ईश्वर की इच्छा पर छोड़ देते हैं। भगवद्गीता में कहा गया है कि कार्य करना तुम्हारा कर्तव्य है और फल देना ईश्वर का कार्य है। ईश्वर में विश्वास के विचार में दोनों में कितनी समानता है यह पूर्ण रूप से इससे स्पष्ट है।

धर्म में विश्वास में भी दोनों में काफी समानता है। मुसलमानों को बताया गया है कि मुसीबतों को धैर्य के साथ सहन करते रहो। संसार एक ऐसा स्थान है जहाँ सुख-दुख मनुष्य के चारों ओर निवास करते हैं। उनको मनुष्य को सब्र के साथ सहन करना चाहिए। इसी प्रकार हिन्दुओं में भी मनुष्य को दु:ख के समय धैर्य (सब्र) रखने की सलाह दी जाती है।

शुक्र अथवा धन्यवाद—(अल्लाह का) करने के विचार में भी दोनों में समानता दिखाई देती है। मुसलमानों को सलाह दी जाती है कि ईश्वर का शुक्र अथवा धन्यवाद उन आशीर्वादों के लिए करना चाहिए जो उसने हम पर किए हैं। यह मनुष्य की प्रवृति में है कि मनुष्य अपनी मुसीबतों से छुटकारा पाना चाहता है और अधिक बडा बनना अर्थात् उन्नति करना चाहता है। पैगम्बर मुहम्मद ने इन दोनों के लिए योजनाएँ बताई हैं। मुसीबतों के समय धैर्य रखना और अल्लाह का जब कोई आशीर्वाद हो तो उस समय उसका शुक्र करना। मुहम्मद साहब ने कहा है—"अल्लाह की अनुकम्पा से आपको जो आशीर्वाद मिला है तुम इसके लिए हृदय से शुक्र करो।" इसी प्रकार हिन्दुओं में भी फल की प्राप्ति के पश्चात् हिन्दुओं को भी ईश्वर को धन्यवाद करने की सलाह दी जाती है।

तौबा—अथवा पश्चाताप करने के विचार में भी दोनों में एकता प्रदर्शित होती है। मुसलमानों को सलाह दी जाती है कि जब कभी कोई पाप करते हो तो हमें तौबा अथवा पश्चाताप करना चाहिए। वह हमें माफ करके हमारी सहायता करता है। "वह उनको माफ करता है जो पश्चाताप के दिल से उसकी ओर देखता है।" पश्चाताप मनुष्य के दिल की बुराइयों को दूर करता है और अन्त में पश्चाताप करने वाला ईश्वर का प्यारा हो जाता है।

धिकर—अथवा स्मरण करने के विचार में भी समानता दिखाई देती है। मुसलमानों को सलाह दी जाती है कि अगर हम ईश्वर की सहायता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें उसे याद करना चाहिए और उसके प्रत्येक कार्य और निर्णय का पालन करना चाहिए। "जब तुम मुझे याद रखोगे, मैं तुम्हें याद रखूंगा।" इसी तरह के विचार हिन्दू-दर्शन शास्त्रों में हिन्दू विचारकों ने हिन्दू

मतावलंबियों को बताए हैं।

रीदा—अथवा समर्पण करने की भावना भी काफी मिलती-जुलती है। मुसलमानों को बताया गया है कि "जब स्वयं को खुदा को समर्पित कर देते हैं तो खुदा हम से प्रसन्न हो जाता है।" इसी तरह के विचार हिन्दुओं को बताए जाते हैं कि ईश्वर के लिए स्वयं को समर्पित कर दो।

निफक—अथवा ढोंग पाखण्ड के विचार में भी दोनों में समानता दिखाई देती है। मुसलमानों को बताया गया है कि धर्म को केवल बातों में मानना और दिल से इन्कार करना, यह नई रीति एक पाप है। इसी प्रकार हिन्दुओं में भी धर्म को दिल से न मानना एक पाप बताया गया है।[48]

विज्ञान— विज्ञान में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लक्षण प्रदर्शित होते हैं। अजीज़ अहमद के अनुसार जब 718 और 800 ई० के बीच सिन्ध का प्रान्त खलीफा के नियन्त्रण में था तब संस्कृत का अरबों द्वारा कुछ ज्ञान प्राप्त किया गया। अरबों का हिन्दू विज्ञान; विशेषकर चिकित्सा और भौतिक ज्योतिष में उनकी रूचि यूनानी ज्ञान-विज्ञान में रुचि के समान था। हिन्दू चिकित्सकों को बगदाद आमन्त्रित किया गया, जहाँ पर अब्बासियों के मन्त्री बरमक (बौद्ध धर्म से इस्लाम में परिवर्तित) पूर्ण रूप से सशक्त थे। अल-किन्दी का वर्णन कुछ सीमा तक याहया-अल-बरमकी द्वारा भेजे गये प्रतिनिधि द्वारा भारतीय धर्म तथा रीति-रिवाजों और दवाई के विषय मे दिये गये वर्णन पर आधारित था। एक अरब चिकित्साशास्त्री इब्न-अल-तनुखी ने भारतीय चिकित्सा का अध्ययन करने के लिए नवीं शताब्दी में भारत का भ्रमण किया था। संस्कृत में लिखी गई बहुत-सी भारतीय विधियाँ, चिकित्सा, जहर और सर्प पर चिकित्सा का अनुवाद अरबी में किया गया।

प्टोलमी के अलमीगीस्ट (Almegest) के अनुवाद के पूर्व भी, भारत की तीन भौतिक ज्योतिष पर पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया गया था, उनमें सबसे प्रसिद्ध ब्रह्मगुप्त की पुस्तक 'सिद्धान्त' थी और उसका अरबी नाम "सिद्ध-हिन्द" था इसका अनुवाद अल-फजारी और याकूब इब्न तारीक ने एक ब्राह्मण विद्वान् के सहयोग से किया था। दूसरे हिन्दू भौतिक ज्योतिष के अन्य दो कार्य ब्रह्मगुप्त के "खण्ड खाद्यक" और "आर्यभट्ट" थे। वर्गीकृत वर्णन और भाष्य इन पर अरब देशों में ग्यारहवीं शताब्दी में लिखे जाते रहे यहाँ तक कि स्पेन में भी अहमद मजरीती (मृत्यु 1007 ई०) और इब्न-अल-सम्ह (मृत्यु 1035 ई०) तथा अन्य द्वारा अध्ययन किये गए और उन पर टीका भी लिखी गई। भौतिक ज्योतिष का यह संस्कृत कार्य स्पेनिश अरब के दो विद्वानों—अब्दुल्लाह इब्न-अहमद सरगोशा के (मृत्यु 1046 ई०) और इब्न साद-अनदालुसी (मृत्यु 921 ई०) के बीच विवाद का विषय रहा।

हिन्दुओं के गणित ने अरबों पर अमिट छाप छोड़ी। अल-मामून के काल (813-33 ई०) में अल-ख्वारिजमी (780-840 ई०) ने संस्कृत अंकों को अरबी लम्बरेखीय प्रक्षेप (Orthography) के अनुकूल बनाया। अलनसीवी (काल 980-1040 ई०) के अंकगणित पर हिन्दू गणित के प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। संस्कृत से गणित और भौतिक ज्योतिष की बहुत सी सामग्री को लिया गया।

संस्कृत से अरबी में अनुदित अन्य ग्रन्थ सांख्य, हितोपदेश पर जो नैतिक लेख थे, कुछ लेख इब्न नादीम द्वारा जादू पर थे। इब्न अल-मुकाफा द्वारा अनुदित ग्रन्थ पंचतन्त्र को मुस्लिम जगत में कलीला वा दीमना (Kalila wa Dimna) के नाम से जाना जाता है। सिन्दबाद की कहानियों का मूल भी भारतीय है। हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ महाभारत के कुछ भाग का अनुवाद अरबी में अबू सलीह इब्न शुआब और बाद में अबुल हसन अली जबाली (मृत्यु 1026 ई०) द्वारा किया गया। इब्न खुरदाद बेह भूगोल वेत्ता (मृत्यु 912 ई०), जिसने भारत का कभी भ्रमण नहीं किया, ने अपने वर्णन का आधार अब्बासी डाक सेवा और यात्रियों की कहानियों को बनाया और कभी उसने कुछ गलतियाँ भी कीं जैसे हिन्दुओं का सात वर्गों में विभाजन आदि। अल-मसुदी (मृत्यु 956 ई०) जिसने भारत का भ्रमण किया, ने हिन्दू धार्मिक विचारों का वर्णन किया और कहा कि काले लोग हिन्दू विज्ञान में सबसे चतुर हैं। दूसरा कार्य जो भारत का विस्तृत विवरण देता है वह बुजुर्ग इब्न शहरयार का 'अजब अल-हिन्द' है। इब्न नादीम याकूत और काजबीनी ने अल-यनबुई, जिसने भारत का भ्रमण किया था के वर्णन के आधार पर लिखा है। अल जाहिज गोरे रंग पर कालों की सर्वोच्चता के आनन्ददायक वर्णन में भारतीय हिन्दुओं को सर्वोत्तम मानता है और बताता है कि सर्वोच्चता के क्षेत्र खगोल विद्या, चिकित्सा, स्थापत्य कला, ललित कलाएँ, चैस (शतरंज) की खोज और सुगन्धित वस्तुओं के प्रति रुचि है।[49]

अब्दुल अली के अनुसार इस्लाम के उद्भव के पहले भी अरबों के भारत के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित थे। सक्रिय व्यापारी तथा साहसी नाविक होने के कारण उन्होंने भारत के पश्चिम में अनेक चीजों का व्यापार किया। उन्होंने पश्चिमी तट पर अपने स्थाई प्रतिष्ठान स्थापित कर रखे थे जिसने भारत के सांस्कृतिक और बौद्धिक आदान-प्रदान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

भारत के प्राचीन काल के विषय में यह बताना बहुत महत्वपूर्ण है कि विज्ञान के क्षेत्र में भारत संसार के अन्य देशों की अपेक्षा बहुत आगे था। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट है कि भारत की चीजों की पश्चिम और पूर्व में बहुत ख्याति

थी। भारत और अरब के शताब्दियों पुराने सम्बन्धों के कारण अरब वाले इस्लाम के उत्थान से पहले भारत की धनी बौद्धिक देन से अवगत थे। यह मजमा-उल-मुसाननीफीन (Majma-ul-Musannifin Vol. I. P. 60) "कि भारतीय आदर्श विचारों के व्यक्ति हैं और इनके मस्तिष्क स्वस्थ है। इन्होंने गणित, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, खगोल विद्या, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण खोज की है", की पुस्तक से स्पष्ट है।

इस्लाम के उत्थान के पश्चात जब अरबों में बौद्धिक जागरूकता विकसित हुई और विद्वता के लिए मुक्खल की तरह रुचि पैदा हुई तब वे स्वभावत: ही भारत की बौद्धिक देन की ओर झुके और ज्ञान तथा विद्वता की अनेक शाखाओं में बहुत लाभ उठाया। जब अरब विचारों और उन्नति के लिए भारत की देन को स्वीकार किया तब इसकी अरब चिकित्सा के लिए, जिसे उसने संसार में अधिक प्रसिद्ध तथा धनी होने के लिए प्रस्तुत किया, की बात पूर्णरूप से नहीं कही गई।

भारतीय दवाइयों पर पैगम्बर मुहम्मद के विचार : इस्लाम के उत्थान के पहले अरब में पुरानी चिकित्सा रीति तथा अंधविश्वास पर आधारित थे। वास्तविक इलाज भी जादू पर आधारित था और बुरी नजर से बचने के लिए ताबीज़ का प्रयोग करते थे। परन्तु जब मुहम्मद साहब आये तो उन्होंने धर्म की भाँति स्वास्थ्य को ठीक रखने के महत्व पर भी जोर दिया, उन्होंने न केवल रोक-थाम की दवाइयों के आधार-भूत सिद्धान्त बताए बल्कि दवाइयों के क्षेत्र में खोज करने के लिए भी कहा। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं बहुत सी भारतीय दवाइयों का प्रयोग भी किया और उनका प्रयोग अपने अनुयायियों को भी बताया। उनमें से कस्ट इण्डिया (Qust India) एवं धूप देने की भारतीय विधि, जनजाबिल (Zanzabil) और जरीराह (Zarirah) से सब भली-भाँति परिचित हैं। उसने कस्ट के औषधि तत्व इन शब्दों में बताए। "भारत की धूप देने की इस विधि से इलाज करो, इस प्रकार से सात बीमारियों का इलाज होता है, इससे गले की बीमारी दूर होती है और मुंह के एक ओर रखने से फेफड़ों की बीमारी दूर होती है।"

भारतीय चिकित्सक बगदाद में विशेष कर अब्बासी काल में-- बहुत से भारतीय प्रसिद्ध चिकित्सक अब्बासी साम्राज्य की राजधानी बगदाद में बुलाए गए और उन्हें राजकीय अस्पतालों में सेवा दी गई अथवा अनुवाद कार्यों में लगाया गया। उनमें से कुछ मनाका (Manakah), इब्न दाहन (Ibn Dahn), सलीह बिन बहलाह (Salih Bin Bahlah) कनकाह (Kankah), सिनजहाल (Sinjhal) और शानक (Shanak) थे।

मनाका का वर्णन इब्न उसबियाह (Ibn Usaybiyah) द्वारा अपनी पुस्तक

उयुनउल-अनवा की तबाकत इस-अतीब्बा में किया गया है (जो चिकित्सों के वर्गों की सूचना का स्रोत है)। यह लगभग 400 अरब भारतीय यूनानी चिकित्सों की जीवनी का संग्रह है। ऐसा बताया जाता है कि जब अब्बासी खलीफा हारून अल रशीद (786-809 ई०) बहुत अधिक बीमार हुआ तो उसके दरबारी चिकित्सक उनका इलाज करने में असफल रहे। मनाका को भारत से खलीफा का इलाज करने के लिए आमन्त्रित किया गया। जब उसने खलीफा को स्वस्थ कर दिया तो उसे उच्च दर्जा और स्तर दिया गया। वह बगदाद में ठहरा और अरब चिकित्सा के क्षेत्र में उसने बहुत अधिक योगदान दिया।

जब मनाका बगदाद के बाजार में एक दिन घूम रहा था, तो ऐसा कहा जाता है कि वह एक जादूगर के सम्पर्क में आया जो अपनी दवाइयों का प्रदर्शन कर रहा था और उनकी औषधि से सम्बन्ध तत्वों की व्याख्या कर रहा था। इसी बीच में उसने एक दवाई के बारे में बताया जो उसने स्वयं तैयार की थी, और जो सभी बीमारियों में रामबाण थी। यह सुनकर आलोचक मनाका हँसा और कहा कि क्या जादूगर एक ठग था। खलीफा को उसकी हत्या कर देनी चाहिए क्योंकि कानून ऐसे व्यक्तियों की हत्या की अनुमति देता है। अगर उसकी हत्या नहीं की गई तो यह रोजाना बहुत से व्यक्तियों की हत्या करेगा। यह दर्शाता है कि वह कितना निर्भीक, आत्मविश्वासी और आत्मप्रेरक चिकित्सक था।

इब्न दहान भी इसी खलीफा के इलाज के लिए आमन्त्रित किया गया था। उसकी नियुक्ति बगदाद के सबसे सम्मानित बरमिक अस्पताल के प्रमुख चिकित्सा अधिकारी के रूप में की गई। उसने बहुत सी संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद अरबी में कराने में सहायता की।

भारतीय चिकित्सक बगदाद में सम्पन्न हुए और उनके कार्यों का अरबी में अनुवाद किया गया। संस्कृत की बहुत सी चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया गया।

अरबी में संस्कृत की चिकित्सा की पुस्तकों का अनुवाद — चरक संहिता और सुश्रुत संहिता दो संस्कृत की चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया गया। ससरू (Sasru) पुस्तक, जिसमें बीमारियों पर दस अध्याय हैं, का अनुवाद मनाका ने याहया बिन खलीस अल बरमक (YahyaBin Khalis Al-Barmaki) की प्रेरणा से किया। उसने दवाइयों और जड़ी-बूटियों पर भारतीय पुस्तकों का अनुवाद भी किया। दूसरी छोटी परन्तु महत्वपूर्ण चिकित्सा पर संस्कृत की पुस्तकें थीं, वे दवाइयों और जड़ी-बूटियों पर लेख थे, एक पुस्तक जो एक भारतीय स्त्री चिकित्सक रावसा (Rawsa) जो स्त्री-रोगों पर थी, एक पुस्तक गर्भवती स्त्रियों पर नुकीसनाल (Nukisnal) द्वारा सो बीमा-

रियों पर लेख और उनके इलाज और बीमारियों पर शक (सन्देह) पर पुस्तकें थीं।[50]

डॉ० ताराचन्द के अनुसार हिन्दुओं ने भी मुसलमानों से बहुत सी बातें लीं। हिन्दुओं ने ज्योतिष के क्षेत्र में मुसलमानों से तकनीकी की शर्तों को अपनाया। कर्क रेखा और मकर रेखा तथा कलेन्डर (Zich) तथा जन्मकुण्डली अर्थात् ताजीक के क्षेत्र में धातु, अरक और एस्ट्रों रसायन में बहुत सी बातों को अपनाया।

डा० पतंजलि कुमार भाटिया के अनुसार आज से हजारों वर्ष पूर्व भारत का यवनों से सम्पर्क हुआ। यवनों ने धन की लिप्सा से यहाँ आक्रमण किया। भारत यवनों के अधीन हुआ। पूर्ववर्ती हूण, शक आदि से यवनों में अन्तर था। पूर्ववर्ती आक्रमणकारियों ने अपनी संस्कृति छोड़कर भारतीय संस्कृति को आत्मसात् कर लिया। लेकिन यवनों ने अपनी संस्कृति को नहीं छोड़ा और भारतीय समाज पर अपना दृढ़ प्रभाव छोड़ा। आयुर्वेद को भी यवनों ने प्रभावित किया। उसकी प्रमुख देन निम्न है—

1. निदान प्रणाली में नाड़ी-परीक्षा का समावेश

प्राचीन ग्रन्थों मे रोग की जानकारी के लिए दर्शन, स्पर्श एवं प्रश्न विधि ही थी। लेकिन इतिहास के अनुशीलन से मालूम पड़ता है कि नाड़ी-ज्ञान मूल रूप से चीन का है। अरबवासियों के सम्पर्क से भारत में आया। यवन आक्रमणकारियों के साथ वहाँ के हकीम भी भारत आए। उनसे ही आयुर्वेद में यह ज्ञान आया। मध्यकाल में भारत मे पर्दा-प्रथा थी। स्त्रियों से दर्शन, स्पर्श एवं प्रश्नविधि रोग निर्णय करने मे बाधा आती थी। इसलिए यवन हकीमों से भारतीयों ने नाड़ी-परीक्षा सीखी।

2. वाजीकरण योग

यद्यपि अथर्ववेद में वाजीकरण (विषय भोग में घोड़े के समान मैथुनशक्ति) का उल्लेख है। पर यह सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही बताया गया है। ब्रह्मचर्य पर ही ज्यादा जोर था। लेकिन मध्ययुग में यवनों के सम्पर्क से तथा धन का बाहुल्य होने से लोग विलासोन्मुख हो गये। अफीम, भांग, विष आदि का प्रचलन भी यवन संसर्ग का ही फल था। इसलिए मध्यकाल में लिंग वृद्धि, योनि को संकुचित करना, स्तनों को कठोर करने की अनेक औषधियां प्रचलित हुईं।

3. रस-चिकित्सा

चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में वनस्पतियों का प्रचुर वर्णन है। पारद (पारा), गन्धक खनिज भारत में नहीं थे। अतः आयुर्वेदज्ञ इनके गुण-दोष एवं प्रयोग के विषय में नहीं जानते थे। यवन सम्पर्क से इनका तथा अन्य धातुओं की भस्म निर्माण का ज्ञान हुआ। इनसे ही भारतीयों ने प्रवाल, मुक्ता आदि रत्नों की पिष्टि का निर्माण शुरू हुआ। अनेक प्रकार के विष पदार्थों का भी प्रचलन शुरू हुआ।

4. नये रोगों की उत्पत्ति

यवनों की संस्कृति के सम्पर्क से अनेक प्रकार के यौन-सम्बन्धी रोग, फिरंग रोग, गन्ध रोग, प्लेग, नारू आदि रोग भी यहाँ आए। इनकी औषधि भी विदेशों से ही यहाँ आई।

5. नई औषधि एवं वनस्पत्ति

अकरकरा, अफीम, ईशबगोल, कुमारी, कुलंजन, दालचीनी, तम्बाकू, पारसी नो, माजूफल, सनाय आदि औषधि तथा अनानास, अमरूद, आड़ू, पपीता, बादाम, रसभरी, लीची, लोकाट, सीताफल, आलू, गाजर, गोभी, टमाटर, बैंगन, मूंगफली, शकरकन्द, सोयाबीन, आदि फल आक्रमणकारियों यवनों के साथ ही आए। अतः संस्कृत में इनका नामकरण प्रायः नहीं है।

6. औषधि निर्माण में परिवर्तन

आजकल जो अर्क, शर्बत, मुरब्बा आदि है, उनका ज्ञान यवनों से ही भारतीयों ने सीखा। किसी फल को मुरब्बा रूप में अधिक समय तक रखा जा सकता है। यह ज्ञान यवन मूलक है।

7. ग्रन्थों का अनुवाद

यवनों के अनुभूत योगों एवं रसों को भारत के विद्वानों ने संस्कृत में लिखा जैसे महादेव विरचित 'हिकमत प्रकाश' एवं 'हिकमत प्रदीप' ग्रन्थ, महाकवि लोलिंब राज द्वारा संस्कृत में रचित वैद्यजीवन ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है। इसी प्रकार जयपुर के राजवैद्य श्रीकृष्ण भट्ट ने अपनी 'सिद्ध भैषज्यमणिमाला' में कुछ यवन चिकित्सा योगों को चित्रकाव्य के रूप में अनुदित किया।

कुछ आयुर्वेद के ग्रन्थों का अरबी एवं फारसी भाषा में अनुवाद किया गया। सुश्रुत का 'ससरो' नामक अरबी भाषा में अनुवाद है। चरक का संस्कृत से फारसी

भाषा में तथा फारसी से अरबी में 'अब्दुल्लाहनबिन अली' ने अनुवाद किया। अरबी के सन्दस्तान ग्रन्थ के विषय में विद्वान कहते हैं कि यह 'सिद्धिस्थान' नामक ग्रन्थ का अनुवाद है।[51]

सेना और प्रशासन—अजीज अहमद के अनुसार सिंध पर आक्रमण करने के पश्चात उम्मैद खलीफाओं की भांति मुसलमानों की यह नीति रही कि स्थानीय तत्वों को प्रशासन में अधिक से अधिक स्थान दिया जाये। सिन्ध इस सम्बन्ध में भाग्यशाली था कि उसे पहला मुस्लिम गवर्नर मुहम्मद बिन कासिम मिला जिसने प्रशासन में स्थानीय व्यवस्था को लागू रहने की अनुमति दे दी और नागरिक तथा राजस्व प्रशासन हिन्दुओं के हाथ में ही रहने दिये अथवा हिन्दुओं से परिवर्तित व्यक्तियों के हाथ में रहने दिये। उनका सबसे साहसिक कार्य सिसकार की सलाहकार के रूप में नियुक्ति थी, जो उसके शत्रु राजा दाहिर का मन्त्री था।

उत्तर पश्चिमी भारत में तुर्की फारसी विजय से यह याद रखना आवश्यक है कि महमूद का मूर्ति तोड़नेका उद्देश्य प्रतिमाओं के विरुद्ध था न कि किसी व्यक्ति के। उसने राज्य के प्रशासन को धर्म के साथ नहीं जोड़ा था। जब उसने हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ा तो उसने साथ ही अपनी सेना में हिन्दुओं की सेना के तीन डिविजन भर्ती किये और लगभग तीन हिन्दू सेनाध्यक्ष सुन्दर, नाथ और तिलक गजनी सेना में महत्वपूर्ण पदों पर पहुंचे। सुन्दर मसूद के काल (1030-40 ई०) में सेना का कमाण्डर था। तिलक जो जाति का नाई था, जिसे ब्राह्मणवादी हिन्दू समाज में कोई अवसर अपनी योग्यता दिखाने का प्राप्त न होता, ने महमूद गजनवी के दरबार में सेवा प्राप्त की और अपनी हिन्दी तथा फारसी की दक्षता के कारण, अपनी व्याख्याता की योग्यता के कारण, अपने मस्तिष्क की तत्परता के कारण और गजनी राज्य में हिन्दुओं की बिखरी शक्ति को इकट्ठा करने के कारण, वह इस विश्वास और शक्ति की स्थिति तक पहुंचा। उसे सबसे बड़ा अवसर तब मिला जब वह मुस्लिम सेनाध्यक्षों को हटाकर अहमद नियालतीगिन के विरुद्ध अभियान में सेनाध्यक्ष बनाया गया, जो गजनी के एक प्रान्त का गवर्नर था और जो महमूद का एक अवैध पुत्र माना जाता था और इसलिए मसूद उसे सन्देह की दृष्टि से देखता था। तिलक ने एक सेना द्वारा उसे पराजित किया जिसमें अधिकतर हिन्दू थे और उसे मार डाला। उसने इस कार्य में हिन्दू जाटों की भी सहायता ली। उसका मसूद द्वारा अन्त तक आदर-सम्मान होता रहा क्योंकि उसने भारत में गजनी राज्य को पुनः स्थापित किया।

मोहम्मद गोरी के काल में भी हिन्दू व्यवस्था ही प्रशासन में चलती रही। सेना में हिन्दू सेनाध्यक्ष नहीं थे परन्तु हिन्दू परिवर्तित व्यक्ति अवश्य थे जिन्होंने

दिल्ली सल्तनत की नींव को मजबूत किया और साथ ही उनकी सीमाओं को बढ़ाया। उनमें से सबसे प्रसिद्ध मलिक अनवर अर्थात् काफूर था जिसने खिलजियों के समय में दिल्ली सल्तनत को दक्षिण तक बढ़ाया। नव-मुस्लिम सेनाध्यक्षों में खुसरो खाँ, हरिहर और बुक्का तथा खाने जहाँ मकबूल (फिरोज तुगलक का प्रधानमन्त्री) था। इब्नबतूता हिन्दुओं की मुहम्मद बिन तुगलक के काल में प्रशासन में भर्ती का वर्णन करता है। फिरोज तुगलक की धर्मांधता के बावजूद भी उसके वित्त तथा राजस्व विभाग हिन्दुओं द्वारा ही चलते रहे। अगर हिन्दू उग्रता नहीं दिखाते थे तो फिरोज की नीति उनके प्रति उदारता की रहती, जब कि उसके अंगरक्षकों में राजपूत और उनका सरदार उसकी माता का सम्बन्धी भिरू भट्टी था।[52]

डॉ० टाईट्स के अनुसार सेना और प्रशासन में धीरे-धीरे हिन्दू प्रभाव बढ़ना प्रारम्भ हुआ। ऐसा बताया जाता है कि हिन्दुओं को जजिया कर इकट्ठा करने के लिए नियुक्त किया गया। जब गजनवियों ने भारत को विजय कर लिया और दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया तो शासकों ने हिन्दुओं का प्रयोग शासन में करना प्रारंभ किया; लेकिन हिन्दू राजकुमार, जो मुसलमानों के मित्र बन गये थे, बहुत ही लाभदायक सहयोगी बने और उनके सैनिकों को मुस्लिम सत्ता के लिए प्रयोग किया गया। वास्तव में युद्धों ने भारत के अनेक भागों में मुसलमानों को सम्मान दिलाया और प्रारम्भ में जो बेकार का असहिष्णुता का व्यवहार अपनाया गया था, वह समाप्त हुआ। इस प्रकार हम केवल यही नहीं पढ़ते कि हिन्दु सैनिकों को मुसलमानों ने रोजगार दिया बल्कि दोनों धर्मों के लोग एक-दूसरे की सेवा में भर्ती किये गये। एलफिस्टन के अनुसार मुस्लिम शासकों की मालवा की सेना में, जब उसने बहमनी राज्य पर आक्रमण किया था, ऐसा कहा जाता है कि बारह हजार अफगान और राजपूत सैनिक थे जबकि विजयनगर के राजा देवराज ने मुसलमानों को अपनी सेना में भर्ती किया; उनके प्रमुखों को भूमि दी, और प्रोत्साहन देने के लिए अपनी राजधानी में मस्जिद बनवाई। इससे भी आगे; अलाउद्दीन खिल्जी ने तेरहवीं शताब्दी में जब दक्षिण पर आक्रमण किया, तो अपने अभियान के समय उसने यह बहाना लिया कि वह राजमुन्दरी के हिन्दू राजा की सेना में भर्ती होने जा रहा है।[53]

डॉ० ताराचन्द के अनुसार मुस्लिम विजय ने भारत की सभ्यता पर बहुत अधिक प्रभाव डाला। इसने प्रत्येक चीज को अस्त-व्यस्त कर दिया। इसने हिन्दू-धर्म पर कड़ा प्रहार किया। पुजारियों और पंडितों के संरक्षण को रोक दिया। हिन्दुओं की मुसलमान शासकों को शासन चलाने के लिए आवश्यकता थी। महमूद गजनवी के पास हिन्दुओं की सेना थी; जो उसके लिए मध्य एशिया में लड़ी थी और उस सेना के सेनापति तिलक ने मुस्लिम सेनापति नियालतीगीन

(Niyaltigin) के विद्रोह का दमन किया था। जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में रहने का निश्चित किया तो उसके नागरिक प्रशासन को चलाने के लिए हिन्दू कर्मचारियों को रखने के अलावा और कोई दूसरा रास्ता ही नहीं था। मुसलमान अपने क्षेत्रों से दस्तकार, लेखाकार और लिपिक नहीं लाये थे। उनके भवनों को हिन्दू कारीगरों ने नई दिशाओं के अनुसार निर्मित किया; उनके सिक्के हिन्दू सुनारों ने बनाये और उनके लेखों-जोखों का हिसाब हिन्दू लेखाकारों ने रखा। ब्राह्मण कानून-दाताओं ने हिन्दू कानून के लिए शासकों को सलाह दी। ब्राह्मण ज्योतिषयों ने उनके सामान्य कार्य-कर्मो में सहायता दी।

जो मुसलमान यहाँ आये उन्होंने भारत को अपना घर बना लिया तब यह असम्भव था कि वे तनावपूर्ण स्थिति में रहते। आपसी मेल-मिलाप आपसी सद्-भावना की ओर ले गया। बहुत से व्यक्ति जिन्होंने अपना धर्म-परिवर्तन कर लिया था, वह उनके साथ बहुत कम मतभेद रखते थे, जिन्हें उन्होंने अभी छोड़ा था। इस प्रकार पहली विजय के बाद हिन्दू और मुसलमानों ने एक बीच का रास्ता निकाला, जिसमें वे एक अच्छे पड़ोसी की भाँति रह सकते थे। इसके प्रभाव-स्वरूप एक नई सभ्यता का विकास हुआ जो पूर्ण रूप से न हिन्दू थी न मुस्लिम।

हिन्दू-सम्प्रदायों के धार्मिक नेताओं ने दक्षिण में ही नहीं बल्कि महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, उत्तरी हिन्दुस्तान और बंगाल में चौदहवीं शताब्दी के आगे जान-बूझ कर प्राचीन धर्म की बहुत सी बातों का खण्डन किया और अन्य बातों पर जोर दिया और हिन्दू-धर्म तथा इस्लाम में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की। उसी समय मुस्लिम सूफी सम्प्रदाय, मुस्लिम लेखकों तथा कवियों ने हिन्दू-क्रियाओं और सिद्धांतों को आतमसात् करने की कोशिश की और कुछ घटनाओं में तो इतना बढ़ गये कि हिन्दू-देवताओं की प्रशंसा भी की।

संस्कृत साहित्य में माध्यम का स्थान लोगों की आवश्यकता के अनुसार न ले सकी। उत्तर में हिन्दी, पश्चिम में मराठी और पूर्व में बंगाली साहित्यिक भाषाओं के रूप में विकसित हुई। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने इनकी शान को बढ़ाने में हिस्सा लिया। इससे भी आगे, एक नया सामंजस्य भाषा में हुआ। मुसलमानों ने अपनी तुर्की तथा फारसी छोड़ दी और हिन्दुओं की वाणी को अपना लिया जिससे उर्दू का विकास हुआ। फिर हिन्दू और मुसलमान दोनों ने इसे अपना लिया। जिस प्रकार मुस्लिम प्रभाव हिन्दी पर दिखाई देता है, उसी प्रकार मराठी; बंगाली, पंजाबी तथा सिन्धी पर भी दिखाई देता है। हिन्दुओं ने मुसलमानों की कला और शिल्पकला के क्षेत्र में बहुत सी बातों को अपनाया। उनमें कागज को बनाने की कला का जिक्र किया जाता है। साथ ही उन्होंने मीनाकारी और दस्तकारी, बुने हुए कपड़े तथा बूटेदार कढ़ाई को भी अपनाया।

आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में भी इस्लाम का प्रभाव गंभीर है। इस्लाम में सामाजिक जीवन में प्रजातंत्रवादी विचारधारा को अपनाया गया है। उसने जन्म और वंश को कोई महत्व नहीं दिया। इसका प्रभाव शीघ्र ही हिन्दू-धर्म पर पड़ा और हिन्दुओं में भी समानता की भावना बढ़ने लगी तथा सामाजिक बन्धनों को तोड़ने की कोशिश की जाने लगी।

राजनैतिक क्षेत्र में मुसलमानों से पहले भारत सामन्तवादी विचारधारा में बह रहा था। वे अपने को स्वतंत्र रूप से छोटे-छोटे राज्यों में बनाए रखना चाहते थे। परन्तु मुस्लिम सत्ता ने यह सब समाप्त कर दिया और भारत में राजनैतिक एकता उत्पन्न की।[54]

सल्तनत काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य सामाजिक और सांस्कृतिक समागम काफी प्रगति कर चुका था। इस विषय में के० एम० अशरफ ने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं, "इस समय हिन्दुओं और मुस्लिमों के मध्य सामाजिक और सांस्कृतिक समागम काफी प्रगति कर चुका था, इसलिए जब बाबर ने पदार्पण किया तब उसे हिन्दुओं और मुसलमानों की संयुक्त शक्ति से संघर्ष लेना पड़ा (बा० ना० 28, जहाँ बाबर "खान-ए-जहान" पदवी वाले एक हिन्दू का उल्लेख करता है जो ग्वालियर के पड़ोस में मुगलों को परेशान कर रहा था।) अकबर के हाथों में शासन-सूत्र आने के समय अंतिम अफगान युद्ध एक हिन्दू अमीर और सेनापति के नायकत्व और नेतृत्व में लड़ा गया था। अफगानों के हिन्दू सेनापति हेमू की शक्ति और प्रभाव का कुछ परिचय "तरीख-ए-दाउदी" के लेखक के कथन से प्राप्त किया जा सकता है। पाद टिप्पणी, 121, 122—जब कर्रानी सम्प्रदाय के अफगानों को पराजित कर हेमू सुल्तान अदली के पास पहुंचा तब सुल्तान ने उसे अनुग्रहों से लाद दिया और उसे विक्रमादित्य की उपाधि दी। कुछ समय पश्चात् शासक ने उसे राज्य के सारे अधिकार सौंप दिये। बात यहां तक बढ़ी कि निर्वाह के साधनों के अतिरिक्त सुल्तानों के पास शायद ही कुछ रह गया। हाथी और कोष सब हेमू के नियंत्रण में चले गये।[55]

हिन्दू-मुस्लिम समागम के विषय में एम० मुजीब ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं "यहाँ कोई मान्य प्रथा नहीं है जो यह उचित सिद्ध करे और कानूनी रूप दे दे कि हिन्दुओं और मुसलमानों में वास्तविक संबंध थे यद्यपि बहुत सी क्रियाएँ हिन्दुओं से मुसलमानों ने ग्रहण कर ली थीं। यह शादी के संस्कार, बच्चों के जन्म तथा मृत्यु संबंधी प्रथायें, जिन्हें बाद में कानूनी रूप मिल गया था उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—सचक (Sachaq) शादी से पहले दुल्हन के पिता द्वारा दूल्हे को उपहार भेजना, सीयूम (Seyum), नियाज (Niyaz) और फतीहाह (Fatihah) मृत्यु के बाद की क्रिया। मुसलमानों द्वारा इन चीजों को अपनाने का कारण वे स्त्रियाँ रही होंगी जो मुस्लिम परिवारों में शादी के

बाद गईं। दूसरे वे जातियाँ रही होंगी जो मुसलमान अमीरों की सेवा करती थीं, जैसे घर में काम करने वाले नौकर, नाई, गायक, ज्योतिषी तथा कुछ अन्य दस्तकार।"

बशारी मकदासी (Bashari Maqdasi) लिखता है कि मैं एक मुसलमान से मिला था जो अपने धर्म से खिंच चुका था और जिसने पूजा करनी प्रारम्भ कर दी और वह मुसीबतों में फँस गया। तब वह निसापुर गया और इस्लाम की ओर झुक गया। बरनी लिखता है कि प्रत्येक हिन्दू, मुसलमान, तुर्क जिसका कोई स्तर था या भूमि थी, यह सिद्ध करती है कि हिन्दुओं को विशेषाधिकारों से वंचित नहीं किया गया था। इब्बनबतूता को एक मुसलमान मिला जो एक हिन्दू योगी का शिष्य था तथा भारत के एक कस्बे में उसने देखा कि बहुत से मुसलमान हिन्दू योगियों के चक्कर लगाते थे, इस आशा से कि वे कुछ चीजें उनसे सीख सकें। फुतुहात-इ-फिरोजशाही में इस बात का वर्णन है कि हिन्दू-धर्म-प्रचारकों के प्रयत्नों से बहुत से सम्प्रदाय पैदा गए हो थे जिनमें हिन्दू और मुस्लिम, स्त्री और पुरुष बहुत अधिक संख्या में इकट्ठे हो गए थे। भक्ति आंदोलन के फलस्वरूप मुसलमानों में आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही थी। सिकन्दर लोदी के काल में एक उदाहरण मिलता है जब एक ब्राह्मण ने कहा कि इस्लाम एक सच्चा धर्म है, परन्तु उसने इसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया; इसलिए उसको मृत्यु-दंड दिया गया। साथ ही हमें ऐसे उदाहरण भी मिलते है जहाँ हिन्दू ब्राह्मणों ने मुस्लिम विद्यार्थियों को अपने परम्परागत विज्ञानों में शिक्षा दी।

हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक बहुत ही कुतूहलपूर्ण उदाहरण यह है कि भारत में बहुत से हिन्दू मुरीदों के मुस्लिम पीर थे और इसी प्रकार बहुत से हिन्दू योगियों के मुस्लिम चेले थे। सर टी० डब्लू आरनेल्ड हमें बताता है कि दोनों विपरीत धर्मों के संतों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध अज्ञात नहीं हैं।

डा० टाइट्स के अनुसार भारत जैसे देश में जहाँ पर मुसलमानों का बहुत बड़ा भाग हिन्दुओं से परिवर्तित करके बना था। अब भी इस मुस्लिम सम्प्रदाय के बहुत बड़े भाग ने यहाँ-वहाँ हिन्दू बातों को धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में नहीं छोड़ा था और वह नये और पुराने का मिश्रण था। मूर्तिपूजक वातावरण जिससे वह घिरा हुआ था, का बहुत दबाव था, केवल उनके पड़ोसी ही नहीं, बल्कि उनके बहुत से संबंधी भी अब भी हिन्दू थे। इसमें बहुत कम आश्चर्य है कि गाँव की देवी की पहले की भाँति अब भी पूजा होती थी और आस्तिकतापूर्ण पुराने विचार अब भी चलते रहे। ब्राह्मण पुजारियों को अब भी नियुक्त किया जाता रहा और हिन्दू त्योहारों को माना जाता रहा।

सबसे प्राचीन लेखा इसका जहाँगीर के काल में मिलता है जहाँ गांव के

लमान मिश्रित रीति-रिवाजों आर विश्वासों को अपनाए हुए थे; जब जहांगीर काश्मीर का भ्रमण कर रहा था, झेलम पर पामपुर गाँव के निकट राजोर में उसने देखा कि कुछ मुसलमान जो मूल रूप में हिन्दू थे, उनका प्रमुख राजा की भाँति रहता था। यहाँ हिन्दू रीति-रिवाजों को अब भी माना जाता था और विधवा को जलाना और हिन्दुओं के साथ विवाह-संबंध करना जारी था।

मलकाना (Malkana) समुदाय के बिषय में मि० बलंट ने लिखा है — ये बहुत सी जातियों के परिवर्तित हिन्दू हैं जो आगरा और उसके निकटवर्ती क्षेत्र मुख्यत्तः मथुरा, एटा और मैनपुरी में बसे हैं। ये राजपूत, जाट और बनिया समुदाय से सन्बन्धित हैं। ये स्वयं को मुस्लिम कहने में भी संकोच महसूस करते हैं और सामान्यतया अपनी जाति का नाम बताते हैं और कठिनाई से अपना नाम मलकाना स्वीकार करते हैं। उनके अधिकतर नाम हिन्दू हैं। वे अधिकतर हिन्दू-मन्दिरों में पूजा करते हैं : वे अभिवादन में राम-राम का प्रयोग करते हैं और अधिकतर आपस में ही शादी करते हैं। दूसरी ओर वे बहुधा मस्जिद में जाते हैं, मुसलमानी करने की विधि अर्थात् खतना करते हैं, मृतकों को दफनाते हैं और अगर कोई विशेष मित्र है तो वे केवल मुसलमानों के साथ खाते हैं। वे मियां ठाकुर कहलाना अधिक पसंद करते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि वे न हिन्दू है और न मुसलमान बल्कि दोनों का मिश्रण हैं।

गुजरात में भी इसी प्रकार की कहानी मिलती है। कच्छ के मामनाज अर्थात् मीजोनज शिया कहलाते हैं परन्तु वे मुसलमानों से सम्बन्ध नहीं बनाते, गोश्त नहीं खाते, खतना नहीं करते, सलात अर्थात् निश्चित प्रार्थना नहीं करते और रमजान में व्रत (रोजा) नहीं रखते। इनका अभिवादन राम-राम है, वे हिन्दुओं की तीन मूर्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा करते हैं और इमाम-शाह को, जिसने उन्हें धर्म में परिवर्तित किया था, ब्रह्मा का अवतार मानते हैं। इसी तरह की कहानियाँ पंजाब, बंगाल, मध्य और दक्षिण भारत के बहुत से मुस्लिम समाज में मिलती हैं।

मुसलमानों के धार्मिक क्षेत्र में अशिक्षित और अर्ध परिवर्तित ग्रामीण जीवन में अपने प्राचीन अनेक विश्वास और क्रियाएँ मिलती हैं। हिन्दुओं के पवित्र स्थानों में तीर्थ के लिए परिवर्तित मुसलमान विशेषकर काश्मीर में जीयारत (Ziyarat) के लिए जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि मुस्लिम संत का मकबरा पहले हिन्दू मन्दिर था। उदाहरणार्थ, काश्मीर में बीमा दीन साहिब (Bima Din Sahib) ने एक बनवाया था जो काबूल का अन्तिम हिन्दू संन्यासी था और धर्म परिवर्तित करने से पहले अर्थात् इस्लाम स्वीकार करने से पहले उसका नाम भूमा साधी (Bhuma Sadhi) था।

डा० टाइट्स के अनुसार हिन्दू धर्म ने इस्लाम पर प्रभाव डाला है परन्तु यह

भी निश्चित है कि इस्लाम ने भी हिन्दू धर्म और भारतीय जीवन पर प्रभाव डाला। इस समय बहुत से सूफी संत भारत में आये और कम से कम दो चिश्ती और सुराहवर्दी सम्प्रदाय प्रारम्भ करते हुए और जैसा कि हम जानते हैं कि बहुत से हिन्दू सूफियों के शिष्य बने और इसके विपरीत भी। वास्तव में सूफी मत के द्वारा ही इस्लाम हिन्दू धर्म के निकट आया और हिन्दू हृदयों पर प्रभाव डाला। यह प्रभाव हमें 15वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में दिखाई देता है। यहाँ कबीर और गुरु नानक के द्वारा उत्तरी भारत में सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उन्होंने बहुदेववाद, मूर्ति-पूजा और जाति-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। बहुत से व्यक्तियों द्वारा कबीर को मुस्लिम समझा जाता है और निस्संदेह उसका नाम मुस्लिम है। उसके जीवन के विषय में डा० जे० एन० फरकूहर कहते हैं :

"दोनों धर्म आपस में मिलते हैं। दोनों के प्रभावशाली तत्व उन पर अपना काबू रखते हैं और उसके विचारों को बनाया" उसने मूर्ति-पूजा को मूर्खतापूर्ण कहकर खंडन किया साथ ही झूठा और गलत बताया, अवतार रूप लेना असंभव बताया और यौगिक क्रियाओं को निर्बुद्धि क्रियाए कहकर हँसे।—वह पूर्ण रूप से आस्तिक था और ईश्वर को राम कहता था परन्तु अन्य किसी सहायक, अवतार और देवी सहायक को स्वीकार नहीं किया।"

हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने के लिए काश्मीर की एक स्त्री सन्त लल्ला बकयानी ने भी चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रयत्न में किया।

गुरुनानक भी इस्लाम के ऐकेश्वरवादी सिद्धांत से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों को आपस में मिलाने की कोशिश की। धर्म के मामले में उनका रास्ता कबीर के रास्ते से अलग नहीं था। इन दोनों ने मिश्रित धर्म बनाने का कार्य किया।

पंजाब में सुथरस (Suthras) सम्प्रदाय है जिसके अनुयाई हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं। मुस्लिम सुथरा एक डंडा लेकर चलते हैं, जिसे वे अपनी लोहे की चूड़ियों पर लगाते हैं और बहुत ही विलक्षण ढग से गाना गाते हैं। हुसैनी ब्राह्मण हिन्दू हैं और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने अपना नाम हजरत इमाम हुसैन से लिया। वे अपने मस्तिष्क पर तिलक लगाते हैं, परन्तु मुसलमानों से भिक्षा माँगते हैं। उन्होंने बहुत से मुस्लिम विश्वासों और क्रियाओं को अपना लिया है जैसे वे रमजान का व्रत रखते हैं और ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह के विशेष भक्त हैं। एक सम्प्रदाय सम्सीस (Samsis) है जो बाहरी रूप से तो हिन्दू दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव में इस्लामी खोजा से सम्बन्धित है। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने यह नाम मुल्तान के बड़े मुस्लिम सन्त पीर शमसुद्दीन तबरीजो से लिया है। वे अधिकतर झेलम नदी के पश्चिम की ओर रहते हैं। वे कोई मूर्ति-पूजा नहीं करते, परन्तु भगवतगीता को सम्मान

की दृष्टि से देखते हैं। ऐसा माना जाता है कि वे कुछ गुप्त विश्वास मानते हैं और आगा खाँ की पूजा करते हैं तथा उसे हिन्दू-त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और शिव का अवतार मानते हैं।[56]

अजीज अहमद के अनुसार भक्ति आन्दोलन और सिक्ख धर्म के अलावा भी कुछ अन्य छोटे सम्प्रदाय थे जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम की अच्छी बातों को चुना और बुरी बातों का खण्डन किया। इन सम्प्रदायों को मानने वालों की संख्या बहुत कम थी और कुछ हजारों में थी तथा कुछ की केवल सैकड़ों में थी इनमें से अधिकतर एक छोटे क्षेत्र में ही प्रचलित रहे।

इस प्रकार का सम्प्रदाय सिन्ध में पनपा। मुसलमानों के सिन्ध में आने से पहले सिन्धु नदी की पूजा की जाती थी और इन्दरोलाल (Enderolal) को श्रद्धासुमन अर्पित किये जाते थे। बाद में इनके मानने वालों को दरियापन्थी कहा जाने लगा और इन्दरोलाल को दैवी अवतार मानने लगे। मुसलमानों के सिन्ध में आने के बाद इन्दरोलाल की पहचान खिदर के नाम से की जाने लगी और अब भी पटियाला के जाट इसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और उन्होंने इसे जिन्दा पीर का नाम दिया है। सिन्ध का दोनों धर्म वालों का मिला जुला सन्त परि झराओ (Pir Jharion) अर्थात् लकड़ियों का सन्त है और शायद यह कोई वन का देवता है। सिन्ध में ही एक गुग्गा पीर (Guga Pir) है जिसे हिन्दू तथा हिन्दू परिवर्तित मुसलमान मानते हैं और मुसलमान उसे जाहिर पीर अर्थात् सर्पों के बादशाह का नाम देते हैं। पंच प्यारा अर्थात पाँच सन्तों का समूह को हिन्दू (निम्न जाति के) तथा मुसलमानों की गाने-बजाने वालों की एक वन्य जाति मानती है और इसका प्रचार उत्तरी भारत तथा पूर्वी बंगाल में भी है। एक मुस्लिम सूफी सन्त सलार मसूद गाजी को हिन्दू भी मान्यता देते हैं जिसके उर्स को सिकन्दर लोदी ने इसी कारण से बन्द कर दिया था। लाल शहबाज है, जो शायद एक कलन्दर था, जिसे कुछ हिन्दू विष्णु का अवतार मानते हैं (एक लोककथा के दूसरे व्यक्ति शाह मकई सिन्ध के हैं)। मानिक पीर को बंगाल में माना जाता है और पीर भैरों को दिल्ली के निकट मुस्लिम मियाँ सम्मान देते हैं जिसने हिन्दू धर्म से परिवर्तन के बाद उस धर्म की बहुत सी बातों को नहीं छोड़ा था।

ईश्वर का मनुष्य के आकार को मानने का सिद्धान्त मानने वाले हिन्दू धर्म ने कुछ मुस्लिम सन्तों के व्यक्ति को माना। सैयद अहमद (मृत्यु 1181 ई०) जिसे जाटों की एक वन्य जाति अर्ध दैवी मानती है और जो सुल्तान शकी सरवार के नाम से प्रसिद्ध है; ये जाट सुल्तानी और सरवाया नाम से जाने जाते हैं। ये जाट प्रतिवर्ष घनकल में इनके सम्मान में मेले का आयोजन करते हैं और मुसलमानी क्रियाओं के अनुसार मारे गये पशु का गोश्त खाते हैं। इन जाटों ने

सिक्ख धर्म अपना लिया और इस सन्त को भी नानक देव का साथी माना और दानी जत्ती (Dani Jati) की संस्कृत की कविताओं में इन्हें श्रद्धांजली अर्पित करने की प्रेरणा दी। उसके अनुयाईयों में निम्न जाति के जूते बनाने वाले भी हैं। गोलकुण्डा में कुतुबशाह के काल में हिन्दू शियाओं के ताजियों में भाग लेते थे और हुसैन के नाम पर अपने बच्चों के नाम भी रखते थे।

उच्च वर्ग के हिन्दुओं में दूसरे धर्मों की बात ग्रहण करने की बात जागरूक रूप से सब पदार्थो का सर्वोत्तम भाग ग्रहण करने वाले दार्शनिकों की भाँति है। मध्यकालीन बंगाल में हिन्दू मुसलमानों के उत्सवों में भाग लेते थे और कुरान से भविष्यवाणी लेते थे। महायान धर्म, जो बौद्ध धर्म का परिवर्तित रूप था और जो बंगाल में मुस्लिम काल में कुछ बचा हुआ था—कुछ मुस्लिम आदर्शों से प्रभावित हुसैनी ब्राह्मण जिनमें उच्च वर्ग के हिन्दुओं का मेल-जोल का रूप मिलता है, ने इस्लाम से बहुत सी बातों को लिया और उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार इन सिद्धान्तों को परिवर्तित किया। जैसा कि उनके नाम से विदित है; वे शिया इस्लाम के हुसैन से बहुत प्रभावित हैं परन्तु मुइनुद्दीन चिश्ती को भी धार्मिक देवता मानते हैं। उन्होने मुहम्मद साहब को हिन्दुओं के अवतारों में से एक माना है, रमजान में मुसलमानों की तरह व्रत रखत हैं और अपने मृतक को दफनाते हैं परन्तु अपने मस्तिष्क पर ब्राह्मण वाला तिलक लगाते है। यद्यपि ये केवल मुसलमानों से दान स्वीकार करते हैं तथापि उन्हें मुसलमान आदर-सत्कार से देखते हैं विशेष रूप से शिया ककन, जो ककन कश्मीरी ब्राह्मण के अनुयायी थे और जो एक ऐकेश्वरवादी सम्प्रदाय था, उन्होंने मुसलमानों को अपना अनुयायी बनाया था; परन्तु उन्होने न इस्लाम और न हिन्दू धर्म की क्रियाओं को माना। राम सांखी (Ram Sankhis) जो एक रामचरन के अनुयायी थे, मुसलमानों की भांति दिन में पाँच बार प्रार्थना करते हैं और जाति-प्रथा का खण्डन करते हैं। योगियों का एक सम्प्रदाय पैगम्बर मुहम्मद को गोरखनाथ का शिष्य मानते है; दूसरे मुसलमानों की भांति प्रार्थना करते हैं तथा गोमांस खाते हैं। सिधारस (Siddhars) ऐकेश्वरवादी हैं और वेदों की सत्ता का खण्डन करते हैं, एक सतगुरु में विश्वास करते है और अपनी रहस्यवादी क्रियाओं में सूफी प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं। रामवल्लभी हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई धर्मशास्त्रों में विश्वास करते हैं। धानी (Dhanis) मुसलमानो के साथ भोजन करते हैं। पंचू (Panchu) फकीर और कर्ताभाजियो ने अपने घेरे में मुसलमानों को स्वीकार किया, गोसे-नजानी (Gosainjanis) वैष्णववादी थे उन्होंने मुसलमानों को स्वीकार किया; एक दिन में पाँच बार प्रार्थना करते हैं और दीन, अन्धों और लंगड़ों की सहायता करने के लिए धन इकट्ठा करते हैं। वैरागी वैष्णववादी हैं वे। न वेदों में विश्वास करते हैं और न कुरान में परन्तु सत्तरहवी

शताब्दी में उन्होंने मुसलमानों को अपना अनुयायी बनाया। संयासी जो शक्ति पूजक थे अधिकतर मुसलमानों के यहाँ नौकरी करते थे।

सबसे अधिक संख्या वाला और फैलने वाला तथा मेल-जोल वाला सम्प्रदाय लिंगायत अथवा जनगामस था। ऐसा लगता है कि उसने बारहवीं शती में इस्लाम के कुछ सिद्धान्तों को अपना लिया था। उनकी दीक्षा ग्रहण करने की क्रिया (Ritual Imitiation) मुसलमानों केसमान है। शादी में मुसलमानों की भांति वे कन्या की अनुमति लेते हैं। तलाक की अनुमति देते हैं मृतक को दफनाते हैं और ईश्वर को पदार्थ रूप में नहीं मानते। पुर्नजन्म में विश्बास नहीं करते हैं।

डा० ताराचन्द के अनुसार लिंगायत सम्प्रदाय पर इस्लाम का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। लिंगायत स्वयं को प्राचीन शेख सम्प्रदाय के अनुयायी मानते हैं। लिंगायत एक ईश्वर के पुजारी हैं जो अनिश्चित, स्वतन्त्र, अदृश्य, सार्वभौम आनन्द है। वह सबको जानने वाला है। वह संसार के गुरू के रूप में स्वयं को प्रदर्शित करता है। अल्लामा प्रभु (Allma Prabhu) तथा मानव आत्मा को दिशा दिखाने वाला है। मानव दुख दूर करने के लिए बसावा अवतार रूप धारण करके आये। उनका रूप उनके उत्तराधिकारियों और प्रतिनिधियों में दिखाई देता है। उनमें पहले चार रीवन, मरुल, इकोरमा और पण्डित सम्मानीय हैं। ब्राउन ने इनको मुसलमानों के चार पीरों के समान माना है। वे आध्यात्मिक गुरू हैं। वे एक मुसलमान मुरीद को बनाने की क्रिया में होने वाले रिवाजों की तरह लिंगायत सम्प्रदाय में आराधयों (Aradhyas) द्वारा एक जनगम बनाने की तरह है। उनकी देवताओं के रूप में व्याख्या की है। इनके नियम भी इस्लाम से मिलते-जुलते है।

लिंगायत में बलि देने, व्रत रखने, दावत देने तथा तीर्थ-यात्रा करने की आवश्यकता नहीं है। उनमें कोई शुद्ध करने की क्रिया नहीं है। उनमें कोई जाति प्रथा नहीं है। अगर कोई भिन्न जाति का व्यक्ति भी इस सम्प्रदाय में सम्मिलित होता है तो वह भी ब्राह्मण के समकक्ष समझा जायेगा। यहाँ जन्म और लिंग के आधार पर भी कोई भेद-भाव नहीं है। प्रत्येक पवित्र है जैसे कि वे बड़ी आत्मा के मन्दिर हैं।

विवाह स्वेच्छा से होता है। शादी से पहले लड़के तथा लड़की की सहमति लेना आवश्यक है। बाल-विवाह का निषेध है। तलाक की अनुमति है। विधवा सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है और उन्हें पुनर्विवाह की अनुमति है। मृतक का दाह संस्कार नहीं किया जाता बल्कि दफनाया जाता है। मृतक को स्नान कराया जाता है; कोई श्राद्ध अथवा अन्य संस्कार का निषेध है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास नहीं किया जाता है। सब लिंगायत एक साथ खाते हैं और आपस में विवाह करते हैं और एकता के साथ रहते हैं।

लिंगायत भक्त पवित्रतावादी और स्वभाव के झगड़ालू हैं। वे प्रमुखतया कर्नाटक और तेलगू क्षेत्र, बेलगाँव, बीजापुर और धारवाड़ जिलों में मिलते हैं। मैसूर और कोल्हापुर क्षेत्रों में भी कुछ मिलते हैं और स्वयं को वीर शैव के नाम से पुकारते हैं।

परन्तु ब्राउन के अनुसार जबकि उन्होंने अपने सिद्धान्त विकसित कर लिए हैं उनमें मुस्लिम विचार प्रदर्शित होते हैं। नरेन (Narain) के अनुसार तब भी दाह-संस्कार क्रिया, मृत्यु के समय पवित्रतावादी क्रियाएँ, जाति, धर्म के आधार पर भेद-भाव को समाप्त करना, शादी में सुधार करना, बहादुर लड़ाकुओं के सम्प्रदाय का विचार, जिनका मार्गदर्शक पाप-रहित होता है और उसका खुदा (अल्लामा) निश्चित रूप से इस बात का संकेत देते हैं कि इनकी प्रेरणा इस्लाम से मिली है।

संक्षेप में, दक्षिण में धार्मिक विचारों का विकास इसकी ओर संकेत करता है कि हिन्दू प्रथाओं में मुस्लिम विचारों का सम्मिश्रण हो गया था। शंकराचार्य रामानुज और दूसरों के दर्शन में भूत की प्रथाओं की जड़ें हैं उनका प्रस्तुतीकरण मौलिक है; परन्तु बाद की बात में ऐसा लगता है कि उस पर देश में बह रही विचारधारा का प्रभाव अवश्य था। साक्ष्य निस्संदेह यह सिद्ध करते हैं कि वीर शैव और सिद्धार्स (Sidhars) इस्लाम से बहुत अधिक प्रभावित थे। अजीज अहमद के अनुसार मुसलमानों में भी मेल-जोल वाले सम्प्रदायों में, धर्म-परिवर्तन के बाद हिन्दू धर्म की बहुत सी बातों को नहीं छोड़ा। इस प्रकार मलकानस जिनमें राजपूत, बनिया और जाट थे जो मुसलमान बने थे, ने बहुत सी हिन्दू धर्म की बातों को अपनाए रखा। उन्होंने हिन्दू धर्म के नामों को अपनाए रखा तथा व्यक्तिगत लाभ के लिए मन्दिर जाते थे और हिन्दुओं की भाँति अभिवादन करते थे। परन्तु वे मस्जिद मे प्रार्थना करते हैं, सुन्नत करने की क्रिया करते हैं और मृतकों को दफनाते हैं। अर्धपरिवर्तित मुसलमानों में गंगा की घाटी में चुरीहारा है, जो कालका माई की पूजा करते हैं। पंजाब में मियाँ हिन्दू देवियों सिपांसी, भगती और लालजी की पूजा करते हैं। मिरासी उत्तर भारत के संगीतकारों का सम्प्रदाय है जो दुर्गा भवानी की पूजा करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में बहाबी आन्दोलन से पहले बंगाल के कुछ मुसलमान कृष्ण और दुर्गा की पूजा करते थे। एक मेल-जोल वाले सम्प्रदाय की महाराष्ट्र में नींव डालने वाला एक मुसलमान शेख मुहम्मद था जिसके अनुयायी मक्का और पंढरपुर में से किसी एक की यात्रा के लिए जा सकते थे। राजपूताना के परिवर्तित खानजादा मुसलमान हिन्दुओं के किसी भी कार्यक्रम अथवा त्यौहार में भाग नहीं लेते थे परन्तु ब्राह्मण उनकी शादी की क्रियाओं को करते रहे। पंजाब के मियाँ अब भी हिन्दू-धर्म की बहुत सी बातों को अपनाये हुए हैं जैसे लड़कियों

को उत्तराधिकार के अधिकार की आज्ञा नहीं है और वंश-परम्परा तथा संगोत्र के कानून के सन्निकट है ।

बहुत से मुस्लिम सम्प्रदाय जो भारत से बाहर विकसित हुए उनमें हिन्दू धर्म के बहुत से तत्व मिलते हैं । राहतसीक (Rahatsek) ने नौ सम्प्रदायों की गिनती की है जो अवतारवाद के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं । घुलुयाह (Ghuluyah) के सिद्धान्त हिन्दू धर्म से मिलते हैं । इसी प्रकार कमालियाह (Kamaliyah) के सिद्धान्त भी हिन्दू धर्म के सन्निकट हैं । इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय अली इलाहीया (Ali Ilahiya) है जिसने अली को अवतार के स्तर तक उठाया । यह शियाओं का उग्रवादी सम्प्रदाय है । इसके अनुयायी गिलगित, बालतीसतान और प्राचीन हैदराबाद शहर में पाये जाते हैं । एक दूसरा शिया सम्प्रदाय नौसायरियाह (Nausayriyah) है जिसका प्रारम्भ 891 ई० में हुआ था । यह आत्मा के आने-जाने में विश्वास करता है और आदम के अनेक अवतार के रूप में विश्वास करता है । सीरिया के डरज (Druzes) फातीमीद अल-हकीम (Fatimid Al-Hakim) (996-1021 ई०) को एक दैवी अवतार के रूप में पूजते थे । बाबइज्म (Babism) में भी अवतारवाद के सिद्धान्त मिलते हैं ।

राहतसीक के अनुसार इस्लामी सम्प्रदाय की खोजा (Khoja) शाखा ने हिन्दुओं से सीधे सिद्धान्त लिए हैं । बारहवीं शताब्दी में इस्लामी सम्प्रदाय के नेता रसीद अलदीन ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर जोर दिया । इसने खोजा के लिए रास्ता तैयार किया, धर्म-परिवर्तन से पहले लोहाना राजपूत थे । उनके नेता सदर अल-दीन आदम और अली को विष्णु का अवतार मानते थे और मुहम्मद को महेश का दूसरा नाम बताया । लोहाना जो पहले शक्ति सम्प्रदाय में विश्वास करते थे, इस्लाम में परिवर्तन के पश्चात् भी अपनी बहुत सी क्रियाओं में विश्वास करते रहे । खोजा जो भारत के पश्चिमी तट के शहरों में पाये जाते हैं और एक धनी सम्प्रदाय है, वे इमाम अल-दीन (1521 ई० में मृत्यु) की इमामशाही को मानते हैं और आगा खां में कोई विश्वास नहीं करते परन्तु अपने को मोमिन अथवा सत्यपंथी कहते हैं और यह कबीर पंथियों के समान है । यह बहुत-सी हिन्दू क्रियाओं को मानते हैं और उनका नेता हिन्दू था जो काका (Kaka) कहा जाता है । पश्चिमी तट पर मुसलमानों का ही एक अन्य सम्पन्न समुदाय बोहरा (Bohras) हैं जिन्होंने अपने बहुत से हिन्दू रीति-रिवाजों को अपनाए रखा जैसे उत्तराधिकार का हिन्दू नियम और रुपया उधार देने पर ब्याज वसूल करना, नये वर्ष के दिन व्यापार के खाते में दिवाली को मनाना ।

मुसलमानों में मेलजोल वाला एक दूसरा सम्प्रदाय बी-शार (Bi-Shar)

सूफीमत का है। ये पागलपन की क्रियाओं द्वारा साधारण व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार मूसा सुहाग (Musa Suhag), जो गुजरात का एक सूफी था, स्त्रियों की भाँति कपड़े और चूड़ियां पहनता था, हजरती, गोबराई और पागलपनायी सम्प्रदायों की स्थापना बंगाल में सूफियों द्वारा की गयी थी। उन्होंने शक्ति-पूजा के बहुत से तत्वों को अपनाए रखा। उनके बहुत से हिन्दू अनुयायी भी थे।

भारत में बी-शार सम्प्रदाय में सबसे प्रमुख मदरिस था जिसकी स्थापना वदी अल-जमान शाह ने की थी। वह सीरिया का यहूदी था। पन्द्रहवी शताब्दी में भारत आया था। उसके अनुयायी यह विश्वास करते थे कि उसे मदीना में मुहम्मद साहब का आध्यात्मिक आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। जौनपुर के शासक इब्राहीम शर्की उसका वहुत सम्मान करते थे। मदारियों ने योगियो की बहुत सी क्रियाओं को अपना लिया। वे दूसरे मलामीस (Malamis) की भाँति नंगे रहते थे, योगियों की भाँति अपने शरीर पर राख मलते थे, अपने सिर के बाल लम्बे रखते थे, अपने शरीर को जंजीरों से पीटते थे और उनमें से अधिकतर माँस नहीं खाते थे। योगियों की भाँति उन्हें भाँग खाने की आदत थी। उनको रहस्यवादी आवाज दम मदर (Dam Madar) थी। मुहसीन फानी स्पष्ट रूप से बताते हैं कि वे हिन्दू थे और उन्होंने बीर-शार सूफीमत अपना लिया था तथा वे शाह मदर को इस्लाम के पैगम्बर से बड़ा समझते थे। मुसलमानों से बचने के लिए वे गुप्त भाषा का प्रयोग करते थे और उनकी मुसलमानों से कोई भी बात सामान्य नहीं थी; न वे उपवास के विषय में जानते थे और न प्रार्थना के विषय में। मदारियों में एक मलंग (Malangs) थे जो हिन्दू गोसाइयों (Gosain) की भाँति रहते थे। एक उप सम्प्रदाय खिरकापुस मदारी था, जो सूफियों की भाँति खिरका पहनते थे। मदारियों की एक अन्य किस्म जलालीस थी, जो नशीले पदार्थों का प्रयोग करते थे; साँप और बिच्छू खाते थे और उनका नेता अपने सम्प्रदाय की किसी भी स्त्री के साथ सहभोग कर सकता था, जिसे वह चाहता था, यह बात शायद उन्होंने शक्ति सम्प्रदाय से ली थी।

जन-विश्वासों में मेल-जोल

भारत में हिन्दू ब्रह्मवाद का बहुत अधिक प्रभाव था। विशेष रूप से समाज के निम्न वर्ग में और यह प्रभाव शादी द्वारा अथवा रखेल स्त्रियों द्वारा था। मुसलमानों का दस्तकार वर्ग और निम्न आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति हिन्दू-धर्म से परिवर्तित व्यक्ति थे। उन्होंने धर्म-परिवर्तन के पश्चात् भी बहुत से अंध-विश्वासों को नहीं छोड़ा था। ग्रामों में जहाँ मुस्लिम जागरूक जन नहीं पहुँचा था, पुराने धार्मिक अंधविश्वास बने रहे। बंगाल में बहाबी आन्दोलन के पूर्व

उन्नीसवीं शताब्दी के अर्ध समय में वे हिन्दुओं की दुर्गा पूजा में सम्मिलित होते थे, शादी के शुभ दिन के लिए ब्राह्मणों की सलाह लेते थे। उनमें से कुछ शीतला देवी की पूजा में हिन्दुओं के साथ सम्मिलित होते थे, जो हिन्दुओं की चेचक की जनदेवी थी; इस शताब्दी के प्रारम्भ तक राजशाही जिले में उनमें से कुछ हिन्दू देवी मनसा (Mansa) की प्रशंसा में भाषण गान करते थे, जबकि मुस्लिम गीतकारों द्वारा शिव और पार्वती की प्रशंसा में गीत बनाये गये। बंगाल के दूसरे क्षेत्रों में धन की देवी लक्ष्मी की प्रशंसा में मुस्लिम पद गाते थे। जाफर शरीफ के 1830 ई० के लेखों द्वारा पता चलता है कि दक्षिण भारत में मुसलमान, जो कि अधिकतर हिन्दू परिवर्तित थे, भूत, प्रेतों, परियों और नरसिंह (विष्णु का सिंह वाला अवतार), तथा माता देवी में विश्वास करते थे।

गाँवों में और कस्बों में मुस्लिम स्त्रियाँ हिन्दू मेलों में भाग लेती थीं और इसके विपरीत हिन्दू स्त्रियाँ मुस्लिम मेलों में भाग लेती थीं। स्त्रियों के प्रभाव के कारण मंगनी (सगाई) की रस्म, जो स्वयं में एक हिन्दू शब्द है और शादी के रीति-रिवाज मुस्लिम समाज में चली गई जिसमें दूल्हा और दुल्हन के लिए हल्दी मलना, खुशी के गीत तथा सुहाग के गीत शामिल हैं। गर्भवती स्त्रियों के लिए बहुत से निषेध हिन्दुओं से लिए गये जैसे चन्द्रग्रहण के समय व्रत रखना, नये कपड़ों के पहनने का निषेध और बुरी नजर को रोकने के लिए काला टीका माथे पर लगाना। साल गिरह की रस्म हिन्दुओं की जन्म गाँठ से ली गयी है। दूसरी रस्म विधवा द्वारा चूड़ी तोड़ने की हिन्दुओं से ली गयी जो एक दुःख प्रकट करने का चिह्न है। कुछ मुसलमान अली और फातिमा की शादी के सम्बन्ध को कृष्ण और राधा के सम्बन्ध के तुल्य मानते हैं।

प्रो० जे० एन० टण्डन के अनुसार इस्लाम का प्रभाव भारतीय धार्मिक विचारों पर पड़ा और उसके कारण भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ जिसने ईश्वर की एकता पर बल दिया। इस आन्दोलन के विषय में एक आधुनिक विद्वान ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये है "राम और रहीम, काबा और कैलाश, कुरान और पुराण में कोई अन्तर नहीं माना और न बनाया। इनके अनुसार कर्म ही धर्म है।"[57]

के० एम० अशरफ ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता का वर्णन एक स्थान पर इस प्रकार किया है "हिन्दुस्तान अन्य कृषि प्रधान देशों के समान गहरी जड़ वाले रीति-रिवाजों और परम्पराओं की भूमि है; चाहे मुस्लिम सुल्तान और इसके अमीर हिन्दुओं के काल्पनिक कानूनों और भद्दे रिवाजों की हँसी उड़ाएँ या उनकी वीभत्सता को देखकर उनमें सुधार करने का प्रयत्न भी करें किन्तु वे सार्वजनिक रूप से हिन्दू आचार-व्यवहारों की हँसी नहीं उड़ा सकते थे; उनके स्थान पर दूसरे नियमादि लागू करने की बात तो दूर रही। वास्तव में मूर्ति-

भंजक मुसलमान शीघ्र ही हिन्दू धर्म और भारतीय रीति-रिवाजों की इतनी प्रशंसा करना और उन्हें आत्मसात करना सीख गये कि मुस्लिम आक्रमणकारी पुण्यात्मा तैमूर ने दिल्ली की मुस्लिम सल्तनत पर आक्रमण करने के लिए इसका ही बहाना लिया।"[58]

भारत में मुसलमानों ने मानवतावादी विचारों का प्रचार प्रारम्भ किया। इसी आधार पर हिंदू और मुसलमानों के बीच व्याप्त खाई कम हो गई और एकता स्थापित होनी प्रारम्भ हो गई। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में शेख निजामुद्दीन औलिया ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया, "प्यार में कोई परामर्श नहीं।"[59]

एस० आर० शर्मा के अनुसार "हिन्दू-धर्म, हिन्दू-कला, हिन्दू-साहित्य तथा हिन्दू-विज्ञान ने ही इस्लामी तत्त्वों को आत्मसात नहीं किया बल्कि हिन्दू-संस्कृति की आत्मा तथा हिन्दू मस्तिष्क के मूल तत्व में ही परिवर्तन हो गया और दूसरी ओर मुसलमानों ने जीवन के सभी क्षेत्रों में हिन्दुओं का प्रभाव स्वीकार कर लिया।"[60]

अन्त में मुझे गुरु नानक देवजी के ही शब्द याद आते हैं। उन्होंने प्रचार किया था कि "न कोई हिन्दू न कोई मुसलमान" अर्थात् मानव-मानव के बीच धर्म के आधार पर कोई भेद नहीं है। मैं उनके शब्दों से पूर्ण रूप से सहमत हूं और साथ ही मैं यह भी लिखना चाहूंगा कि अगर कोई भारत में रहने वाला व्यक्ति सल्तनत काल की समाप्ति के समय यह सिद्ध भी करना चाहता कि वह शुद्ध हिन्दू है अथवा शुद्ध मुसलमान, तो वह ऐसा नहीं कर सकता था, क्योंकि दोनों धर्म के मानने वालों में आपस में लगभग प्रत्येक क्षेत्र में समरूपता स्थापित हो चुकी थी और सब पूर्ण रूप से भारतीय संस्कृति के मूल विचार "वसुधैव कुटुम्बकम" की भावना को अपनाए हुए थे तथा सच्चे मुसलमान 'धर्म परिवर्तन में कोई जबरदस्ती नहीं' पैगम्बर मुहम्मद का संदेश छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे।

संदर्भ

1. म० म० प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी: प्रकाशन—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना-4 वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति पृ० 226, एवं डा० मीर वलीउद्दीदीन : कुरानिक सूफीइज्म पृ० 21, एवं वी० डी० महाजन, एन्शिएन्ट इण्डिया पृ० 71, 83, 92, एवं एम० ए० करनदीकर, इस्लाम-इण्डियाज टांजीसन टू माडर्नइटी पृ० 91।
2. हरीश चन्द वर्मा, मध्यकालीन भारत पृ० 135
3. मो० हबीब, दिल्ली सल्तनत पृ० 3-5
4. एम० मुजीब, दी इण्डियन मुस्लिम्स पृ० 1-19
5. डा० मुरे, इण्डियन इस्लाम पृ० 131-43।

6. के० एम० अशरफ, हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां पृ० 250, 51
7. वही पृ० 200
8. खलील अहमद निजामी, सम आसपेक्टस आफ रीलिजन एण्ड पालिटिक्स इन इण्डिया ड्युरिंग दी थरटीन सेन्चयूरी पृ० 81
9. के० एम० अशरफ, हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां पृ० 249-50
10. वही पृ० 250
11. वही, पृ० 289, 90
12. वही, पृ० 286
13. वही पृ० 178, 79
14. वही, पृ० 31
15. वही पृ० 32
16 वही पृ० 37
17. वही पृ० 55-57
18. वही पृ० 61
19. एम० मुजीब, दि इण्डियन मुस्लिम्स पृ० 230
20. संस्कृत साहित्य की इस्लाम-परम्परा का योगदान पृ० 222-24।
21. के० एम० अशरफ, हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां पृ० 75
22. वही, पृ० 80
23. वही पृ० 123-25
24. वही पृ० 80-81
25. वही, पृ० 89
26. वही, पृ० 279
27. वही पृ० 105, 6 एवं डा० मुरे इण्डियान इस्लाम पृ० 113
28. वही पृ० 111, 12, 16 एवं पृ० 168-71
29. एम० मुजीब, दी इण्डियन मुस्लिम्स पृ० 212
30. के० एम० अशरफ-हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां पृ० 169
31. वही, पृ० 181, 82
32. वही, पृ० 183, 84
33. एम० मुजीव, दी इण्डियन मुस्लिम्स पृ० 208
34. के० एम० अशरफ, हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां पृ० 227
35. एम० मुजीब-दी इण्डियन मुस्लिम्स पृ० 221
36. के० एम० अशरफ, हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां पृ० 227
37. एम० मुजीब, दी इण्डियन मुस्लिम पृ० 221
38. के० एम० अशरफ-हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां पृ० 230, 31, 43

39. वही, पृ० 282
40. वही, पृ० 283
41. वही, पृ० 284
42. एम० मुजीब, दी इण्डियन मुस्लिम्स पृ० 212।
43. वही, पृ० 221
44. वही, पृ० 208
54. वही, पृ० 223
46. डा० कमरुद्दीन, मैरिज कस्टम्स अमंग मुस्लिम्स आफ वेस्टर्न यू० पी० विलेजिज पृ० 207-21 एवं डा० मुरे इण्यिन इस्लाम पृ० 70
47. डा० मुरे, इण्डियन इस्लाम पृ० 70
48. म० म० प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : प्रकाशन—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना-4 वैदिक विज्ञान और भारतीय साहित्य पृ० 213
49. खलील अहमद निजामी, स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन दी इण्डियन इन्वायरमेंट पृ० 108-12
50. डा० कमरुद्दीन, दी हिन्दुस्तान टाइम्स दिनांक अक्टूबर 8 सन् 1985
51. खलील अहमद निजामी, स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन दी इण्डियन इन्वायरमेंट पृ० 101, 2
52. डा० मुरे-इण्डियन इस्लाम पृ० 154 एवं संस्कृत साहित्य को इस्लाम परम्परा का योगदान पृ० 218-20
53. डा० ताराचन्द्र, इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर पृ० 136, 37, 39, 41
54. के० एम० अशरफ, हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां पृ० 96, 97
55. एम० मुजीब, दी इण्डियन मुस्लिम्स पृ० 230, 33, 34
56. डा० मुरे, इण्डियन इस्लाम पृ० 163-65, 172-75
57. खलील अहमद निजामी, स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन दी इण्डियन इन्वायरमेंट पृ० 155-65, एवं डा० ताराचन्द : दी इन्फलंस आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर पृ० 116-20, 28, 29, एवं प्रो० जे०एम० टंडन : एन इम्पोरियम आन इंगलिश एसेज पृ० 39
58. के० एम० अशरफ, हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां पृ० 40
59. प्रो० एम० मुजीब, दी इण्डियन मुस्लिम्स पृ० 135
60. एस० आर० शर्मा, भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 211

हिन्दी भाषा में प्रकाशित संदर्भ ग्रन्थ

1. पं० जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी (संक्षिप्त) सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई-दिल्ली 1977 ई० ।
2. डा० ईश्वरी प्रसाद : मध्यकालीन भारत का संक्षिप्त इतिहास (1200-1761 ई०) प्रकाशक : इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग— संस्करण 1976 ई० ।
3. मो० हबीब, श्री खलीक अहमद निजामी, दिल्ली सल्तनत (1206-1526) मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास पुनर्मुद्रण-1982 ई० ।
4. मो० हबीब, श्री खलीक अहमद निजामी, दिल्ली सल्तनत-हिन्दी संस्करण-1978, ई० मैक्मिलन इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास ।
5. संपादक श्री हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत (750-1540 ई०) हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालयन, दिल्ली विश्वविद्यालय प्रथम संस्करण-1983 ई० ।
6. श्री के०एम० अशरफ-हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां; वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार ।
7. श्री श्रीनेत्र पाण्डे : भारत का वृहत इतिहास, द्वितीय भाग (1) स्टुडैन्ट्स फ्रेन्ड्स इलाहाबाद, बनारस सं० 1955 ई० ।
8. श्री रतिभानुसिंह नाहर-पूर्व मध्यकालीन भारत (बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक), किताब महल, इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली-स० 1958 ई० ।
9. श्री बी० एन० लुनिया-पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास-मानकचन्द बुक डिपो, उज्जैन, इंदौर-प्रथम संस्करण ।
10. डा० कमरुद्दीन : कबीरदास ।
11. उर्वशी सूरती : कबीर : जीवन और दर्शन, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1980 ई० ।

12. प्रो० एहतेशाम हुसैन—उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-लोक भारती प्रकाशन, 15, ए, महात्मा गांधी मार्ग-इलाहाबाद-1,
13. डा० जयराम मिश्र—गुरु नानक देव—जीवन और दर्शन, लोक भारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण,
14. श्री इलियट एवं डाउसन—भारत का इतिहास, चतुर्थ खण्ड, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा-3, प्रथम संस्करण,
15. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, 22 जनवरी,
16. डा० मथुरा लाल द्वारा अनुदित-तुज्क-इ-बाबरी,
17. म० म० प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी—वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, प्रकाशक-बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना-4
18. बरार के सूफी शायर : डा० नत्थू लाल गुप्त, प्रकाशक—चेतना प्रकाशन C/o श्रीमती शोभा गुप्ता, नई शुक्रवारी, शिर्के रोड, नागपुर-2,

19. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास : मूल लेखक—एस० आर० शर्मा अनुवादक—सत्यनारायण दुबे, प्रकाशक—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा तृतीय संस्करण,
20. संस्कृत साहित्य को इस्लाम परम्परा को योगदान : स० राधावल्लभ त्रिपाठी प्रकाशक—संस्कृत परिषद्, डा० हरीसिंह—गौर (सागर) विश्वविद्यालय, सागर प्रथम संस्करण,
21. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : प्रथम खण्ड (आदि काल से आधुनिक काल पूर्व तक)। डा० गणपति चन्द्र गुप्त लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद
22. मुसलमान और भारतीय संगीत : आचार्य बृहस्पति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पटना।
23. आज का भारतीय साहित्य : वि०कृ० गोकाक, खुशवन्तसिंह, काजी अब्दुल वदूद, मंगेश विट्ठल राजाध्यक्ष, श्री कुंजन राजा वे० राघवन, सच्चिदानन्द, वात्स्यायन, के आर० श्रीनिवास साहित्य अकादमी की ओर से, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित चतुर्थ संस्करण,
24. भारतीय वाङ्मय : सम्पादक मण्डल, श्री अनन्त शयनम् अयंगर, प्रो० निर्मल कुमार सिद्धांत, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' श्री ख्वाजा गुलामुस्सैयदेन, सम्पादक—डा० नगेन्द्र, प्रकाशक साहित्य सदन, चिरगांव (झांसी) प्रथमावृत्ति, 2015 विक्रमी।
25. बंगला साहित्य का इतिहास : कल्याणी दास गुप्ता, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, 69, नया बैरहना, इलाहाबाद। प्रथम संस्कारण,

26. भारतीय भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : सम्पादन—डा० गोपाल शर्मा, श्रीमती तारा तिक्कू, श्री जगदीश चतुर्वेदी, प्रकाशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली,
27. उर्दू—अरब-हिन्द के ताल्लुकात, लेखक, मौलाना सैय्याद सुलेमान नदवी, दरमतवा मारिफ आजमगढ़, तबागर दीदा, तवाजदीद ।

अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Sh. M. Mujeeb-The Indian Muslims, George Allan & Unwin Ltd., Rushin House, Museum Street-II Calcutta
2. Khaliq Ahmad Nizami-Some aspects of Religion and politics in India during the thirteen Century, Idarah, Delhi,
3. Dr. Tara Chand—Influence of Islam on Indian Culture—The Indian Press Ltd, Allahabad, 1946.
4. Shri Wolseley Haig – The Cambridge History of India : S. Chand & Co., Delhi, New Delhi, Jullunder, Lucknow, Bombay.
5. Khaliq Ahmed Nizami— Studies in Medieval Indian History and Culture – Kitab Mehal Pvt. Ltd. Allahabad.
6. Shri A. B. M. Habibullah—The Foundation of Muslim Rule in India, Central Book Depot, Allahabad,
7. Al-Beruni—India,
8. Shri V, D, Mahajan—Ancient India, S Chand & Co, Delhi, 1960,
9. Dr. Qamar-uddin— Marriage Customs Among Muslims of Western U. P. Villages, Indian Journal of Social Work, Bambay, Vol DXXXIII, No, 3, Oct., '72, Pages-204 to 16
10. Dr. Qamar-uddin—Kabir as Depicted in the Persian Sufistic and Historical Works, Islam & the Modern Age New Delhi, Vol III No- 1, January,
11. Dr. Qamar-uddin, Baba Farid—The Harbinger of Hindu-Muslim Unity Baba Shaikh Farid Commemorative Volume, Punjabi University, Patiala,

12. Dr. Qamar-uddin— Muslim in Village India, The Hindustan Times,
13. Dr. Qamar-Uddin —Amir Khusrau Aur Hindustani Muashrati, Aqdarai-Zaban-o-Adab, Patna, Vol' II, No, 2', Pages-60 to 66.
14. Shri Aziz Ahmed—Studies in Islamic Culture in the Indian Enviornment — Clarendon Press, Oxford
15. Dr. Murry T. —Titus Indian Islam, Orignally – Published by Oxford University Press in 1930
16. Shri Johan A Subhan — Suffism — Its Saints and Shrines — Samuel Weise Inc 734 Broadway, New Yark
17. Dr Mir Valiuddin– The Quarnic Suffism, Published by— Motilal Banarsi Dass Delhi Varanasi, Patna in 1959
18. Shri M. A. Karandikar —Islam —India's Transition to Modernity — Orient Languages Ltd.,
19. Prof. J. N. Tandon, An Emporium of English Essayss, Rattan Prakashan Mandir, Agra, Jaipur-1960
20. Rafiq Zakaria, Razia : Queen of India, Popular Prakashan, 35-C Tardeo Road, Bombay-34,
21. Sir Mohammad Iqbal-The Reconrtruction of Religious Thought in Islam : Published by orient publisher and Distributor Pataudi House, Daryaganj.

परिशिष्ट

परिभाषाएं

अकीकाह— पहली बार बच्चे के बाल उतरवाने को मुसलमान अकीकाह कहते हैं जो जन्म के सातवें दिन किया जाता है।

अक्ता— इसका अनुवाद प्रायः भूल से जागीर किया जाता है किन्तु अक्ता वह भूमि कहलाती है जिसकी आय सेना के सरदारों को सेना रखने तथा उसका उचित प्रबन्ध करने के लिए दी जाती थी। सेना में कार्य करने के योग्य न होने पर यह भूमि अक्तादारों से वापिस ले ली जाती थी और दूसरों को दे दी जाती थी।

अमीर— सरखेलों तथा सिपहासालारों का अफसर अमीर कहलाता था।

अमीर दाद— सुल्तान की अनुपस्थिति में दीवाने मजलिस का अध्यक्ष और एक बहुत बड़ा अधिकारी। यह दादबक भी कहलाता था।

आमिल —साधारण ग्रामों में भूमि कर वसूल करने वाला पदाधिकारी।

आरिजेम-मालिक - यह दीवाने अर्ज (सैन्य विभाग) का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। इसके सहायक नायब अर्जे ममालिक अथवा नायब आरिज कहलाते थे।

अमीराने सदह अथवा सदा— सौ सैनिकों का अधिकारी।

अजीमुस्सिधं —लेखा विशेषज्ञ की उपाधि।

अपभ्रंश— बिगड़े हुए अक्षर।

काजी — न्यायाधीश, जो मुकदमों का निर्णय शरा के अनुसार करते थे।

कारकून—भूमि-कर का हिसाब-किताब रखने वाला।

कुफ्र—अल्लाह और मुहम्मद साहब पर विश्वास न रखना।

कोतवाल— यह नगर की देखभाल करने वाला अधिकारी होता था। रात के समय उसके सैनिक नागरिकों की सुरक्षा के लिए पहरा देते थे, नगर की सुरक्षा का सम्पूर्ण भार इसी पर था। किलों के अधिकारी भी कोतवाल कहलाते थे।

खलीफा—मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी खलीफा कहलाते थे। उमैया तथा अब्बासी वंश के सम्राट भी खलीफा कहे जाते थे।
खान—सरखेलों, सिपहसालारों, अमीरों तथा मलिकों का अफसर खान कहलाता था।
खानकाह—वह स्थान जहाँ सूफी-संत रहते थे।
खिराज—गैर मुसलमानों पर लगाया गया भू-राजस्व।
खिलअत—वह वस्त्र जो सुल्तानों की ओर से इनाम में दिया जाता था।
खुत्बा—उस व्याख्यान को कहते हैं जो दोनों ईदों तथा जुमे की नमाज के समय पढ़ा जाता था। इसमें खुदा की स्तुति तथा मुहम्मद साहब की प्रशंसा के उपरान्त समकालीन बादशाह का वर्णन होता था।
ख्वाजा—सुल्तान के वजीर की सिफारिश से नियुक्त किया जाने वाला एक अधिकारी जो हिसाब-किताब के काम में प्रवीण होता था। प्रत्येक अक्ता में एक ख्वाजा रखा जाता था। मुक्ता के अधीन होने पर भी सुल्तान द्वारा नियुक्त होने के कारण उसे विशेष अधिकार प्राप्त होते थे। इसे साहिबे दीवान भी कहा जाता था।
खिताब—विशिष्ट नाम या उपाधि देना।
चिल्ला-ए-मपकूस—व्रत रखकर रहस्यवादी क्रियाओं को करना।
चौधरी—परगना का मुख्य अफसर
जकात—एक प्रकार का कर, जो मुसलमानों को अपनी धन-सम्पत्ति पर देना पड़ता था। यह कर मुसलमानी राज्य में भी केवल मुसलमानों से लिया जाता था। जिन वस्तुओं पर जकात लगता था उसमें सोना, चाँदी, पशु तथा व्यापार आदि प्रमुख थे।
जजिया—एक प्रकार का कर जिसे गैर मुसलमानों (जिम्मियों) से वसूल किया जाता था। ये लोग अनिवार्य सैनिक-सेवा से मुक्त होते थे।
जिम्मी—किसी देश पर विजयोपरांत भी जो प्रजा इस्लाम स्वीकार न करती थी और जजिया देना स्वीकार कर लेती थी, जिम्मी कहलाती थी।
ज़बाने-हिन्दुस्तान—हिन्दुस्तान की भाषा।
टकसाल—सिक्के बनाने का कारखाना।
डोली—बन्द पालकी।
तनज्जुलियात—यह सूफी सिद्धांत है इसमें बताया गया है कि अल्लाह सबके कार्यों का निरीक्षण करने वाला है।
तौहीद—यह सूफी-सिद्धांत है, जो ईश्वर की एकता के विषय में ज्ञान कराता है।
ताजिए—करबला के शहीदों के प्रतिरूप मकबरा।
तौबा—पश्चाताप।

दुआ—खुदा से किसी के लिए प्रार्थना करना।
दुभाषिया—दो भाषाओं का रूपान्तर करने वाला।
धूनी—दरगाह पर रात-दिन आग जलाने की क्रिया को धूनी कहते हैं।
धरोहर—अमानत
नायक-बारबक—दरबार के समस्त कार्यों का प्रबन्ध करने वाले कर्मचारियों का अफसर बारबक कहलाता था। अमीरों तथा अधिकारियों के खड़े होने तथा दरबार के शोभा-कार्य का प्रबन्ध उसी का कर्त्तव्य होता था। उसके सहायक नायक बारबक कहलाते थे।
नायब—नायब का अर्थ "उप" होता है। सुल्तान राजधानी छोड़ने से पूर्व अपना नायब नियुक्त कर दिया करते थे।
नजर—खिदमती, भेंट।
निसार—दान देना।
निफक—ढोंग।
नायबे गीयत—शासक की अनुपस्थिति में प्रतिशासक।
नास्तिक—जो ईश्वर में विश्वास नही करता।
निमन्त्रण—आमन्त्रित करना।
निर्गुण—गुण-रहित, गति-रहित।
नियाज—मृत्यु के बाद की क्रिया।
परामर्श—सलाह।
पाण्डुलिपि—हस्तलिखित।
प्रतिबिम्ब—रूप, छाया।
पलायन—भाग जाना।
पार्श्व—पिछला अंग।
प्रतिशोध—बदला।
परिर्वातत परिवर्तन किया हुआ/बदला हुआ
पायक—पैदल सैनिक।
फतवा किसी समस्या का शरा के अनुसार निर्णय। मुफ्ती का मत।
फना—मोक्ष।
बीड़ा भेंट करना—पान भेंट करके दो व्यक्तियों को आपस में मित्र बनाना।
बिसमिल्लाह—बच्चे द्वारा सीखे जाने वाले पहले अध्याय को बिसमिल्लाह कहा जाता है। यह क्रिया मुसलमानों द्वारा बच्चे के जन्म के चार वर्ष, चार माह चार दिन बाद की जाती है।
बैराग—संत अथवा फकीर बन जाना।
मृत्यु-लेख—मृत्यु के समय लिखा जाने वाला लेख।

महत्वाकाक्षां— इच्छा।

बहादुल-बुजदिया — वह विद्या जो अल्लाह अर्थात ईश्वर की एकता का ज्ञान कराती है।

मूर्ति-पूजक — मूर्ति-पूजा करने वाला।

मूर्ति-भंजक— मूर्ति-तोड़ने वाला।

मालिक— सरखेलों, सिपहसालारों तथा अमीरों का अफसर मालिक कहलाता था।

मुहिम— आक्रमण।

मिल्क—इसका अर्थ सम्पत्ति है किन्तु विद्वानों को तथा धार्मिक कार्यों के लिए प्रदान की जाने वाली भूमि ही मिल्क कहलाती थी और यह वंशानुगत होती थी।

मुकद्दम—गांव का मुखिया मुकद्दम कहलाता था।

मुक्ता—बड़ी वक्ता अक्ता के स्वामी मुक्ता कहलाते थे।

मैमार— भवन-निर्माण करने वाले इजिनियरों को मैमार कहा जाता था।

मलिक-नायब—वैयक्तिक प्रतिनिधि।

रीदा—सम्पूर्ण करना।

लतैफ- यह सूफी सिद्धांत है। यह बताता है कि मनुष्य के शरीर में विभिन्न नाड़िया हैं जो मनुष्य नाशवान शरीर के विभिन्न अंगों में छिपी हुई हैं, इन नाड़ियों पर नियंत्रण करने से मनुष्य अज्ञात अवस्था में प्रवेश कर सकता है अथवा रहस्यवादी क्रियाएं कर सकता है।

लौकिक—धर्म-निरपेक्ष।

लश्करगाह— सैनिक केन्द्र।

वकीलदार—शाही महल तथा सुल्तान के विशेष कर्मचारियों का प्रबंध करने वाला सबसे बड़ा अधिकारी।

वक्फ-वह धन सम्पत्ति अथवा भूमि जो धार्मिक कार्यों के लिए सुरक्षित कर दी जाती थी।

वजीर— प्रधानमन्त्री को वजीर कहते थे। राज्य का शासन-प्रबंध तथा वित्त-विभाग उसी के अधीन होता था। उसके सहायक नायबे वजीर कहलाते थे।

शरिअत—मुहम्मद साहब के बताए हुए नियम एवं इस्लामी सिद्धांत इस्लामी शरिअत के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस्लामी नियमों एवं सिद्धांतों के लिए शब्द "शरा" का प्रयोग होता है।

धताधारियों—सौ सैनिकों का नेतृत्व करने वाला।

शुहुदिया— यह सूफी-सिद्धांत मानव-एकता के विषय में बताता है।

शबे-बरात— स्मृति-रात्रि।

शक्र—धन्यवाद।

सुन्नत—मुसलमान बनाने की क्रिया।

सचक—शादी से पहले दुल्हन के पिता द्वारा दूल्हे को उपहार भेजना।

सीयूम—यह एक क्रिया है जिसे मुसलमान मृत्यु के तीसरे दिन करते हैं। जब क्रिया में प्रत्येक भागीदार एक या एक से अधिक कुरान के अध्याय पढ़ता है, जिससे मृत आत्मा को लाभ पहुंचे। कुरान को पढ़ने के बाद गरीबों को भोजन कराया जाता है।

शमा—सूफियों का संगीत तथा नृत्य।

सिपहसालार—दस सरखेलों का अफसर।

सरखेल—दस सवारों का सरदार।

सामनजस्य—मेल-जोल।

हदीस—मुहम्मद साहब के कथनों तथा उनके जीवन से सम्बन्धित कहानियों का संग्रह।

हुलिया—सैनिकों का पूर्ण विवरण।

●●●